अंक 10

ISSN 0975-5217
वर्ष 2014

भैरवी

संगीत शोध पत्रिका

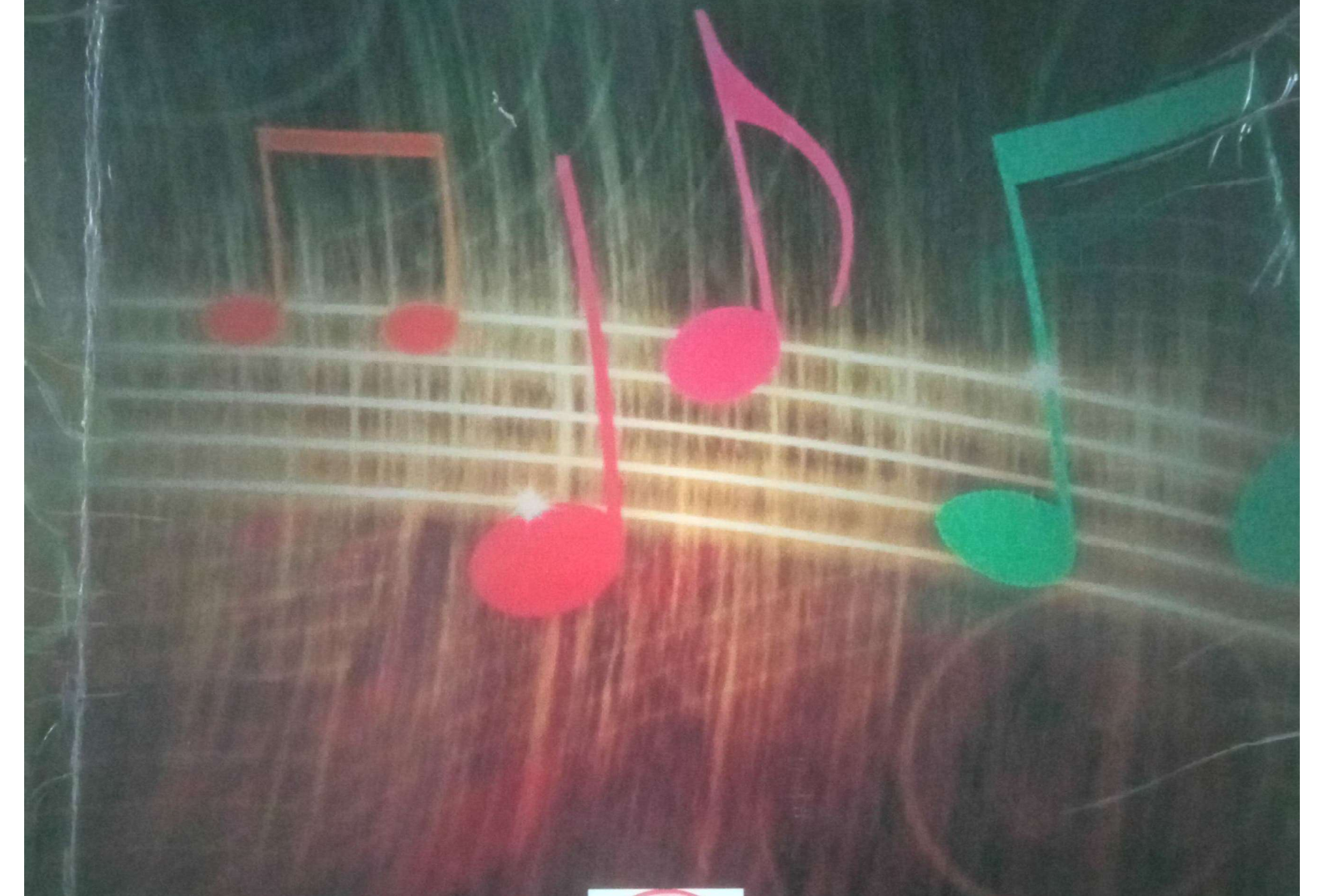

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा
(बिहार)

भैरवी

(संगीत शोध-पत्रिका)

(वर्ष 2014 अंक 10)

मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004

भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)

वर्ष-2014, अंक : 10

प्रधान सम्पादक

डॉ. पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

मूल्य

इस अंक का मूल्य : 200/- रुपये

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 400/- रुपये / त्रैवार्षिक 1200/- रुपये

पंचवार्षिक 2000/- रुपये / आजीवन : 10000/- रुपये

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 450/- रुपये / त्रैवार्षिक 1400/- रुपये

पंचवार्षिक 2300/- रुपये / आजीवन : 12000/- रुपये

(केवल मनी आर्डर / चेक / बैक ड्राफ्ट से)
(दरभंगा से बाहर के चेक में 40 रुपये अधिक जोड़ें)

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
समस्त विवाद दरभंगा न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।

मुद्रक

विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स

1/10753, गली नं. 3 सुभाष पार्क
नवीन शाहदरा, दिल्ली - 110032

प्रधान सम्पादक

डॉ. पुष्पम नारायण

एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

सम्पादक मंडल

प्रो. चमनलाल वर्मा

अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

प्रो. साहित्य कुमार नाहर

पूर्व विभागाध्यक्ष, संगीत एवं मंचकला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. रवि कुमार पंडोले

प्रवक्ता, संगीत विभाग, राजकीय एम.एल.बी.जी. पी.जी. कॉलेज, भोपाल

डॉ. रामशंकर

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे

प्रवक्ता, संगीत विभाग, एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला विभाग, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात

डॉ. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

एसोसिएट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

डॉ. वेद प्रकाश

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

शिवनारायण महतो

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय

कामेश्वरनगर, दरभंगा - 846004 (बिहार)

प्रो० एस० कुशवाहा

कुलपति

दूरभाष : 06272 - 222463 (T-F) - Office
222598 (T-F) - Resd.
222589 (T) - Resd.
मो० : 9546863462
ई-मेल vc@lnmu.in
vc-lnmu-bih@nic.in

पत्रांक .....

दिनांक .....

शुभकामना-संदेश

यह हर्ष का विषय है कि विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग द्वारा ''भैरवी'' संगीत शोध-पत्रिका का दसवाँ अंक प्रकाशित हो रहा है। मेरे लिए यह अत्यन्त आह्लादक होगा कि विभाग द्वारा पत्रिका प्रकाशन के इस क्रम को स्थायी रूप से कायम रखा जाए। मुझे पूर्ण विश्वास है कि ''भैरवी'' की इस प्रकाशित अंक से संगीत एवं नाट्य के छात्रों के लिए अधिक उपादेय सिद्ध होगा। मैं शोध-पत्रिका के सफल प्रकाशन की कामना करता हूँ।

अशेष शुभकामनाओं के साथ।

(साकेत कुशवाहा)

कुलपति

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय

कामेश्वरनगर, दरभंगा-846 004

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हो रही है कि मिथिलांचल की धरती पर विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग द्वारा गठित मिथिलांचल संगीत परिषद् द्वारा निरंतर 'भैरवी' संगीत शोध पत्रिका का प्रकाशन किया जा रहा है। संस्कृति एवं संगीत से समृद्ध मिथिला के लिए यह गौरवपूर्ण है। संगीत के शोध छात्रों के साथ–साथ इस क्षेत्र के भावी पीढ़ी के लिए 'भैरवी' पथ–प्रदर्शक का कार्य करेगी।

मैं इसके सफल प्रकाशन के लिए अपनी हार्दिक शुभकामना प्रेषित करता हूँ।

12.2.15

(डॉ0 के0पी0 सिन्हा)

अध्यक्ष, छात्र–कल्याण

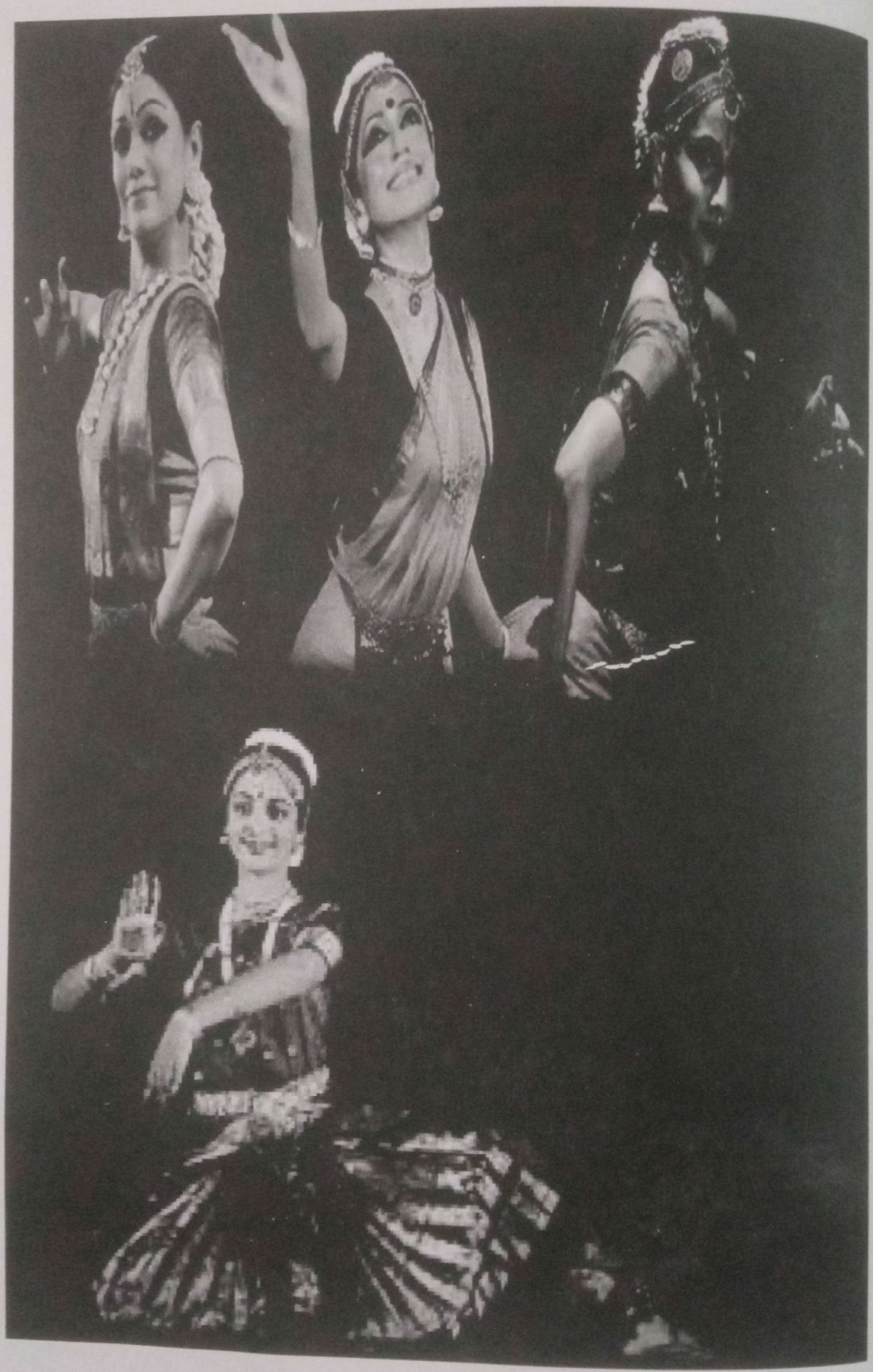

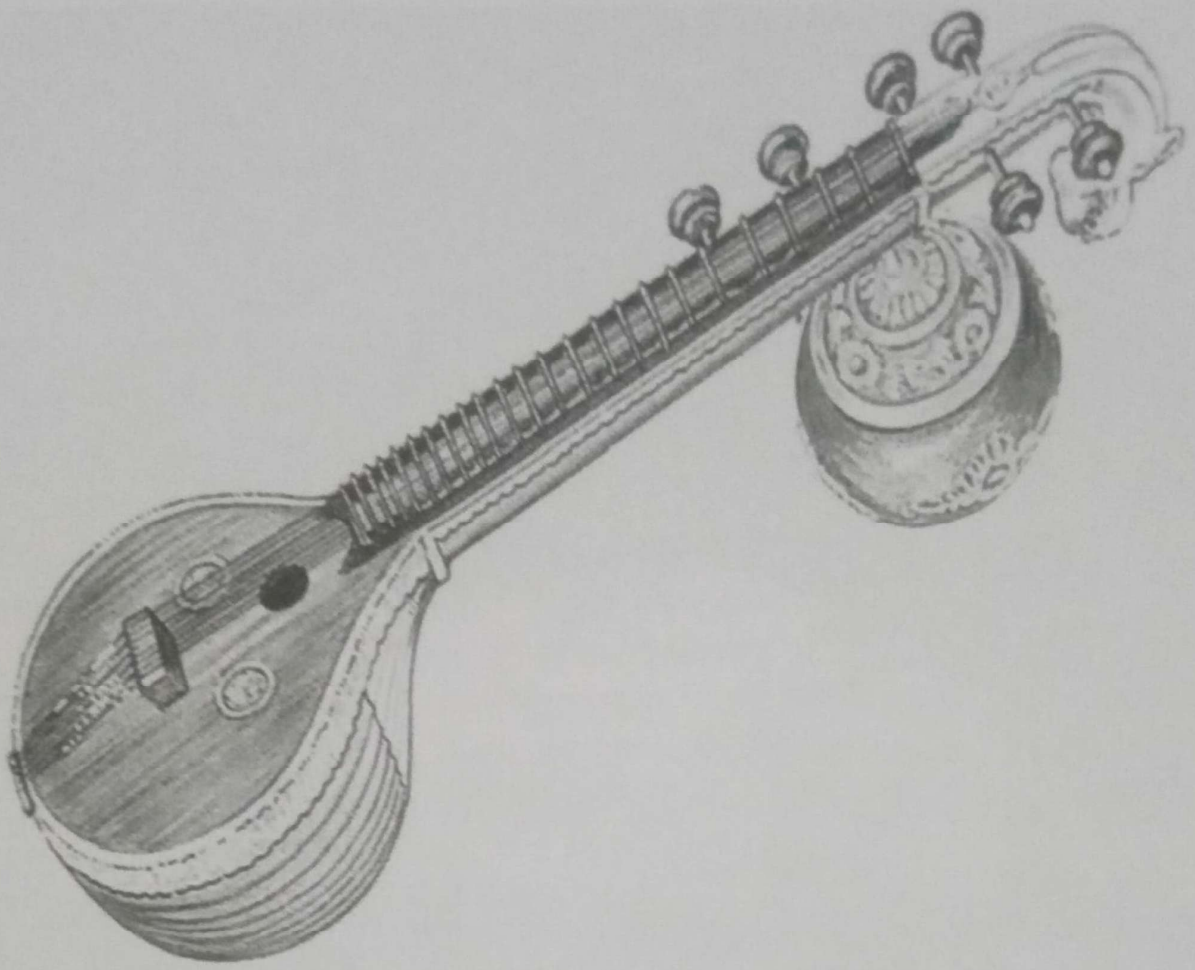

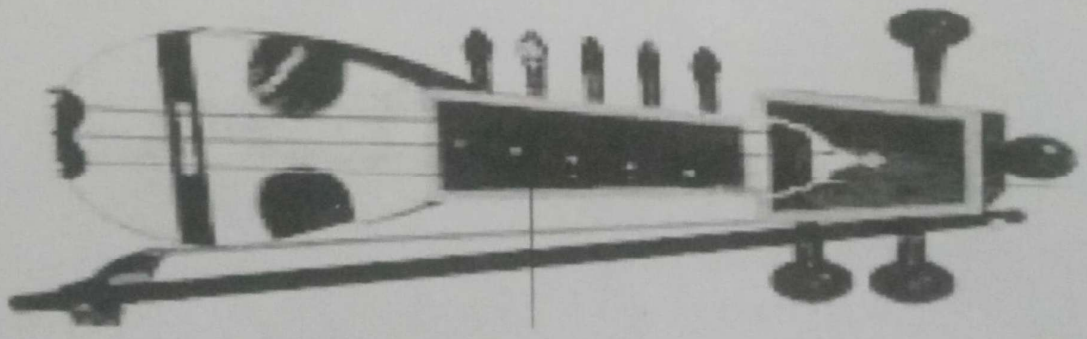

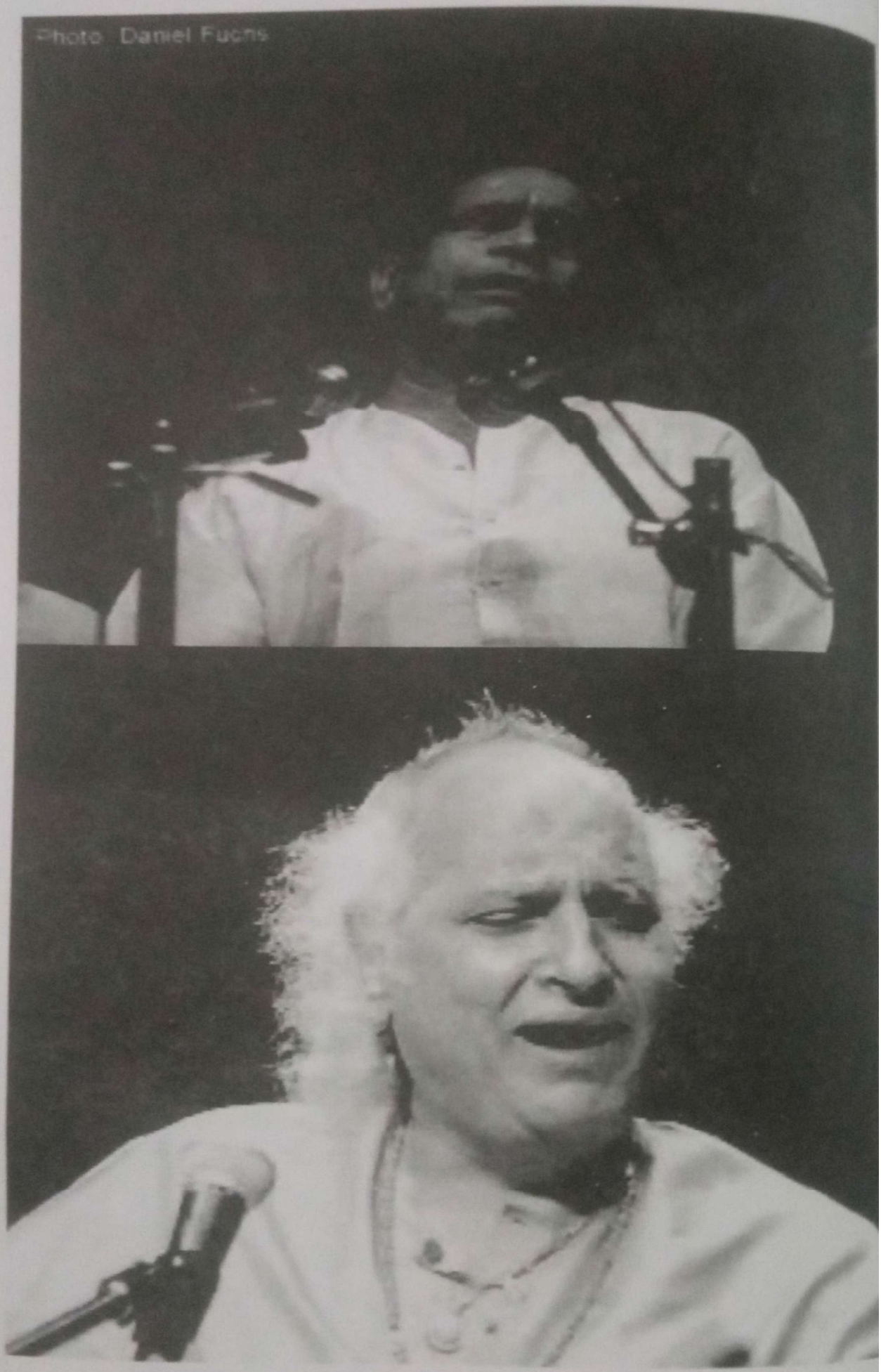
Photo Daniel Fuchs

संपादक की कलम से ....

आधुनिक युग में व्यक्ति ने विज्ञान और तकनीक को बहुत कुछ मान लिया है, जिससे भावनात्मक दूरी, अलगाव और बिखराव रूपी समस्याएँ पैदा हुई हैं। संचार-माध्यमों, तकनीकी यंत्र, संगणनात्मकता, औद्योगिकता और व्यवसायिकता के विकास ने जहां अन्तर्राष्ट्रीयकरण को बढ़ावा दिया है, वहाँ साथ-ही-साथ व्यक्तियों में विस्मृतियां भी पैदा हो रही हैं-मूल संस्कारों के प्रति, परम्पराओं के प्रति, शुद्ध भारतीय दृष्टिकोण के प्रति। भारतीयों में विदेशी संस्कृति का मोहजाल प्रसार माध्यमों (Media) के कारण अत्यधिक बढ़ा है। भारतीय संगीत में विदेशी संगीत का फ्यूजन हो रहा है। भारतीय शास्त्रीय संगीत के सामने एक प्रश्न चुनौती बन गया है, वह है-अस्मिता-रक्षा का।

एक अन्य कारण, विदेशों में पलायन कर चुके भारतीयों का भी है। व्यक्तियों में भौतिक पलायनता के साथ सांस्कृतिक पलायन भी साथ-साथ ही हो जाता है। संस्कारों की मौलिकता कहीं छुप-सी जाती है। व्यक्ति जहां भी रहता है, अपनी भावाभिव्यक्तियां भी छोड़ता है, मनोवेग भी छोड़ता है और दूसरों के मनोवेगों के प्रभाव में भी आता है। संभवतः फ्यूजन म्यूजिक को एक देश से दूसरे देश में पलायन कर सांस्कृतिक पलायन से भी प्रोत्साहन मिला है।

दूरस्थ चीज के प्रति आकर्षण का भाव भी सांगीतिक फ्यूजन का कारण बना है।

The Indian diaspora, which is 20 Million strong and spread across 110 countries is perhaps the most widespread and hetergenous than any other with its half a dozen religions and sub-ethnic identities. With globalization and proliferation of the Internet, the achievements of the Indians aborad, have made the government take notice of the importance of the diaspora to evolve plicies and methods to engage them in similar ways as that of other countries. 'Diaspora nurtured links with their homeland through culture.

संस्कृति से जुड़ने के लिए प्रवासी भारतीयों में भारतीय संगीत तो जन्मजात था ही, परन्तु विदेश में निवास होने से वहां के सांस्कृतिक संगीत के साथ संबंध हो जाना एक स्वाभाविक घटना थी। अतः फ्यूजन म्यूजिक के विकसित होने में मूलभूत कारण प्रवासी भारतीयता का भी है। यांत्रिकी प्रगति ने व्यक्यिों और संस्कृतियों को एक-दूसरे के इतना नजदीक ला खड़ा किया है कि मूलभूत तत्त्व और ग्रहणीय तत्त्व दोनों मिल गए हैं और दोनों चीजों को संश्लिष्टता तक पहुंचा चुके हैं। प्रवासी संस्कृति में दूसरी और तीसरी पीढ़ी के लोगों में मिश्रित प्रवासी भारतीयों ने एक तरफ अपनी संस्कृति को दूसरों तक पहुंचाया है और दूसरा, संस्कृतियों के

मिश्रण से अपनी संस्कृति में भी एक नया आयाम जोड़ा है। फ्यूजन म्यूजिक में भारतीय फिल्म उद्योग इसका उदाहरण है। 1960 तक भारतीय फिल्मी दुनिया को दूसरे बड़े स्थान पर जाना जाने लगा और भारतीय पॉप संगीत फिल्म के द्वारा बढ़ा और अन्तर्राष्ट्रीय पॉप के रूप में विकसित हो गया। इतना होने पर भी हम मूलभूत गुण ढूंढते हुए मौलिकता के लिए भारतीय शास्त्रीय संगीत पर आ जाते हैं। मॉरिशस के कवि विश्वामित्र गंगा आशुतोष के शब्दों में–

No Gold did they found,
underneath any stone,
They touched and turned,
yet,
Every Stone they touched,
into solid Gold they turned.

भारतीय शास्त्रीय संगीत की साधना भारतीयता के भीतर ही की जा सकती है। भारतीय शास्त्रीय संगीत के भीतर छिपी आध्यात्मिकता को अब अभारतीय भी अनुभव करने लगे है। भारतीय शास्त्रीय संगीत के साथ-साथ यह संगीत शोध पत्रिका 'भैरवी' भी आगे आने वाली पीढ़ी को मार्गदर्शन प्रदान करती रहेगी। यथासंभव निर्दोष टंकण का प्रयास किया गया है तथापि सुधी पाठकगण इसे यांत्रिक भूल मानकर क्षमा करेंगे। मैं आशा करती हूँ कि 'भैरवी' का दसवाँ अंक स्वदेशी ही नहीं, बहुदेशी बनकर संगीत प्राध्यापकों, विद्यार्थियों एवं शोधकर्त्ताओं को लाभान्वित करेगी।

–डॉ॰ पुष्पम नारायण
संपादक
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वर नगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

अनुक्रम

	संपादक की कलम से ...		9
1.	संगीत शिक्षण में पाठ्यक्रम की उपयोगिता एवं महत्ता	*डॉ. रोजी श्रीवास्तव*	13
2.	गुरू-शिष्य परम्परा एंव संस्थागत संगीत शिक्षा	*डा. सोनदीप मोंगा*	19
3.	शब्द-कीर्तन में प्रयोग किए गायन-रूप	*डॉ. हरजस कौर*	25
4.	स्वरों की अवधारणा, साधना एवं अभिव्यंजना	*डॉ. रीना सहाय*	30
5.	भारतीय शास्त्रीय संगीत में गुरू व दीक्षा संस्कार	*कुमारी आकांक्षा तिवारी*	35
6.	पारम्परिक रचना-चैती	*डॉ. विजय कपूर*	37
7.	विनय पत्रिका के संगीतीकरण में गोस्वामी तुलसीदास जी के उद्देश्य	*डॉ. ज्योति विश्वकर्मा*	41
8.	भारत की सांस्कृतिक धरोहर : ललित कलाओं में संगीत कला	*डॉ. अनामिका कुमारी*	45
9.	नाट्य संगीत में रस	*डॉ. संजय कुमार सिंह*	48
10.	नाट्य संगीत में वाद्यों की भूमिका	*डॉ. प्रेम किशोर मिश्र*	51
11.	संगीत में अभ्यास	*प्रियंका पाण्डेय*	54
12.	भारतीय शास्त्रीय संगीत के गायन और शिक्षण में, अभ्यास	*डॉ. धीरेन्द्र कुमार मिश्र*	57
13.	लय और ताल का महत्व	*प्रिया तिवारी*	60
14.	शास्त्रीय संगीत की बंदिशों में स्वर-लय ताल का महत्व	*मनीष कुमार वर्मा*	62
15.	वर्तमान समय में उच्च शिक्षण संस्थानों में संगीत की स्थिति	*डॉ. नीरा चौधरी*	65
16.	भारत की धार्मिक संगीत परम्परा	*पं. रविनाथ मिश्रा*	67
17.	तबला वादन के क्षेत्र में अग्रणी महिला कलाकारों की भूमिका	*प्रियंका अरोड़ा प्रो. गुरूप्रीत कौर*	69
18.	सितार की उत्पत्ति, विकास एवं गतशैली	*नवीन कुमार मिश्रा*	73
19.	शास्त्रीय संगीत की अधोगति एवं उसके प्रमुख कारण	*डॉ कुमारी कंचन*	77
20.	संगीत की उच्च शिक्षा : बदलते सन्दर्भ और आयाम	*डॉ. नूतन कुमारी*	79
21.	मानव जीवन में संगीत शिक्षा का महत्व	*मनु प्रकाश मौय*	81
22.	वाक्तत्व और संगीत	*निधि श्रीवास्तव*	84
23.	"विविध संगीतज्ञों के मतानुसार भारतीय संगीत में रियाज प्रणाली एवं उसकी उपयोगिता"	*पूजा मिश्रा*	87
24.	संगीत शिक्षण एवं संगीत शिक्षण की समस्यायें	*डॉ. रामशंकर*	94
25.	वर्तमान समय में उच्च शिक्षा संस्थानों की स्थिति	*डॉ. जतिंदर कौर*	98
26.	मानव शरीर एवं संगीत के प्रति उसकी प्रतिक्रिया	*स्तुति श्रीवास्तव*	102

27. उच्च शिक्षण संस्थानो में शास्त्रीय संगीत शिक्षा पद्धति का स्वरूप — एकता मेहता 105
28. प्राचीनकालीन इतिहास में संगीत — शेषनाथ मिश्रा 108
29. भारतीय संगीत-विद्यालयों में प्रवर्तमान अभ्यासक्रम में परिवर्तन की आवश्यकता — विश्वास विजयकुमार संत 113
30. 'संगीत के प्राचीन ग्रंथकार (महर्षि भरत, मतंग मुनि, शारंगदेव) एवं उनके ग्रंथ' — डॉ. गीता जोशी 115
31. लोकगीतों का वर्गीकरण — आरती वाही 121
32. पं॰ भीमसेन जोशी जी की सांगीतिक यात्रा — शिल्पी मित्तल 125
33. हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन : गायकी एवं शिक्षण पद्धति में 'स्वर-साधना की चुनौतियाँ' — डॉ. आरती 128
34. भारतीय शास्त्रीय संगीत एवम् उसकी शिक्षा पद्धति — शालिनी 132
35. संगीत में अभ्यास — डॉ. पुनीता वर्मा 134
36. शास्त्रीय संगीत शिक्षा पद्धति का स्वरूप — किरण कुमारी 140
37. स्वर साधना की चुनौतियाँ — आहना शर्मा 144
38. संगीत में शिक्षा के बढ़ते प्रतिमान — डॉ. बीनू डोगरा 147
39. संगीत और मानव की अंतःध्वनि का संबंध — राकेशचन्द्र आर्च 149
40. संगीत में गुरू-शिष्य परंपरा — डॉ. लालति कुमारी 154
41. मराठी संगीत नाटक की परंपरा — डॉ. मेघना अष्टपुत्रे 157
42. Karaikudiveena Gharana — *Dr. Shanti Mahesh* 160
43. Music – The Best Mode to Spirituality — *D. Padma* 165
44. Western Notes in Karnatik Music — *R. Surya Prakash* 168
45. Role of Multimedia Technology in Teaching of Music — *Anshumati* 172
46. A Passionate Percussion Teacher — *Prof.Gurpreet Kaur* *B. Guru Raghavendran* 176
47. Hindustani Classical Music : As A Spiritual Sadhana — *Dr. Pushpam Narain* 179

संगीत शिक्षण में पाठ्यक्रम की उपयोगिता एवं महत्ता

डॉ. रोजी श्रीवास्तव

भारतीय शिक्षा, कला एवं संस्कृति का अपना इतिहास रहा है। किसी भी देश की शिक्षा, कला एवं संस्कृति उसके तात्कालीन समाज का दर्पण है, विकसित होने का प्रमाण है। यहा वैशम्प्यान, जैमिनी, पाणिनी, याज्ञवल्क्य, पतन्जलि जैसे शीर्षस्थ विद्वजन रहे हैं वहीं स्वामी हरिदास, तानसेन, बैजू बावरा जैसे संगीत साधक भी। देखा जाये तो इन सभी के पीछे एक लम्बी प्रक्रिया छिपी रहती है, वह है- अध्ययन अध्यापन की, शिक्षा के स्वरूप की, शिक्षण पद्धति की, या यूं कहें कि क्या स्वरूप है क्या स्तर है पाठ्य सामग्री का, उस विषय के पाठ्यक्रम का। पाठ्यक्रम एक ऐसी महत्वपूण कड़ी है, धूरी है जिससे यह सभी पहलु प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े होते हैं। इन सभी पहलूओं पर चर्चा करें इससे पहले शास्त्रीय संगीत शिक्षण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक सा हो जाता है।

प्राचीन काल से ही संगीत शिक्षा का स्वरूप गुरूमुखी रहा। मुस्लिम काल में यही शिक्षा तालीम के माध्यम से दी जाने लगी जो आगे चलकर ''घराना पद्धति'' के रूप में प्रतिष्ठित हुई आज हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की व्याख्या ही इसी के माध्यम से की जाती है। शास्त्रीय संगीत की आत्मा और पुनीत संस्कार इसी परम्परा में छिपे हैं ऐसी मान्यता रही है। इस पद्धति में गुरू-शिष्य परम्परा को सर्वोपरि माना गया। जिसमें ''एकै साधै सब सधै'' की अवधारणा का निर्वाह किया गया। इस परम्परा में शिष्य गुरू के रू-ब-रू बैठकर स्वरों के उतार-चढाव, कण, मुर्की, खटका, गले की बारीकियों, राग-ताल-भाव, आदि चीजों का अनुसरण कर, अभ्यास कर अपने गले में हू-ब-हू उतारने का प्रयत्न करता है। संगीत में यह प्रक्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जो बार-बार सुनने एवं साधना करने से प्राप्त होती है। गुरूजन एक ही राग को लम्बे समय तक रियाज़ कराते थे। गुरू-शिष्य दोनों में ही समर्पण, धैर्य, संयम और श्रद्धा जैसे गुण कूट-कूट कर भरे होते थे। वास्तव में संगीत एक साधना है, तपस्या है, जिसका ''वजूद'' या कहें कि ''आत्मा'' रियाज़ है, अभ्यास है, चाहे फिर वो संगीत की कोई भी विधा क्यों न हो। मन्द्र सप्तक एवं षड़ज का रियाज, ''सबक'' का रियाज़ आवश्यक होता था। यहा कोई समय सीमा या पाठ्यक्रम का बंधन नहीं था। हमारे गुरूजनों ने जो तपस्या, साधना से पाया वह अपने शिष्यों में बांट दिया और शिष्यों ने अपने गुरूओं द्वारा प्राप्त इस अमूल्य निधि को सहेजा, संवारा और अपनी साधना तथा अनुभवों से, नवीन प्रयोगों के माध्यम से उसे और अधिक पल्लवित एवं विकसित किया। देखा जाये तो संगीत का वर्तमान स्वरूप अतीत की कठोर साधना का प्रतिफल है। इसी परम्परा के कारण भारतीय संगीत में सौष्ठव, सुघड़ता और शास्त्रबद्धता जो देखने को मिलती है वह बेजोड़ है।

वास्तव में शिक्षा की प्रक्रिया युग सापेक्ष होती है। युग की गति एवं नये परिवर्तनों के आधार पर शिक्षा के साथ-साथ शिक्षण का प्रयोजन एवं दृष्टिकोणों में भी बदलाव आता है। मानव विकास के लिये खुलते नित नये आयाम शिक्षा एवं शिक्षाविदों के लिये चुनौती का कार्य करते हैं। शिक्षा किसी भी स्तर की हो या विषय की, कुछ उद्धेश्यों को अपने में समाहित किये होती है। अतः मेरा ऐसा सोचना है

व्याख्याता, संगीत विभाग, राजकीय महारानी सुदर्शन महाविद्यालय बीकानेर (राजस्थान)

कि कला हो या शिक्षा, समाज से सदैव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसका जुड़ाव रहता है जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है। वर्तमान में शास्त्रीय संगीत शिक्षा की क्या स्थिति है? क्या महत्ता है? इसके सामने कौन-कौन सी चुनौतिया है? तथा इसके निराकरण हेतु हम क्या-क्या प्रयास कर सकते हैं? जिससे कि युगानुसार इसकी महत्ता बनी रहे, अतः आवश्यकता है शास्त्रीय संगीत शिक्षण को आज के नये संदर्भों में देखने की।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् शिक्षा नीति एक ऐसा ज्वलन्त विषय रहा जिस पर निरन्तर परिवर्तन होने पर भी हर प्रयास, लक्ष्य की प्राप्ति में असफल रहे। देश के शिक्षाविदों, बुद्धिजीवियों के निरन्तर चिन्तन, मनन् से इस चुनौतिपूर्ण स्थिति का समाधान एक सीमा तक तो सम्भव हो पाया लेकिन चरमराती हुई शैक्षिक व्यवस्था का स्वरूप हमारे सामने था। कई समितियों, कई आयोगों का गठन हुआ और उनकी नीतियों का क्रियान्वयन भी हुआ किन्तु दुर्भाग्यवश संगीत विषय का स्थान नगण्य ही रहा। इन परिस्थितियों में विशेषतः जब हम संगीत विषय की दशा एवं दिशा की बात करते हैं तो वर्तमान में संगीत शिक्षा विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय एवं संस्थाओं के स्तर पर दी जा रही है, जिसमें संगीतविदों ने गायन, वादन, नर्तन तीनों को पृथक-पृथक विषयों के रूप में रखा है तथा इसे अन्य विषयों से भी जोड़ा गया है जैसे - दर्शन, मनोविज्ञान, इतिहास, चिकित्सा, सौन्दर्यशास्त्र एवं योग आदि। इसके अतिरिक्त विषय के विकास हेतु सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक दोनों पहलुओं को ध्यान में रखते हुए गुणवत्ता एवं गुणात्मकता दोनों पर ध्यान केन्द्रित किया है। किन्तु परिणाम कुछ ज्यादा लाभप्रद नहीं रहे। गुणात्मकता में तो अवश्य अपेक्षाकृत बढ़ोतरी हुई किन्तु गुणवत्ता में निरन्तर गिरावट आयी। अतः विषय की उपयोगिता पर, महत्ता पर प्रश्न चिन्ह लगा। कारण रहा कि आज के इस भौतिकवादी प्रौद्योगिक युग में, व्यवसायीकरण की इस लम्बी दौड़ में जीवन इतना संघर्षशील एवं गतिशील हो गया है कि कला साधना में पूरा जीवन बिताया जाये, यह सम्भव नहीं है। आज प्रत्येक विद्यार्थी स्वयं स्वावलम्बी बनना चाहता है। जीविकोपार्जन ही उसकी शिक्षा का लक्ष्य है, ध्येय है।

समय की मांग को देखते हुए विषय के महत्वपूर्ण घटक अर्थात् पाठ्यसामग्री या पाठ्यक्रम पर ध्यान केन्द्रित करना चाहूंगी, क्योंकि शिक्षा चाहे किसी भी विषय की हो या फिर किसी भी स्तर की, पाठ्यक्रम की अहम भूमिका होती है। संगीत, एक विषय के साथ-साथ एक रंगमंचीय कला भी है अतः इसे अन्य विषयों के समकक्ष लाने के लिये संगीत के शास्त्र एवं कला पक्ष दोनो ही पहलुओं का गहन चिन्तन करना होगा, मनन् करना होगा। क्योंकि कला पक्ष सदैव परिवेश अनुसार चलता है जबकि उसका शास्त्र पक्ष नियमों में बंधा होता है अतः संगीत के पाठ्यक्रम का आधार मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधारित हो। मनोवैज्ञानिकों का मानना है, उनका सोचना है कि जैसे हम बीज बोयेंगे, बच्चों को संस्कारित करेंगे वैसा ही फल पायेंगे यानि व्यक्तित्व विकसित होगा। वर्तमान में बाल शिक्षा के दृष्टिकोण में काफी परिवर्तन आया है। विद्यालय स्तर के पाठ्यक्रम पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है क्योंकि किसी भी इमारत की मजबूती के लिये उसकी नींव सुदृढ़ होनी चाहिये। बालक के मानस पटल पर नैसर्गिक रूप से संगीत का बीज कहीं किसी कोने में विद्यमान रहता है। प्रश्न उठता है कि प्राथमिक स्तर पर बालक को किस प्रकार संस्कारित करें? बालक क्या ग्रहण करे और कैसे अभिव्यक्त करे? मेरा ऐसा सोचना है कि संगीत शिक्षण हेतु व्यवहारिक पाठ्यक्रम सम्बन्धित बिन्दुओं पर विचार किया जाये जिसमें बालक अपनी दिनचर्या दैनिक प्रार्थना सभा से प्रारम्भ करे, जिसमें ईश वंदना, गुरू वंदना, गणेश वंदना, सर्वधर्म प्रार्थना, राष्टाय गान, वंदेमातरम् आदि सम्मिलित हों। शाला में प्रेम, सहयोग, सद्भावना, एकता, सहजता, सद्व्यवहार को स्थापित करने के लिये बाल मंच योजना का क्रियान्वयन हो। विशषज्ञों द्वारा बालकों के लिये गीत लिखे जायें जो कला संस्कृति, देश प्रेम, एकता, सद्भावना से ओतप्रोत हों तथा अन्य गीतों में मुख्यतः हिन्दी व अंग्रेज़ी की वर्णमाला, गणित के गिनती पहाड़े, सामान्य एवं प्रकृति की जानकारियां, पर्वों उत्सवों से सम्बन्धित गीतों का संकलन किया जाये।

अतः कहने का तात्पर्य है कि कुछ इस प्रकार पाठ्यक्रम को रूचिकर बनाया जाए ताकि बालक उसे बोझ न समझकर सहजता से सीखे और अभ्यास करे। पाठ्यक्रम का संयोजन एवं निर्माण करते समय विभिन्न आयामों को ध्यान में रखना आवश्यक है जैसे विषय केन्द्रित, अनुभव केन्द्रित, बाल मनोविज्ञान केन्द्रित, कार्य केन्द्रित, शिल्प कला केन्द्रित हो तथा पिछली कक्षाओं के पाठ्यक्रम की पुनरावृत्ति न हो। प्रथम एवं द्वितीय कक्षा के बच्चों को संगीत से संबधित छोटी-छोटी कविताएं, लय की समझ हेतु हाथ पर ताली, पद संचालन, प्रान्तीय वाद्यों के ज्ञान से परिचित कराया जा सकता हैं। तीसरी, चौथी एवं पांचवी कक्षा में राष्टीय गान, सामूहिक गीत, स्थानीय लोकगीत, लोक वाद्यों एवं उनकी ध्वनि को पहचानना अर्थात् संगीत की "बेसिक-नॉलेज" यथा स्वर, ताल, लय मात्र क्षेत्रीय लोक संगीत आदि का अभ्यास कराना चाहिए। छठी, सातवीं, आठवीं कक्षा में छात्रें को शास्त्रीय संगीत के प्रारंभिक ज्ञान के साथ-साथ अलंकार, थाट, शुद्ध-विकृत स्वर अभ्यास के साथ यमन, भूपाली, भैरव, मालकौंश रागों के आरोह-अवरोह पकड़, मध्य लय की बन्दिशें सिखाई जा सकती हैं। ताल के अन्तर्गत दादरा, कहरवा, तीन ताल का हाथ पर ताली द्वारा अभ्यास, लोकगीतों, लोकनृत्यों, देशभक्ति गीतों का अभ्यास, एन. सी. ई. आर. टी. के पन्द्रह समूह गीतों को कक्षानुसार बांटकर अभ्यास करवाना चाहिए। विद्यालय स्तर पर "कला शिक्षा" के नाम पर एक व्यवस्था तो हैं पर इसके माध्यम से बालकों को किस प्रकार संस्कारित कर पाएगें? यह विचारणीय प्रश्न हैं क्योंकि मैं स्वयं माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, अजमेर में बी. ओ. एस. की सदस्य रह चुकी हूँ और तभी मैंनें सदस्य की हैसियत से एक रिपोर्ट उनके समक्ष प्रस्तुत की थी। मेरा कहना हैं कि इस पाठ्यक्रम में सुधार की काफी गुंजाइश हैं और बालक को संस्कारित करने हेतु हम शास्त्रीय, सुगम एवं लोकसंगीत का मिलाजुला रूप पाठ्यक्रम में निर्धारित कर सकते हैं। इस शिक्षा से यह आवश्यक नहीं कि बालक को कलाकार बने किन्तु बालक में विषय की समझ एवं रूचि अवश्य पैदा की जा सकती हैं। इसी प्रकार नवीं एवं दसवीं कक्षा में पाठ्यक्रम हेतु संगीत के शास्त्रीय स्वरूप एवं उसके नियमों पर ध्यान देना चाहिए अतः "एकै साधे सब सधे" की मान्यता को स्वीकार करते हुए अधिक विस्तृत पाठ्यक्रम ना होते हुए कम से कम पांच रागों को सिखायें, यथा यमन, काफी, खमाज, भैरव, वृन्दावनी सारंग। मध्य लय की बन्दिश, आलाप-तान सहित तथा एक विलम्बित लय की बन्दिश, तराना, दुगुन की लयकारी सहित सिखाया जा सकता हैं। इसके अतिरिक्त हाथ पर ताली द्वारा दादरा, कहरवा, त्रिताल एवं एकताल, ठेका, दुगुन, चौगुन सहित लगाये। सैद्धान्तिक पक्ष के पाठ्यक्रम में रागों का शास्त्रीय विवरण, पारिभाषिक शब्द यथा- आरोह-अवरोह पकड़, वादी, संवादी, अनुवादी, विवादी स्वर, स्वर, श्रुति, नाद, थाट, राग का संक्षिप्त परिचय। कोई चार संगीतज्ञों की जीवनियां, चार लोकवाद्यों, दो लोकनृत्यों का परिचय पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर सकते हैं। इसी प्रकार दसवीं कक्षा के क्रियात्मक पक्ष में किन्हीं पांच राग जैसे बिहाग, केदार, भूपाली, मालकोंश, भैरवी सिखाई जा सकती हैं। विलम्बित ख्याल, द्रुत ख्याल, तराना, ध्रुपद की बन्दिश एवं दुगुन की लयकारी, भजन, लोकगीत एवं ताल में चार ताल, तिलवाड़ा, रूपक, धमार का ठेका एवं दुगुन का अभ्यास होना चाहिए। सैद्धान्तिक पक्ष में पारिभाषिक शब्द यथा- वर्ण अंलकार, सप्तक तान, मूर्छना, गमक आदि। बन्दिशों की स्वरलिपि, रागलक्षण, दस थाटों का ज्ञान, संगीतज्ञों की जीवनियां, कोई चार वाद्यों एवं चार शास्त्रीय नृत्यों का परिचय, गायक के गुण-अवगुण को सम्मिलित किया जा सकता हैं तथा अपने प्रान्तीय लोकगीतों की विस्तृत जानकारी। उच्च माध्यमिक स्तर पर ऐच्छिक विषय के रूप में संगीत शिक्षण का प्रावधान हैं। इस अवस्था में छात्र उच्च शिक्षा हेतु तैयार होता है। अतः पाठ्यक्रमों में सम्मिलित किए जाने वाले अध्यायों का, रागों का चुनाव सोच विचार कर हो। पाठ्यक्रम के क्रियात्मक पक्ष में सात रागों को रखें जैसे आसावरी, अल्हैयाबिलावल, केदार, विहाग, खमाज, देशकार, भैरवी। गायकी के अन्तर्गत दो विलम्बित ख्याल, मध्य लय का ख्याल, एक तराना, एक ध्रुपद में नोमतोम् की आलापचारी, एवं दुगुन चौगुन लयकारी, त्रिवट गायकी को भी शामिल कर सकते हैं। तबले पर तीन ताल का ठेका वादन, हाथ पर ताली में

एकताल, चारताल, झूमरा, रूपक, तिलवाड़ा सम्मिलित किया जा सकता हैं। सैद्धान्तिक पक्ष में पारिभाषिक शब्दों का विस्तृत अध्ययन प्राचीनकाल, मध्यकाल एवं आधुनिक काल के अनुसार श्रुति-स्वर विभाजन, ग्राम-मूर्छना, गणितानुसार थाट की रचना- कोई चार सांगीतिक ग्रंथों का परिचय, जीवनियां, राग-जाति एवं राग-वर्गीकरण की अवधारणा की विस्तृत जानकारी, इसके अतिरिक्त पाठ्यक्रम की रागों का शास्त्रीय परिचय, बन्दिशों का स्वरलिपि-लेखन, कर्नाटक एवं हिन्दुस्तानी संगीत पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन आदि सम्मिलित किए जा सकते हैं। सैद्धान्तिक प्रश्न पत्र को पांच भागों में बांटा जाए ताकि उसमें पूरा पाठ्यक्रम आ सके। प्रत्येक वर्ग में से एक प्रश्न करना अनिवार्य हो, जिससे छात्र के लिए पूरे पाठ्यक्रम की तैयारी करना आवश्यक हो जाए। बाहरवीं कक्षा में रागों का चुनाव पहले की अपेक्षाकृत कुछ कठिन हो जैसे मारवा, पूरिया, जौनपुरी, दुर्गा, भीमपलासी, बहार, बागेश्वरी, पीलू आदि। इसमें अलग-अलग रागों में दो बड़े ख्याल-छोटे ख्याल, तराना लयकारी सहित, ध्रुपद में नोमूतोम् की अलापचारी एवं दुगुन तिगुन चौगुन की लयकारी सहित प्रस्तुति, धमार गायकी की बन्दिश एवं एक चतुरंग, सीखा सकते हैं जिससे कि उच्च माध्यमिक स्तर तक छात्र संगीत की लगभग सभी गायन शैलियों से परिचित हो जाए। सैद्धान्तिक पक्ष में संगीत का उद्गम एवं उत्तर भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास, पारिभाषित शब्द-गीत, गांधर्व, गान, मार्गी-देशी संगीत, नायक-नायिका, भेद, आधुनिक अलाप गायन, आदत-जिगर-हिसाब। संगीत की विभिन्न गायन शैलियां यथा ध्रुपद, धमार, ख्याल, त्रिवट, चतुरंग, ठुमरी, होरी, कजरी, चैती की विस्तृत जानकारी, राग-रागिनी वर्गीकरण, वीणा के तारों पर स्वरों की स्थापना, तारों की लम्बाई एवं आन्दोलन संख्या, विष्णुदिगम्बर एवं भातखण्डे की स्वरलिपि चिह्नों की जानकारी, कर्नाटकी संगीत एवं पाश्चात्य संगीत का संक्षिप्त विवरण, संगीत पर निबन्ध लेखन आदि को भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जा सकता है। संगीत विषय को हम शिक्षण-प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों में भी लागू कर सकते हैं। डाईट, बी.एड., एम.एड के शिक्षण-प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में संगीत को स्वतंत्र विषय के रूप में स्थान मिलना चाहिए या अनिवार्य विषय के रूप में जहां कम्प्यूटर एवं पर्यावरण जैसे विषय वहीं संगीत कला को भी पाठ्यक्रम में शामिल करना चाहिए तथा इसके अंक परीक्षा परिणाम में जुड़ने चाहिए तभी विषय की महत्ता रह पाएगी। संगीत के पाठ्यक्रम में प्रांतीय लोक गीत भजन, सामूहिक एवं देश-भक्ति गीतों के साथ-साथ ढोलक हारमोनियम, तबला वादन का भी प्रावधान होना चाहिये तथा म्यूजिकल टेक पर गीतों के गाने का अभ्यास भी होना चाहिए। आज के वैज्ञानिक युग में संगीत विषय को रूचिकर बनाने हेतु तथा शिक्षा के सरलीकरण को ध्यान में रखते हुए सहायक सामग्री का उपयोग आवश्यक हैं, इन उपकरणों में मुख्यतः स्लाईड प्रोजेक्टर, फिल्म स्टोप प्रोजेक्टर, ऑवरहेड प्रोजेक्टर, रेडियो, टी.वी., टेपरिकार्डर, सीडी, वीसीडी, म्यूजिकल टक आदि सम्मिलित हैं।

उच्च शिक्षा स्तर पर जब हम संगीत के पाठ्यक्रम की बात करते हैं तो महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम एक सा हो, अनुसंधानात्मक दृष्टिकोण हो, सोच हो, विषय सारगर्भिता तक पहुंचे। उच्च शिक्षा स्तर पर पाठ्यक्रमों के बारे में टिप्पणी करना आवश्यक नहीं हैं क्योंकि यह पाठ्यक्रम हमारे विशेषज्ञों द्वारा ही कुछ सोच समझकर निर्णय किया हुआ हैं किन्तु ध्यान देने योग्य बात तो यह हैं कि उस पाठ्यक्रम को कितनी तन्मयता से सीखते या सीखाते हैं। उच्च शिक्षा स्तर पर संगीत शिक्षण के तीन प्रकार के माध्यम हैं- 1. एकमात्र संगीत शिक्षण हेतु स्थापित संस्थाएं 2. अन्य विषयों की भांति संगीत को भी विषय के रूप में सम्मिलित किया गया हैं। 3. गुरू शिष्य परम्परा को पुनजीर्वित करने वाली संस्थाएं। तीनों ही प्रकार में उद्देश्यों एवं उसके पाठ्यक्रम में भिन्नता होनी चाहिए। प्रथम में क्रियात्मक पक्ष की प्रधानता हैं, शास्त्र एक सहायक अंग के रूप में सम्मिलित किया गया है। द्वितीय में प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक संगीत को उदार शिक्षण प्रणाली के अन्तर्गत लिया हैं। तृतीय प्रकार में क्रिया प्रधान गहन शिक्षण को महत्व दिया गया है। उच्च स्तरीय संगीत शिक्षा में मनन, चिन्तन एवं स्मरण तीनों ही पहलुओं की महत्वपूर्ण भूमिका रहती हैं । इनके परिपक्व होने पर ही ''उपज-अंग''

या कहें कि सृजन संभव हो पाता हैं और यही "सृजन" कल्पना एवं अभ्यास के आधार पर विषय की आत्मा को पुनः पोषित करता है। जिससे संगीत का "मूल" या "अस्तित्व" कायम रह पाता हैं। आवश्यकता है कि उच्च शिक्षा स्तर पर "sspecialization" की शिक्षा, गायिकी विशेषज्ञों द्वारा ही हो। तभी गुणवत्ता संभव है। पाठ्यक्रम में राग की संख्या की अपेक्षा प्रस्तुतिकरण को महत्व देना चाहिए। उच्चस्तरीय पाठ्यक्रम का निर्माण करते समय कुछ बिन्दुओं को ध्यान में रखना आवश्यक है जैसे - 1. संगीत शिक्षा सरल, सुगम एवं बोधगम्य हो 2. संगीत कला का संवर्धन एवं विकास हो 3. संगीत शिक्षा में नवीन आयामों की संभावनाएं हो 4. संबंधित व्यवसायों को उन्नत करने में सक्षम हो 5. व्यवसायिक स्पर्धा का मार्गदर्शन हो 6. संस्कृति के स्वरूप एवं प्रयोजन निर्धारित हो 7. शिक्षार्थियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विकास हो। वर्तमान समय में आवश्यकताएं एवं परिस्थितिया बदल रही है। सोच एवं लक्ष्य बदल रहे हैं। यह बात उतनी ही सत्य है कि जनसाधारण को वातावरण मिला है किन्तु विद्यार्थियों में गुणवत्ता में कमी रही। यह शिक्षा रोजगार परख है या नहीं, इस पर आज भी प्रश्न चिहन् है। आज एक विद्यार्थी या एक अभिभावक की सोच, विषय में रोजगार सम्बन्धी संभावनाओं को लेकर काफी जागरूक है कोई विद्यार्थी यदि अपना समय देना चाहता है या कोई अभिभावक अपने बच्चे की पढ़ाई पर पैसे खर्च करना चाहता है तो बहुत सोच समझ कर करता है। उसका ध्येय रहता है कि फनंसपपिबंजपवद ऐसी हो जिससे प्रतिष्ठा, पैसा, प्रसिद्धि एवम् समृद्धि भरपूर मिल सके अतः "Qualification" "Degree" की उपयोगिता बहुत महत्वपूर्ण है। आज आवश्यकता है कि अनेक वर्षों से चले आ रहे संगीत पाठ्यक्रम को, आधुनिक युग की परिस्थितियों एवम् सामाजिक परिवेश के अनुसार वैज्ञानिक ढ़ग से सुनियोजित रूप से व्यवस्थित किया जाये उसे व्यवसायिक रूप दिया जाये। संगीत के संदर्भ में यदि संभावनाओं की बात करते हैं तो शास्त्रीय संगीत में संभावनाऐं सीमित होती जा रही है वहीं सुगम संगीत, लोक संगीत, चित्रपट संगीत आकर्षक होने के कारण संभावनाओं में वृद्धि हुई है। मैनें यू.जी.सी. द्वारा स्वीकृत लघु शोध परियोजना के अन्तर्गत अध्ययन एवम् गहन चिन्तन के बाद यह महसूस किया है कि यदि हमें शास्त्रीय संगीत को अन्य विषयों के समकक्ष लाना है तो "संगीत" को "प्रबन्धन" से जोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। संगीत के क्षेत्र में यदि "प्रबन्धन" की बात करते है तो कई नई संभावनाओं का जन्म होता है। वर्तमान में पाठ्यक्रम का निर्माण करते समय छात्र के "व्यवसायिक कैरियर" का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए। अतः मैंने इन दोनों पक्षों को जोड़ने का प्रयास किया है।

संगीत प्रबन्धन के अन्तर्गत संगीत शिक्षा के पाठ्यक्रम मुख्यतः दो प्रकार के हो सकते है - 1. एक वर्षीय पाठ्यक्रम, जो सामान्यतः सभी छात्र कर सकते है उन्हें Hobby Classe के रूप में लिया जा सकता है। इसके अन्तर्गत शास्त्रीय संगीत का प्रारम्भिक ज्ञान, भजन, देशभक्ति, समूहगान, प्रान्तीय लोकगीत, ढोलक, हारमोनियम वादन, नृत्य शिक्षा का प्रारम्भिक ज्ञान तथा लोक नृत्यों को सम्मलित किया जा सकता है। इसका उद्दश्य जन साधारण में संगीत के प्रति रूचि पैदा करना तथा इसी के माध्यम से अपनी संस्कृति एवम् पारम्पारिक कलाओं से परिचित कराना है। 2. संगीत की व्यवसायिक शिक्षा- संगीत के क्षेत्र में ऐसे तीन वर्षीय पाठ्यक्रम चलाये जाये जिनकी प्रवेश योग्यता संगीत विषय में स्नातक होना आवश्यक है। प्रथम वर्ष के पाठ्यक्रम में गायन, वादन, नृत्य तीनों विधाओं का प्रारम्भिक ज्ञान या कहें कि "बेसिक नॉलेज" देनी चाहिए। सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत संगीत के ऐतिहासिक पक्ष, पारिभाषिक शब्द, राग-ताल परिचय, वाद्यों एवम् नृत्यों की जानकारी, वर्तमान संदर्भ में संगीत से जुड़ें नयें आयामों की विस्तृत जानकारी आदि अध्याय सम्मिलित होने चाहिए। प्रथम वर्ष परीक्षा में प्राप्त अंकों आधार पर मैरिट बनाकर छात्र को आगामी द्विवर्षीय पाठ्यक्रम में प्रवेश देना चाहियें इन पाठ्यक्रमों को हम इस प्रकार विभाजित कर सकते है-

1. संगीत शिक्षक
2. मंच प्रदर्शक कलाकार/पार्श्व गायन
3. शास्त्रकार/रचनाकार/ग्रंथ प्रकाशक (प्रकाशक एवं क्रय-विक्रय)

4. संगीत समीक्षक/पत्रकारिता/ आलोचक/ सम्पादक
5. संगीत निर्देशक/गीतकार/कम्पोजर (धुनकार)
6. अनुसंधान कर्ता (शोध एवम् सर्वे)
7. विज्ञापन एवम् संगीत
8. वृन्दगान/वृन्दवादन/लोकसंगीत एवम् समूह गान/कोरियोग्राफी (नृत्य-निर्देशन)
9. वाद्ययंत्रों का निर्माण एवम् मरम्मत (टेक्नीशियन) एवं संगीत वाद्यों की बिक्री
10. प्रबन्धक/आयोजक/कार्यक्रम संयोजन (प्रोग्राम कम्पेअरिंग)/ जनसम्पर्क
11. विभिन्न प्रादेशिक गीतों के अनुवादक, प्रकाशक एवम् वितरक
12. फिल्मी, वृत्त चित्र, आकाशवाणी एवम् दूरदर्शन के रूपक, नाटक तथा कठपुतली प्रदर्शन में संगीत
13. कैसेट, सी.डी., वी.सी.डी, एलबम, रिकार्डिंग कम्पनी/संगीत उद्योग
14. सांगीतिक चिकित्सा/संगीत एवम् योग
15. पर्यटन एवम् संगीत (टवल टूरिज्म एण्ड कलचरल हैरीटेज)

"प्रोफेशनल कोर्स" की तरह ही इस पाठ्यक्रम में भी अन्तिम छः माह में "टेनिंग पीरियड" होना चाहिए अर्थात् जिसे एम.बी.ए. में "समर-टेनिंग" के नाम से जाना जाता है। यह टेनिंग छात्र विषय से सम्बन्धित किसी अच्छे "प्रोफेशनल-कन्सर्न" से या कहे की व्यावसायिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित विद्वजन से लें तथा अपनी "डेजर्टेशन-रिपोर्ट" या "प्रोजेक्ट रिपोर्ट" भी प्रस्तुत करें।

वर्तमान संदर्भ में "ग्लोबलाईजेशन" के इस दौर में यदि भारतीय संगीत को अन्य विषयों के समकक्ष लाना है तो संगीत में प्रबन्धन को स्थान देना आवश्यक है। क्योंकि "प्रबन्ध" प्रत्येक व्यवसाय को गतिशील बनाता है। संगीत के दो महत्वपूर्ण पहलू है- पहला शिक्षा, दूसरा व्यवसाय। शिक्षा एवम् व्यवसाय का समन्वय ही संगीत को विकास की पराकाष्ठा पर ले जा सकता है। अतः ऐसे पाठ्यक्रमों का निर्धारण एवम् क्रियान्वयन ही विषय को रोजगारोन्मुख बना सकता है। जनसाधारण संगीत को जीविकोपार्जन हेतु महत्वपूर्ण माने, विषय से जुड़े, तभी विषय अपनी साख कायम कर सकेगा और तभी हमारे प्रयास सफल हो पाऐगें।

गुरू-शिष्य परम्परा एवं संस्थागत संगीत शिक्षा

डा. सोनदीप मोंगा

मानव चेतना एक अनूठी सच्चाई है। समस्त कायनात में यह विलक्षणता मनुष्य के पास ही है। मनुष्य के लिए सारा विश्व ही विद्या का विषय है बस इसका लक्ष्य-मार्गी होना अति आवश्यक है, जिसके लिए इसे सीखना पड़ता है, जिससे वह अपनी सांस्कृतिक पहचान बनाता है। इसका इतिहास, गौरव, आर्थिकता, जीवन शैली और उन्नति सब चेतन ज्ञान पर निर्भर है। इस लिए मानव विकास संस्कृति में ज्ञान सबसे उत्तम अभिधारणा है और ज्ञान प्रदान करने वाले गुरू का स्थान सबसे ऊँचा। भू-लोक को उजाले से भरने के लिए जो स्थान सूर्य का है, मानव जीवन को ज्ञान से आलोकित करने में वही स्थान गुरू का है। गुरू में सागर की गहराई, आकाश की ऊँचाई और धरती की विराटता है। गुरू ही विद्या दान देकर मानव जीवन को जीने योग्य लक्ष्य दृष्टि देता है। इस प्रकार मानव चेतना सही दिशा में अग्रसर रहती है और मानव कल्याण निश्चित हो जाता है।

गुरू बिनु भवनिधि तरह न कोई
जो बिरंचि संकर सम होई।[1]

अर्थात कोई भी व्यक्ति गुरू के मार्गदर्शन के बिना अपने जीवन में सफल नहीं हो सकता, चाहे वह ब्रह्मा और महेश जैसे देवता के समान क्यों न हो। भारतीय संस्कृति परम्परा में अध्यात्म, दर्शन, योग, चिकित्सा, साहित्य, कला तथा विज्ञान आदि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गुरू की भूमिका अत्यन्त अपेक्षित और महान है। टी.एस. सोढ़ी लिखतें हैः

'Teacher is considered to be most important factor to help the students in a spiritual way such a teacher is imbuild fully with his degree of self-knowledge, self-dynamism and spiritualism. He serves as a role- model. He guides the child with genuine love, afection and sympathy that he attains his full mental and spiritual development.[2]

इतिहास की तरफ देखने से पता चलता है कि गुरू वशिष्ठ को पाकर श्री राम, अष्टावक्र को पाकर राजा जनक, गुरू संदीपनी को पाकर श्री कृष्ण, गुरू नानक को पाकर अंगद देव, बाबा हरिदास को पाकर तानसेन, स्वामी विरजानंद को पाकर दयानन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस को पाकर विवेकानन्द, अलाऊद्दीन खाँ को पाकर रविशंकर धन्य हो गये, महान हो गये और स्वयं गुरू हो गये। इस प्रकार भारत में गुरू-शिष्य परम्परा सदियों से चली आ रही है।

व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से गुरू शब्द की व्युत्पति दो शब्दों के योग से हुई है-गुरू 'गु' का अर्थ है अंधकार और 'रू' का अर्थ है दूर करना। भाव जो अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट कर ज्ञान रूपी, प्रकाश करता है वही गुरू है। हिन्दी विश्वकोष के अनुसार गुरू सम्प्रदाय प्रवर्त्तक, धर्मोपदेशक, किसी कला में निष्णात् व्यक्ति, शान्त-दान्त, कुलीन, विनीत, शुद्धदेवी, शुद्धाचारी, सुप्रतिष्ठित, पवित्र, दक्ष, आक्षम, व्यवस्था को मानने वाला ध्यान में लीन, मंत्र-तंत्र का ज्ञाता, निग्रह और अनुग्रह में समर्थ व्यक्ति।[3] संस्कृत हिन्दी कोश के अनुसार 'गुरू वह है जो सत्य वेद ज्ञान से जरा भी कष्ट न पहुँचाता हुआ अर्थात् जो विनम्र हो, मोक्ष प्राप्ति हेतु ज्ञान को देता हुआ दोनों

असिस्टैंट प्रोफेसर, पंजाबी विभाग, सरकारी कालेज़, रोपड़।

कानों को खोल देता है और माता-पिता मे समान कभी द्रोह न करने योग्य होता है।'[4] गुरू शवदरतनाकर-महानकोश के अनुसार गुरू अर्थात धर्म उपदेशक धर्म का आचार्य।[5] मानक अंग्रेजी-हिन्दी कोश के अनुसार गुरूः शिक्षक, अध्यापक, मुदर्रिस, उपदेशक, पीर उस्ताद।'[6]

शब्दकोश की दृष्टि से तो शिक्षक और अध्यापक गुरू शब्द के ही समानार्थी है। गुरू के लिए कई पर्यायवाची शब्द भी जैसे मुराद, उस्ताद, रहिबर, आचार्य आदि। गुरू शब्द से भाव उत्पन्न होते हैं कि गुरू दीपक के भांति प्रकाश देता है और केवल ज्ञान-दान ही नहीं देता अपितु शिष्य की चेतना को जागृत कर देते है।

शिष्य जो ज्ञान के प्रति जिज्ञासा रखता है, पाने की इच्छा रखता है, क्यों कि मनुष्य अपने आप में संपूर्ण नहीं हो सकता और उसकी कमियां उसकी कमजोरी होती है। अपने आप को विकसित करने की इच्छा रखने वाला शिष्य है। लेकिन उसमें परमात्म शक्ति है जिसको दिशा मिलना आवश्यक है। यह शक्ति की लालसा ही उसे सीखने और पाने की और ले जाती है। डा. अमर सिंह धालीवाल मानव की इस रूचि को मनोवैज्ञानिक ढंग से बयान करते हुए लिखते हैंः 'मनुष्य एक सोचवान, याद रख सकने वाला और कल्पना कर सकने वाला जीव है। इसलिए वह कल्पनाओं से भ्रमित होता है उससे डरता है प्रभावित होता है। मनुष्य का व्यवहार वस्तुओं को जानने तक ही सीमित नहीं अपितु इसकी लालसाएं, कामनाएं भी होती है, उनके पूरे होने पर उनको खुशी होती है और असंतुष्टी से वह दुखी होता है।[7] शिष्य वह है जो अपने इस व्यवहार को साधना चाहता है और साधक भी कहलाता है। जैसे संतान माता-पिता को पहचान होते हैं वैसे ही शिष्य गुरू की पहचान होते है उसकी सफलता की कसौटी होता है। भारतीय गुरू-शिष्य परम्परा में गुरू शिष्य को अपने से उत्तम बनाने की कामना करता रहा है। लेकिन जैसे सदगुरू मिलना आवश्यक है वैसे गुरू को भी अच्छे विद्यार्थियों की तलाश होती है जैसे काची माटी को ढ़ालने पर सुन्दर मूर्त बनती है लेकिन माटी का सही होना भी अनिवार्य है वैसे ही शिष्य का धैर्यवान और आज्ञाकारी होना आवश्यक माना जाता रहा है।

वैदिक काल में हिन्दु सनातन धर्म के अनुसार तो गुरू को ही परमात्मा का स्थान दिया गया है और गुरू को ब्रह्मा विष्णु, महेश की उपाधि दी जाती थी। माता-पिता के स्थान पर भी गुरू को ही रखा जाता था। तब गुरू शिष्य परम्परा का प्रचलन धर्म स्वरूप था। धार्मिक मंत्र-उच्चारण से स्मृति को जीवित रख कर पाठशाला की नींव रखी गई। जहां गुरू शिष्य को अभ्यास, मेहनत, लगन और समर्पण का ज्ञान देकर आदर्श मनुष्य बनाता था। क्योंकि शुरू में कोई लिखित ग्रन्थ उपलब्ध नहीं थे, गुरू के अनुभव से ही ज्ञान परम्परा और गुरू शिष्य परिपाटी का आरम्भ हुआ। शिष्य अपने घर से मीलों दूर गुरूकुल में रहकर ज्ञान प्राप्त किया करते थे और गुरू को ही माता पिता मानते। सुपरिचित लोक यहाँ द्रष्टव्य हैः

गुरूर्ब्रह्मा गुरूविष्णु गुरूर्देवो महेश्वर
गुरूर्साक्षात् परब्रहम, तस्में श्री गुरवे नमः।[8]

तीन महान् शक्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु और महेश मानी गयी है। उपरोक्त लोक में इन तीनों का समावेश गुरू को दिखाया गया है। भाव यह कि गुरू के पास वह सिद्धि है जो परमतत्व से व्यक्ति को एकाकार कर देती है, जिससे यह तीनों शक्तियां गुरू के द्वारा साधक के अंदर साकार हो जाती है। गुरूकुलों में गुरू और साधक वर्षों तक एक साथ रहते थे यह समय कई बार 15-20 वर्ष का भी होता था और वहीं पे जीवनचर्या का ज्ञान अभ्यास करते, क्योंकि गुरू-शिष्य के सम्बन्ध में भावानात्मक रिश्ते की जरूरत होती है उससे ही शिक्षण प्रक्रिया पूर्ण होती थी और दिल से साधक गुरू का सम्मान कर आज्ञाकारी बनता। रामायण में राम और हनुमान, महाभारत में कृष्ण और अर्जुन का सम्बन्ध इसका उत्तम उदाहरण हैं परन्तु तब तक यह परम्परा मौखिक रूप में ही चलती थी। वेदों में ब्रह्मा का ज्ञान गुरू द्वारा शिष्य को मुखारबिन्दु से उच्चरित कर दिया गया था। उपनिषदों का ज्ञान आधार भी यही था अगर इसका शब्दिक अर्थ लें तो 'उप' भाव नजदीक, 'नी' भाव नीचे और 'षद' भाव बैठना अर्थात अध्यात्म गुरू के पास नीचे बैठ कर ज्ञान अर्जित करना।

भारत में जब अध्यात्म शिक्षा अभ्यास पद्धति में अपनाई गई तो भक्ति योग इसका स्वरूप बना। योग साधना में भी गुरू शिष्य परम्परा वैसे ही रही और गुरू को अनन्त और अखन्ड दर्जा दिया गया। कोई शास्त्र, कोई तपस्या, कोई मन्त्र, कोई दृश्य , कोई जप गुरू के तुल्य नहीं है। केवल गुरू की साधना के द्वारा ही सिद्धि पाई जा सकती है, ऐसा लोगों का विश्वास रहा है। भक्ति योग और योग साधना मे तो बुद्धि से ज्यादा अनुभव की आवश्यकता होती है जिसके लिए एक निर्देशक और पथ प्रदर्शक ही अनिवार्य है। भक्ति की शक्ति सीधे तौर पर या भौतिक तरीके से गुरू साधक को प्रदान नहीं कर सकता इसके लिए गुरू-शिष्य के सान्निध्य रिश्ते की आवश्यकता होती है। जब किसी साधक को शक्तिपथ अथवा दीक्षा दी जाती है तो सिद्धि ग्रहण होती है, तब सिद्धि प्राप्ति (गुरू-शिष्य सम्बन्ध) को मिटाती हुई उनका एकाकार कर देती है। मुन्डमंत्र में कहा जाता है कि सिद्धि का मूल देवता में होता है, देवता का मूल मंत्र है, मंत्र का मूल दीक्षा में है और दीक्षा का मूल गुरू है। जैसे देवता को अराधना के द्वारा पाया जा सकता है वैसे गुरू की सेवा और पूजा से ज्ञान पाया जा सकता है यहां तक माना जाता है कि सभी तोर्थ स्थानों का जप तप गुरू-चरणों में बसता है। भक्ति योग में इसे शिष्य के द्वारा गुरू को सम्पूर्ण सर्मपण की अभिधारणा के तौर पे माना जाता हैं गुरू -शिष्य परम्परा की यही परिपाटी आरम्भ काल से ही प्रचलित है कि अपने अहम को पूर्णतय त्याग करना ही पाना है और गुरू के आगे समर्पण भाव से ही शिष्य पा सकता है। शिष्य की यही निर्भता उसे गुरू को माता-पिता के तुल्य मानने पर सजग करती है।

थेरवादी बोध परम्परा में भी गुरू शिष्य परम्परा का प्रचलन रहा है। इस परम्परा के अनुसार गुरू को प्रकाश प्रदान करने वाला माना गया है और शिष्य को सम्मान देने वाला गुरू अपने शिष्य के हृदय में सूर्य के भांति रात-दिन सदा प्रकाश फैलाता रहता है, वह शिष्य के अज्ञान रूपी अंधकार का नाश कर देता है उसकी सारी व्याधियां नष्ट करके उसको शांति स्वरूप बनाता है। इसके अन्तर्गत गुरू के आचरण अनुसार व्यवहार करने का आह्वान किया गया और महात्मा बुद्ध को गुरू दीक्षा देने के कारण भगवान माना गया। शान्तिदेव बुद्ध ने बोधिसत्व पाने वाले भिक्षुको को मानव कल्याण हेतू तैयार किया बोधिसत्व के मार्ग पर चलने वाले साधकों को बोधिचित का विकास करना पड़ता था। बोधिचित की प्रार्थनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि वोधिसत्व का चरित्र निस्वार्थ समाज सेवक का ही चरित्र था, उनकी प्रार्थनाएं प्रतिज्ञा और संकल्प हुआ करती थी।[9]

सिक्ख गुरू साहिबान तथा अन्य सन्त-भक्तों की वाणी के महान संग्रह 'गुरू ग्रंथ साहिब' में गुरू महिमा से सम्बन्धित अनेक पद संकलित हैं स्वंय गुरू ग्रंथ साहिब को सिक्खों ने ज्ञान स्रोत होने के कारण जीवंत गुरू का दर्जा दिया। सच्चाई का ज्ञान करवाने वाले गुरू नानक देव जी गुरू की महिमा इस प्रकार गाते है।

कुंभे बधा जल रहै जल बिनु कुंभु न होई
गिआन का बधा मनु रहै गुर बिनु गिआन न होई।[10]

अर्थात जैसे जल को घड़े में ही संचित करके रखा जा सकता है बिना पात्र के जल को बांध कर रखना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार मन का नियंत्रण ज्ञान से ही हो सकता है और ज्ञान गुरू के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। भाव यह है कि जीवन को सुचारू ढ़ंग से संचालित करने के लिए ज्ञान प्राप्ति के लिये सदगुरू का सान्निध्य आवश्यक है। ऐसे ही गुरू अंगद देव जी जिन्होने गुरू नानक देव जी का गुरू के तौर पे सान्निध्य प्राप्त किया गुरू की महिमा का सुन्दर चित्रण करते हुए लोक प्रस्तुत करते हैं।

जे सउ चंदा उगवहि, सूरज चड़हि हजार
ऐते चानण होंदिआ गुरू बिन घोर अंधार ।[11]

अर्थात सूर्य चाँद तो शास्त्रें के प्रतीक मात्र हैं। कोई भी व्यक्ति यदि शास्त्रों का अध्ययन करके ज्ञानवान् तो हो सकता है परन्तु विवेक बुद्धि गुरू के सान्निध्य में गूढ़ तथ्यों को आत्मसात् करके ही प्राप्त की जा सकती है। सौ चन्द्रमा उदय हो जाएं हजार सूर्य प्रकाशमान हो जायें, इन सबके रहते गुरू बिना जीवन में अंधकार हो रहता है भावार्थ यह है कि सूर्य चन्द्रमा तो ब्रह्म जगत को प्रकाशित करते हैं

आंतरिक ज्ञान तो गुरूदेव के कमल स्वरूप चरणों की वंदना से ही प्राप्त हो सकता है।

गुरू नानक देव जी ने 'वाहेगुरू' गुरूमंत्र देकर मनुष्य को यह बोध करवाने का प्रयन्त किया कि गुरू की सर्वदा जय है वह परमचेतना सब गुरूओं का भी गुरू है जिसे हमें अपने भीतर प्रवाहमान रखता है। उन्होने अपने मंत्र को अपनाने वालों को 'सिक्ख' की संज्ञा दी, जिसका अर्थ है सर्वदा सीखने वाला। यह गुरू -शिष्य परम्परा की नई परिपाटी सिद्ध हुई। गुरू गोबिन्द जी ने इसे एक अनूठी 'गुरू-चेला' पहचान दी और यहां तक के अपने आप को भी शिष्य ही ब्यान किया। जिससे सभी साधक जीवन में सही मार्ग पर चलते हुए अपेक्षित शुभ कर्म करें। गुरू तत्व से जुड़ने के लिए उन्होंने साधको की संगत पर भी बल दिया। कबीर जी ने तो गुरू को गोविंन्द से भी ऊँचा स्थान दिया।

सभी मत्तों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय परम्परा और मानव विकास संस्कृति में शिक्षण - प्रशिक्षण का यज्ञ गुरू शिष्य प्रणाली के द्वारा सम्पन्न किया जाता रहा है और इतिहास के अनुसार यह प्रणाली सभी ज्ञान विधाओं पर लागू होती रही है जैसे कि धर्म, साहित्य, कला,र्दान, राजनीति-शास्त्र तथा औषधि-विज्ञान आदि।

अगर बात संगीत शिक्षा की करें तो वैदिक युग से ही संगीत शिक्षा में गुरू शिष्य परम्परा का प्रचलन रहा है। गुरूकुल शिक्षा को संगीत के लिए भी प्रयोग किया जाता रहा है कि जब कोई गायक, वादक एंव नर्तक श्रेष्ठ गुरू के संरक्षण में रहकर निरन्तर संगीत साधना करता और साथ-साथ आचार-विचार, रीति, नियम आदि की अनुशासनात्मक शिक्षा भी दी जाती थी। यह भी प्रचलन था कि उन शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ शिष्य को गुरू के पास उस आश्रम में ऋषियों द्वारा संगीत की प्रयोगिक शिक्षा देने का भी उल्लेख हैं प्राचीन और मध्यकाल में भी गुरू शिष्य परम्परा संगीत का विकास मत, परम्परा, सम्प्रदाय आदि के रूप में होता रहा है। वेश परम्परा भी गुरू-शिष्य संगीत परम्परा बनी। क्यों राज दरबारों में गाने-बजाने वाले कलाकार अपनी औलाद को ही यह संगीतक कला कौशल सिखाते, ता कि उनकी जीविका चलती रहे इस तरह पिता-पुत्र भी गुरू शिष्य के तौर पर निर्वाह करते थे। लेकिन गुरू की भूमिका इसमें सक्रिय रहती थी। जैसे कि माना गया है:

'Our music tradition has survived through 'Guru Shishya' parampara, Guru spends several hours imparting training and teaching the intricacies of the art form to the shishya, which a shishya with his hard parctice and sadhana polishes up to present the most sublime art form. Thus the relation between Guru-Shishaya has been given the utmost importance in Indian music. Even the son-father relation becomes secondary in this art form.[12]

कालान्तर के साथ संगीत शिष्य में घरानेदार कलाकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान बना किसी विशेष राग एवं ताल के स्वरूपों को व्यवहार करते हुए यह शिष्य कलाकार अपने गुरूओं की शैली की मान्यताओं के अनुसार परिपक्वता प्राप्त करते। जिससे एक नवीन संगीतक कौशल का निर्माण होता है। गायन वादन एवं नृत्य की इस परम्परागत पद्धति को गुरू शिष्य परम्परा में 'घराना' नाम दिया गया। जिसमें हरेक घराना किसी तालों, रागों के स्वर प्रयोग करने की विशेष विधि के साथ सामने आता गया। इस परम्परा में ग्वालियर, आगरा, दिल्ली, जयपुर, किराना, पटियाला, बनारस, मैहर, रीवा घराने विकसित हुए। इनमें किसी घराने के गुरू एवं शिष्य उस घराने की विशेष शैली में अभ्यास करते हुए गुरू एवं घराने का नाम ऊँचा रखने का प्रयास करते हैं।

प्राचीन काल से अब तक की संगीत शिक्षा पद्धति में गुरू और शिष्य के बीच पवित्र पारस्परिक सम्बन्ध का अंश था। उस्ताद-शार्गिद का यह बँधन स्वार्थ से रहित होता। यहां शिष्य संगीत के साथ-साथ दर्शन, धर्म, ध्यान साधना को भी ग्रहण करने के सुपात्र बनते । इस तरह भी कहा जा सकता है कि इन समयों के दौरान संगीत पूर्ण रूप से गुरू-प्रधान विद्या रही, जिसमें एक कुशल गुरू अपने समयक ज्ञान, कड़े अभ्यास एवं योग्य मार्गदर्शन के द्वारा अमूल्यवान संगीतक धरोहर को शिष्यों में बांटते रहे जिससे संगीत की निर्मल धारा प्रवाहित रही।

वर्तमान समय में संगीत शिक्षण का कार्यरूप संस्थागत हो गया है। भारतीय शास्त्रीय संगीत पद्धति में संस्थागत शिक्षण प्रणाली का प्रभाव सबसे पहले पड़ा। संगीत नित्य नूतन हैं। नाट्य संगीत चित्रपट संगीत, भक्ति संगीत, एवम लोक संगीत और गीत-गजल को अधिक सीखने की इच्छा ने संगीत की उस्ताद-शागिर्द परम्परा को जीवित रखा। इसीलिए संगीत कला को ऐच्छिक विषय के तौर पर संस्थागत रूप में विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में मान्यता मिलनी आरम्भ हुई। शुरू में यह संगीत शिक्षण गुरू-शिष्य प्रणाली पर ही आधारित रहा क्योंकि यहाँ वह लोग आए जो गुरू-शिष्य प्रणाली के अधीन ही प्रशिक्षित थे। लेकिन इसका स्वरूप आधुनिक हो गया जैसे विद्यार्थी की अभिरूचि तथा क्षमता का अन्वेषण, व्यक्तिनिष्ठ संगीत-शिक्षण नियमित पठन-पाठन को प्रोत्साहन, मंच-प्रदर्शन हेतु प्रेरणा नियमित अभ्यास, मनोवैज्ञानिक तकनीकी तत्वों का आधार प्रदान करना हो गया। यही आधार बिन्दु संगीत को 'विशेष' और 'उच्चतर' श्रेणी तक ले गये। इसके चार मुख्य, अंग सामने आएः शिक्षक, शिक्षार्थी, शिक्षण पद्धति एवं मूल्यांकन। लेकिन संस्थागत संगीत के अमल में एक कमी रह गई कि इसको प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तर पर महत्व नहीं दिया गया और न ही आवश्यक पाठयक्रम का भाग बनाया गया बल्कि इसे एक ऐच्छिक विषय के तौर पर उच्चतर स्तर पर अपनाया गया जिससे गुरू-शिष्य परम्परा का वजूद हिलने लगा क्योंकि अब गुरूजन और शिष्य एक साथ रियाज करने के लिए समय सीमा में बंधे हैं। उनको निश्चित समय में निश्चित पाठयक्रम पूरा करना होता है। समर्पण, धैर्य, लम्बा अभ्यास और गुरू शिष्य परिपाटी इसमें गायब है, क्योंकि इस भौतिकवादी प्रौद्यौगिक युग में जीवन इतना गतिशील हो गया है कि कला साधना को शिष्य सम्पूर्ण समपर्ण नहीं देते और गुरू से भी लगाव कम हो गया है। व्यवसायिकरण की दौड़ के कारण संस्थागत संगीत शिक्षण 'जाब ओरियेन्टेड' बनने लगा है। ग्लोबलाइजेशन के इस युग में यह परिवर्तन स्वभाविक है। लेकिन यह कोलाहल संगीत पद्धति और गुरू-शिष्य परम्परा को नष्ट न कर दे यह डर भी बना हुआ है। संगीत कला का लक्ष्य आनन्द प्राप्ति ही नहीं समाज को ज्ञान साधना से जोड़ना भी है लेकिन संगीत में मीड़िया व ग्लैमर संगीत को मुल्यविहीन कर रही है।

प्रो स्वतन्त्र शर्मा जी इस समस्या का गहन अध्यन करते हुए लिखते हैं 'विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में संगीत शिक्षण प्रारम्भ होने से जहाँ एक और संगीत सीखना सर्वसुलभ हो गया वहीं संगीत शिक्षण से सम्बन्धित कई समस्याएं भी उठ खड़ी हुई। यद्यपि, संगीत आज सर्वसुलभ है किन्तु संगीत के आन्तरिक तत्त्वों को उभरने का अवसर नहीं मिल पा रहा है।'[13] प्राचीन गुरू शिष्य परम्परा में संगीत शिक्षण मौखिक ढ़ंग से दिया जाता है गुरू शिष्य को ज्ञान कंठ करवाता था। संस्थागत संगीत में शिष्य के पास सीखने के लिए सुलभ साधन भी मौजुद है जैसे टेप-रिकार्डर, वॉइस रिकार्डर, सी.डी. वीडियो कॉलिंग-श्रव्य-दृश्य पुस्तकालय, इन्टरनैट। वह जब चाहे इससे पुनः स्मरण कर सकते हैं इससे शिष्य के मन में गुरू की और सम्पूर्ण नहीं हो पाता जिससे वह संगीत शिक्षण तो पा लेता है, लेकिन उसके साथ जुड़ी मुलय-साधना से दुर हो जाता है। परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि संगीत शिक्षण को संस्थागत प्रबन्धन की आवश्यकता नहीं है। यहां पर डॉ. तृप्त जी का मत सही है कि एक युग की मांग गुरू-शिष्य परम्परा थी तो आज के युग और परिस्थितियों की मांग दुसरी संस्थागत शिक्षण प्रणाली है। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि दोनों में से किसी एक को अधिक उपयोगी और दूसरी प्रणाली को कम उपयोगी कहा जा सकता है। वास्तविकता यह है कि इन दोनों व्यवस्थाओं की अपनी-अपनी विशेषताएँ और कमियां हैं गुरू-शिष्य पद्धति का प्रभाव पैना और गहरा है तो संस्थागत व्यवस्था का प्रभाव व्यापक है। इसी प्रकार पहली पद्धति श्रम और समय की दृष्टि से लम्बी है तो दूसरी खर्चीली और सतही है। ऐसी स्थिति में आवश्यकता इस बात की है कि उपलब्ध दोनों व्यवस्थाओं में समय के साथ-साथ जो कमियां आ गई है। उन्हें दूर कर पुनः नई शक्ति और ऊर्जा के साथ क्रियान्वित किया जाए तो निश्चित रूप से अच्छे परिणाम सामने आयेंगे।'[14] गुणवत्ता प्रयोग की दृष्टि से गुरू-शिष्य का रिश्ता अटूट है चाहे कोई

भी युग हो और साधन कितने भी सुलभ क्यों न हो। संस्थागत सुलभता के साथ अगर गुरू-शिष्य पद्धति और संगीत मुल्य शिक्षण का सामंजस्य हो तो न गुरू का महत्व कम होगा और न छात्र-शिष्य की योग्यता में कोई कमी। इस बंधन की विश्व व्यापकता पर किसी विद्वान की यह पंक्तियाँ सही बैठती है :

We come from darkness
yet another darkness is ignorance
let the light be revealed to both teacher
and student there is relationship
let there be no hatred between two
let there be peace
let there be no disturbance
in the three structure of the body,
the mind and senses
so that this commitment continues
so that this relationship flowers.

सहायक स्रोतः

1. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड 92/3 पृष्ठ 921
2. T.S. Sodhi, G.S. Sandhu, S. Balwant Singh, Philosphies of Education, The Indian Publishers, Ambala, 1988, P. 185.
3. रामप्रसाद, त्रिपाठी, हिन्दी विश्वकोश, पृष्ठ 467
4. छज्जुराम शास्त्री, भगीरथ शास्त्री, देव शर्मा शास्त्री, संस्कृत-हिन्दी कोष, पृष्ठ 72-73
5. भाई काहन सिंह नाभा, गुरूषबदरतनाकर महानकोष, भाषा विभाग पंजाब, पटिआला, पृष्ठ 314
6. सत्य प्रकाश और बलभद्र प्रसाद मिश्र (संम्पाः), मानक अंग्रेजी-हिन्दी कोश, पृष्ठ 389
7. डॉ. अमर सिंह धालीवाल, विधियक मनोविज्ञान, पब्लिकेशन ब्यूरो पंजाबी युनीवर्सिटी पटिआला, 1977, पृष्ठ 4
8. गुरू गीता, सदगुरू की महिमा, पृष्ठ 17/1
9. रामधारी सिंह दिनकर, सभ्याचार के चार अध्याय, पब्लिकेशन ब्यूरो पंजाबी युनीवर्सिटी पटिआला 1992, पृष्ठ 208
10. आदि ग्रंथ, पृष्ठ 469
11. आदि ग्रंथ, पृष्ठ 462
12. Pandit Debu chaudhari, Indian Music and Ustad Mustaq Ali Khan, Preface.
13. प्रो. स्वतन्त्र शर्मा, सौन्दर्य रस एवं संगीत, पृष्ठ 288
14. डॉ. तृप्त कपूर, उत्तर भारत में संगीत शिक्षा, पृष्ठ 159

ok

शब्द-कीर्तन में प्रयोग किए गायन-रूप

डॉ. हरजस कौर

गुरमति-संगीत के आधार-ग्रन्थ 'श्री गुरूग्रंथ साहिब' में दर्ज वाणी के संचार के लिए गुरू साहिबान ने अलग-अलग काव्य/गायन-रूपों को प्रयोग में लिया। गुरमति-संगीत में इन गायन-रूपों के मौलिक रूप का अध्ययन करें तो इस गायन-प्रबन्ध के विलक्षण चित्र हमारे सामने आते हैं। 'श्री गुरूग्रंथ साहिब' की संपादना रागात्मक है और समूचे 'श्री गुरूग्रंथ साहिब' से गुरमति-संगीत का एक विशिष्ट प्रबन्ध उजागर होता है जिसके आधार पर अलग-अलग गायन-रूप/शैलियाँ अपना निश्चित विधि-विधान रखते है और गुरमति-संगीत के दृष्टिकोण से इनका प्रमुख महत्व है। 'श्री गुरूग्रंथ साहिब' में पहले सनातनी; शास्त्रीबद्ध, फिर लोक; देशीबद्ध काव्यरूप/शैलियों को रखा गया है, जिनका वर्णन इस प्रकार हैः-

सनातनी; शास्त्रीयबद्ध अंग के गायन रूप

यह वह गायन-रूप है, जो मूल रूप में भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रचलित है और इन गायन-रूपों को अंग रूप में अपनाकर इनसे सबंधित काव्य-रूप में वाणी को गुरमति संगीत-प्रबन्ध के अंतर्गत किया गया है।

अष्टपदीः अष्टपदी 'श्री गुरूग्रंथ साहिब' का महत्वपूर्ण काव्यरूप है। इसका काव्यात्मक और सांगीतिक रूप सनातनी उच्चता का धरणी है। गुरूवाणी के अन्तर्गत अष्टपदी में मानव-जीवन के साधारण किस्म के विषय को मूर्तिमान किया गया है। आठ पदों की रचना को अष्टपदी कहते है, किंतु गुरूवाणी में अष्टपदी के अधीन पदों की गिनती आठ से बढ़कर नौ, दस, ग्यारह और आठ से कम होकर सात भी मिलती है। अष्टपदी में इन पदों के अलावा तुकों में भी भिन्नता पाई जाती है। पदों में चार तुकों के अलावा तीन, दो अथवा एक तुक भी दृष्टिगोचर होती है।

भारतीय संगीत के अध्ययन से भी पता चलता है कि गुरू साहिबान से पूर्व अष्टपदी का प्रबन्ध-शैली के रूप में प्रचार था। प्रबंध एक विषय नियमबद्ध रचना है, जिसके चार भाग-उद्ग्राह, ध्रुव, मेलापक और आभोग हैं। बारहवीं सदी के भक्त-कवि और महान् संगीतकार जयदेव द्वारा रचित गीत गोविन्द की महत्त्वपूर्ण रचना अष्टपदी प्रबंध-गायन का उत्कृष्ट नमूना है। इस महान रचना गीत गोविन्द से प्रबन्ध शैली की प्राचीनता और महानता के बारे में पता लगता है। गुरू साहिबान द्वारा रचित अष्टपदियाँ भी प्रबन्ध-गायन का उत्तम नमूना है।

पदः पद, काव्य का पुरातन और प्रचलित रूप है, जिसकी संगीत में गायन करने की अपनी ही परम्परा है। 'संगीत भाष्य' में पद की परिभाषा इस तरह दी गई है-जिन विशेष अक्षरों या वाक्य समूहों से किसी गत या गीत का बोध हो उस शब्दावली को पद कहा जाता है।[1] पद को राग पद, राग प्रकाशक पद और स्वर शब्द भी कहा जाता है।[2]

'श्री गुरूग्रंथ साहिब' में लगभग समूह गुरू साहिबान और संत व भक्तों ने पद गायन शैली का प्रयोग अपनी वाणी के गायन के लिए किया। गुरूवाणी में बंद या तुकों की संख्या के आधार पर ही पदों के नाम शीर्षक रूप में अंकित है। दो बंदों को दुपदे, तीन बंद के पद को तिपदे, चार बंद के पद को चौपदे, इसी तरह पंचपदे और छहपदे आदि कहते है।

एसोसिएट प्रोफेसर, गायन विभाग, गवर्नमेंट कॉलेज, रोपड़

पद शैली को मध्य काल में प्रचलित ध्रुपद अंग या ध्रुपद शैली में गाए जाने की रीति प्रचार में थी। ध्रुपद शैली का प्रयोग ईश्वर की गुण गाथा के लिए किया जाता था जिसके चार अंग स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग है। भारतीय संगीत के महान संगीतकार स्वामी हरिदास, उनके शिष्य तानसेन, बैजू बावरा, रामदास आदि संत कवियों में भक्त-कबीर, सूरदास आदि द्वारा रचित पद ध्रुपद गायन शैली के उत्तम नमूने हैं।

'श्री गुरूग्रंथ साहिब' में दर्ज पद शैली में रहाओ की तुक का ध्रुपद की जगह 'ध्रुव' नाम दिया है। शब्द की शेष तुकों के अन्त में 1, 2, 3 के रूप में अंक स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग ध्रुपद के नियमों के अनुसार कार्यशील रहते हैं।'श्री गुरूग्रंथ साहिब' में वाणी प्रधान होने के कारण ध्रुपद शैली के इन शास्त्रीय नियमों से छूट भी ले ली जाती है। उदाहरण के तौर पर दुपदे, तिपदे आदि में ध्रुपद के सभी अंग नहीं है, पर इनका गायन ध्रुपद अंग से ही किया जाता है। गुरमति-संगीत की प्रधान पद शैली को ध्रुपद अंग से गाए जाने की परंपरा वाणी प्रबन्ध की विशिष्टता है।

<u>होली</u>: गुरवाणी में होली से सम्बन्धित शब्दों को भारतीय संगीत में प्रचलित धमार अंग से गायन करने की परम्परा है। धमार शैली श्रृंगार रस प्रधन है। धमार ताल में इसका गायन करने पर, उसको धमार-शैली कहा जाता है। इस के दो भाग स्थायी और अन्तरा होते है और विभिन्न लयकारी एवं बोलतानों आदि से इसे सजाया जाता है।

'श्री गुरूग्रंथ साहिब' में दर्ज होली के शब्दों में रहाओं का प्रयोग स्थायी और अंतरा में विभाजित किया गया है। इसमें रहाओं की तुक के इलावा शेष सभी तुकें अंतरे की होती है। इसमें प्रत्येक अंतरे के बाद रहाओं की तुक का गायन किया जाता है। गुरूवाणी में होली के शब्दों को गुरमति-संगीत-प्रबन्ध के अनुसार धमार अंग से गायन करने की परम्परा वाणी प्रबन्ध की उच्चता की धरणी है।

<u>पड़ताल</u>: पड़ताल गुरमति संगीत का एक विशिष्ट और अप्रसिद्ध (काव्य रूप है जो संगीत के गायन पक्ष में भी शैलियों से निराला और महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वर्तमान समय में पड़ताल-शैली का भारतीय संगीत में प्रचलन नहीं है, परन्तु पड़ताल शैली का भारतीय संगीत ग्रन्थों में 'पंचतालेश्वर' नामक गायन शैली के साथ इनका प्रत्यक्ष तौर पर सम्बन्ध जोड़ा जाता है।[3]

पड़ताल शैली की रचना पड़ताल शब्दों के मेल से हुई है। इसके शाब्दिक अर्थों को देखा जाए तो 'ताल के आधर पर शब्द का पाठ' बनता है। 'पड़ताल' को पट ताल, परत पाल, पंच ताल, पड़त ताल आदि नामों से भी सम्बोधित किया जाता है। एक शब्द या पद के अलग-अलग तालों में गायन को 'पड़ताल' कहा जाता है। जैसे एक बन्दिश में अलग-अलग रागों के प्रयोग को 'राग सागर' या 'राग माला' कहते है, उसी तरह एक ही बन्दिश में अलग-अलग तालों के अन्तर्गत गीत का गायन करना 'पड़ताल' है।[4] 'गुरमति संगीत' की इस अद्वितीय गायन शैली का स्वरूप, समय के काल चक्र में अप्रचलित होने से इस शैली के तालों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हो गए। 'पड़ताल-शैली' में विभिन्न तालों के प्रयोग के बावजूद राग एक ही रहता है। 'पड़ताल' का गायन करने के लिए शेष शैलियों की तरह 'रहाओं' की तुक का स्थायी के रूप में किसी एक ताल के अन्तर्गत रखा जाता है। अन्तरे की तुक के बाद ताल से तिहाई लगाकर स्थायी की तुक का गायन किया जाता है। अगर तिहाई न हो तो शब्दों को दुहरा कर सा तान लेकर पूरा किया जाता है। इसके अलावा साधरण रूप से सम से स्थायी में प्रवेश किया जाता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि अन्तरे की अलग-अलग तुकों के गायन के लिए प्रयोग किए गए तालों की लय स्थायी की तुक के लिए प्रयोग किए गए तालों की मात्राओं के समान होनी चाहिए। अन्तरे की ये तुकें सम्बन्धित ताल के एक, दो या अधिक आवर्तन की भी हो सकती है।

'पड़ताल' एक कठिन गायन शैली है। 'पड़ताल' के गायन के लिए गायक को जहाँ ज्यादा रियाज़ की ज़रूरत है, वहाँ ध्रुपद, धमार और बाकी गायन शैलियों का पूर्ण ज्ञान भी आवश्यक है, क्योंकि इस शैली में इन गायन शैलियों के रंग भी नजर आते हैं।

रियाज से ही तालों का बदलाव सहज रूप में हो सकता है और गुरमति संगीत के अनुसार शब्द-प्रधन गायकी के लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।

लोक ; देसीबद्ध अंग के गायन रूप

यह गायन रूप वे है जो अलग-अलग इलाकों, जातियों तथा प्रांतों के लोक-जीवन में निजी सामूहिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते है। गुरवाणी में लोक अंग के गायन रूपों को गुरमति संगीत-प्रबन्ध के अन्तर्गत रख कर इनमें अभिव्यक्ति को अनुशासित किया गया है। इन लोक रूपों को राग, ध्वनि, रहाओ, अंक आदि संकेतों के साथ स्वरूप दिया गया है। इनके बारे में विस्तृत वर्णन इस प्रकार है:-

'छंत': 'छंत' पंजाबी काव्य का अंग है। लोगों में इसका प्रयोग उन गीतों के लिए होता है जो विवाह के अवसर पर लाड़ा अपनी सालियों को सुनाता है।[5] विवाह-शादी के मौके पर गाए जाने वाले गीतों को 'छंत' कहा जाता है। 'छंत' श्रृंगारिक काव्य का उत्तम नमूना है। पंजाबी लोक छंत में 'छंत' की तुकों को दो भागों में विभाजित करके प्रत्येक भाग के अन्तिम शब्द को लम्बा करके टिकाव सहित गाते हैं। इन 'छंतों' का गायन ज्यादातर पीलू तथा खमाज जैसे रागों में किया जाता है।

'श्री गुरूग्रंथ साहिब' में दर्ज 'छंतों' के आमतौर पर चार बंद होते हैं और प्रत्येक बंद में छह तुक होती है। पर गुरवाणी में छंत के पदों की संख्या सात, आठ, नौ और सत्तरह भी मिलती है। 'छंत' में दर्ज अंक एक 'छंत' पूरा होने का सूचक है। 'छंत' का गायन क्रमवार गायन करने की रीति है। इसलिए छंतों को स्थायी-अन्तरे में विभाजित नहीं किया गया।

सिक्ख जगत् में रात को 'श्री गुरूग्रंथ साहिब' के सुखासन-उपरांत महाराज की सवारी को विश्राम के स्थान पर ले जाते समय 'जिथै जाइ बहे मेरा सतिगुरू' 'छंत' का गायन किया जाता है। इसका गायन चलते-चलते बिना साज के सामूहिक रूप में किया जाता है। इसके अलावा 'आसा की वार' में श्री गुरू रामदास जी द्वारा रचित 'छंतों' अर्थात् 'छंदो' को रोजाना गायन करने की परंपरा है।

अलाहुणी: 'अलाहुणी' शब्द अलाहणा से बना है, जिसका अर्थ है गाना। 'अलाहुणी' का शाब्दिक अर्थ है शलाघा या स्तुति की कविता यानी यह गीत जिसमें किसी के गुण गाए जाएँ। खास करके दिवंगत प्राणी के गुण-कर्म कहकर जो गीत गाया जाता है उसका नाम 'अलाहुणी' है।[6] 'अलाहुणी' गायन करने की अपनी ही परंपरा है, यह मृतक प्राणी की बिरादरी की सभी औरतें मिलकर गाती हैं। सभी औरतें एक गोल चक्कर में खड़ी हो जाती हैं और बीच में नैण या मरासण खडी होती है। मरासण 'अलाहुणी' बोलती है और साथ ही सभी अपने हाथ छाती और पेटों पर मारकर पीटती हैं। सभी के हाथ एक लय में उठते हैं। 'अलाहुणी' का गायन बिना साज के किया जाता है, इसकी अपनी ही एक पहचान है। इसमें खास टेक आलाप या लयकारी होती है जो उस दृश्य को अत्यन्त शोकाकुल करूणामय बना देता है।

गुरवाणी के अन्तर्गत 'अलाहुणी' में संसार को नाशवान् बताते हुए, जीव को परमात्मा की रज़ा में रहने, उत्तम काम करने, मौत को याद रखने और प्रभु भक्ति का उपदेश दिया है। 'अलाहुणी' का गायन प्राणी के अकाल अवसान के उपरान्त देह को दाह देने के बाद किया जाता है।[7] 'श्री गुरूग्रंथ साहिब' में दर्ज 'अलाहुणी' के चार बंद हैं और प्रत्येक बंद में छह तुक अंकित है। राग 'बड़हंस' के दक्षिणी प्रकार की 'अलाहुणी' में आठ बंद हैं और प्रत्येक बंद चार तुक का धरणी है। इसमें स्थायी के तौर पर 'रहाओ' की तुक भी अंकित है, जबकि शेष को स्थायी व अन्तरे में विभाजित नहीं किया गया। यह क्रमवार ही गाई जाती हैं। 'अलाहुणी' के अनुकूल वातावरण के लिए जहाँ रोवण, मरने, रोईयै, विछोड़ा, पछताए आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है वहाँ गायन की मूल भावना को ध्यान मे रखते हुए लयकारी और टेक के अनुकूल अन्तिम शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो 'अलाहुणी' की खास पहचान है।

मुन्दावणी: 'मुन्दावणी' का अर्थ है बुझारत अड़ाउणी, जिसमें भाव या अर्थ गुप्त बंद करके या छिपा के रखा हो, ऐसी बात जो जल्दी से किसी की समझ में न आ सकती हो।[8] 'मुन्दावणी'एक रीत है, जो पोठोहार में अभी भी प्रचलित है। इसके अनुसार

बराती जब खाना खाने बैठते हैं तो लड़कियाँ बुझारत पाकर थाली बाँध देती हैं, वह बुझ ली जाए तो बराती खाना खाते हैं, इसी को 'मुन्दावणी' कहा जाता है। इन गीतों में थाल में परोसी वस्तुओं का जिक्र होता है।

गुरवाणी में भाई काहन सिंह नाभा के अनुसार 'मुन्दावणी' मुहर या छाप लगाने की क्रिया है। 'मुन्दावणी' 'श्री गुरूग्रंथ साहिब' के विषय अनुसार, इसकी अन्तिम मुहर है। जो कोई इस नाम को गाएगा, विचार करेगा, उसका कल्याण होगा। ज़ाहिर है, 'मुन्दावणी' 'श्री गुरूग्रंथ साहिब' में दार्शनिक बुझारत के अर्थों में तथा मुहर के अर्थों में भी है।[9] सिख धर्म में 'मुन्दावणी' का श्री गुरू साहिब के पाठ की समाप्ति के समय और रोजाना शाम को रहिरास पाठ में भी गायन करने की अपनी परम्परा है। इसका गायन बिना साज़ के सामूहिक रूप में किया जाता है।

<u>घोड़ीयाँ</u>: 'घोड़ीयाँ' पंजाब का लोकप्रिय काव्य-रूप है। विवाह के मौक़े पर लाड़े ;वर के घोड़ी चढ़ते समय बहनें अपने वीर का शगुन मनाने के लिए जिस प्रकार का गीत गाती हैं, उसे 'घोड़ी' लोक काव्य रूप के अन्तर्गत जाना जाता है। 'घोड़ी' में तुक के अन्तिम शब्द को विशेष लयकारी सहित गाया जाता है और उसके लिए किसी भी साज का प्रयोग नहीं किया जाता पर विवाह से कुछ दिन पहले शगुन के तौर पर 'घोड़ी' के लिए ढोलकी का प्रयोग किया जाता है।

गुरूवाणी के अधीन 'घोड़ीयों' में परमात्मा का नाम स्मरण करके प्रभु के मिलाप के साधनों का वर्णन है और इनके लिए गुरमति संगीत-प्रबन्ध को ध्यान में रखते हुए शास्त्रीय सांगीतिक संकेत राग, 'रहाओ' और 'अंक' का प्रयोग किया गया है। यह 'घोड़ीयाँ' स्थायी तथा अन्तरे में विभाजित होने से इनको लोक संगीत की तरह क्रमबार गायन करने की बजाए अन्तरियाँ सहित गायन करने की परम्परा है।

<u>अंजली</u>: पाणी की चुली; जलांजलि देवता या पितरों को अर्पित करने की रीति से सम्बन्धित काव्य रूप है। लोक-विश्वास के अनुसार यह पानी मरे हुए प्राणी को आगे वाले लोक में प्राप्त होता है। गुरवाणी के अन्तर्गत रूपकार की दृष्टि से 'अंजली' में आठ-आठ बंद है और प्रत्येक बंद की पहली दो तुकें छोटी और तीसरी तुक लम्बी है। इनमे 'रहाओ' की तुक का पालन नहीं किया गया है। इन रचनाओं में वृक्ष के रूप में संसार की नश्वरता का वर्णन है।

<u>वार</u>: 'वार' पंजाब के लोक संगीत का अटूट अंग है, जिस में बहादुर वीरों की लड़ाई तथा शूरवीरता को संगीतमयी प्रस्तुति द्वारा पेश किया गया है। इसके गायक को 'ढाढ़ी' कहा जाता है, जो वारों को संबंधित इलाकायी धुनों के अनुसार गाते हैं। 'वार' वीर रस से भरपूर होने से इसका गायन बुलंद आवाज़ तथा ज़्यादातर तार सप्तक में किया जाता है। 'वार' के गायन के लिए ढड और सारंगी का प्रयोग किया जाता है। ढड के ऊपर चार मात्रा के बोल 'गे, तिट, ता, गेता' बजाए जाते हैं।

गुरवाणी के अन्तर्गत 'वारों' में अध्यात्म मार्ग पर चलते समय उत्पन्न दुनियां की मोह-माया, विषय विकारों के साथ युद्ध का वर्णन है। इन 'वारों' में सामाजिक, सदाचारक मूल्यों द्वारा आध्यात्मिक अनुभव का बोध कराया गया है। 'श्री गुरूग्रंथ साहिब' में कुछ वारों को गुरू साहिबान के समय प्रचलित निश्चित धुनों पर गायन करने के संकेत है, जैसेः-

- वार माझ की तथा सलोक महला [9]
- मलक मुरीद तथा चंद्रहड़ा सोहीआ की धुनी गावणी[10]
- आसा महला वार सलोका नालि सलोक भी पहले-पहिले के लिखे टुण्डे असराजै की धुनी।[11]

इन वारों पर गायन की धुनों के संकेतों से 'वार' की प्राचीनता और लोकप्रियता के बारे में पता लगता है। 'वारों' पर लोक धुनों के साथ राग, आदि के संकेत शीर्षक रूप में विद्यमान हैं। लोक संगीत के मिश्र रूप इन 'वारों' का गायन करना कोई सहज कार्य नही है।

गायन रूपों का प्रस्तुति-विधान

गुरमति संगीत में प्रयोग किए गए गायन रूप शास्त्रीय और लोक-अंग के धरणी हैं। गुरमति संगीत के प्रयोजन की सिद्धि के लिए इन गायन-रूपों को

'गुरमति संगीत प्रबंध' के अधीन रखा गया है। इसमें जहाँ शास्त्रीय काव्य के अन्तर्गत प्रयोग में आने वाले शास्त्रीय गायन रूपों को राग, स्थायी और अन्तरा में निबद्ध करने के संकेत और शीर्षक दिए गए हैं, वहाँ लोक अंग की 'अलाहुणीयाँ', 'घोड़ीयाँ' आदि शैलियों को भी राग, स्थायी, अन्तरा आदि के अनुसार निबद्ध करने का आदेश दिया गया है। गुरू साहिबान ने इन गायन रूपों के लिए जहाँ विशिष्ट संगीत प्रबन्ध की सिरजना, सर्जना की, वहाँ इनकी प्रस्तुति की विधि और लक्षणों का भी वर्णन किया है, जिसके अनुसार हऊमै के त्याग के साथ-साथ 'आत्म समर्पण' गुरमति के अनुसार ही होना, तथा सहज जीवन जैसे नियम को पूर्ण रूप में धारण करना है।

- इकि गावत रहे मनि सादु न पाइ।।[12]
- आप गावाऐ सु हरि गुन गाऊ।।[13]
- गुरमति बाजै सबद अनाहदु
  गुरमति मनुआ गावै।।[14]
- सहजे गाविआ थाइ पवै
  बिनु सहजे कथनी बादि।।[15]

सहायक ग्रन्थों की सूची

1. बंधोपाध्याय श्री पद, 'संगीत भाष्य', पृष्ठ 206
2. चौधरी विमलाकांत राय 'भारतीय संगीत कोष', पृष्ठ 70
3. श्री मानवली रामकृष्ण कवि 'भरत कोष', पृष्ठ 344
4. नरूला, दर्शन सिंह; डॉ. 'गुरवाणी संगीत बारे', पृष्ठ 76
5. 'पंजाबी कोष'; भाग दूसरा, भाषा विभाग, पृष्ठ 433
6. भाई काहन सिंह नाभा, ' महान कोष', पृष्ठ 85
7. 'गुरमति संगीत पर हुण तक मिली खोज'; भाग चौथा, पृष्ठ 141
8. भाई वीर सिंह, 'श्री गुरू ग्रन्थ कोष', पृष्ठ 744
9. गिल, महिंदर कौर, 'आदि ग्रन्थ लोक रूप', पृष्ठ 86
10. 'आदि ग्रन्थ' पृष्ठ 137
11. वही, पृष्ठ 462
12. गउड़ी गुयारेरी महला, 'आदि ग्रन्थ', पृष्ठ 158
13. गउड़ी सुखमनी महला , अष्टपदी, 'आदि ग्रन्थ', पृष्ठ 270
14. गउड़ी पूरबी महला, 'आदि ग्रन्थ', पृष्ठ 172
15. सिरी राग महला, वही ', पृष्ठ 6

स्वरों की अवधारणा, साधना एवं अभिव्यंजना

डॉ. रीना सहाय

स्वरों एवं रोगों की उत्पत्ति के कारण रूप में संगीतज्ञों ने नाद का उल्लेख किया है, जिसमें वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि नाद के बिना गीत नहीं हो सकता, स्वर नहीं हो सकता तथा शिव नहीं प्राप्त हो सकता है-

न नादेन विना गीतं, न नादेन विना स्वरः।
न नादेन विना ज्ञानं, न नादेन विना शिवः।।

नाद के ऊपर हमारे प्राचीन विद्वानों ने बहुत गूढ़ अध्ययन किया एवं लिखा भी है। हमारे मस्तिष्क में अमूर्त रूप से ध्वनि के प्रति एक संवेदनशीलता जुड़ी हुई है, जिसमें चेतनावस्था में तो कानों द्वारा ध्वनि (स्वर) गूंजती ही है लेकिन अचेतन अवस्था में भी कुछ ध्वनि तरंगों का आभास होता है जो बाहरी संसार से प्राप्त ध्वनि को दबाकर अपना ही एक मंडल बना लेती है और साधक के लिए तन्मयता या एकाग्रता लाने में सहायक होती है। वास्तव में यह ध्वनिमंडल इतना अधिक शक्तिशाली और व्यापक है, जिसमें मनुष्य अपनी आस्था को भुला कर उसी में तल्लीन हो जाता है। वैष्णव भक्ति में भगवान श्रीकृष्ण की वंशी में ध्वनि की ऐसी ही तल्लीनता अनुभव की गई है। अनहद नाद सुनने वाले योगी इसी प्रकार तल्लीन होकर समाधि में बैठे रहते थे। कहा गया है कि शुद्ध विचार, शुद्ध भाव एवं सात्त्विक व्यवहार रखते हुए संगीत की साधना में समाधिस्थ व्यक्ति वास्तव में ब्रह्मलीन होकर ब्रह्मानंद की प्राप्ति कर सकता है। कबीर के अनुसार नाद मनुष्य की अंतरात्मा की ध्वनि है-

इस घट अंतर अनहद गर्जै, इसी में उठत फुहारा।
संत कबीर सुनो भाई साधो, इसी में साईं हमारा।।

हिन्दुत्व में नाद चिदाकाश की ध्वनि को कहा गया है। संस्कृत शब्द 'नद' का अर्थ होता है- प्रवाह। संभवतः यहाँ नाद का अर्थ चेतना के प्रवाह से लिया गया है। 'पाणिनि' के अनुसार आत्मा को बोलने की इच्छा होती है, वह बुद्धि को प्रेरित करती है। बुद्धि मन को, मन शरीर में स्थित अग्नि को प्रेरित करती है। तत्पचात् प्राणवायु शरीर के विभिन्न भागों में संचरण करके मन्द्र, मध्य एवं तार स्थानों के विभिन्न स्वरों को उत्पन्न करता है।

कहा गया है कि सर्वप्रथम ब्रह्माजी को ब्रह्म की अनुभूति ऊँ की ध्वनि या शब्द में, सांगीतिक स्वर के रूप में हुई। ऊँ शब्द एवं स्वर अर्थात् - साहित्य एवं संगीत का आदि समन्वित रूप माना गया है। साम सप्तक में गांधर्व (गायन) के सप्त स्वरों का अन्वेषण ऋषियों द्वारा किया गया। आचार्य मतंग के अनुसार सामवेद से ही स्वरों की उत्पत्ति हुई। स्वरों से ग्राम बने- सामवेदात् स्वरा जाताः स्वरेभ्योर्ग्राम संभवः।[1]

अर्थात्- सामवेद से ही स्वरों की उत्पत्ति हुई और स्वरों से ग्राम बने। सात स्वरों की खोज के बाद उनके षड्जादि नामकरण हुए।

पं. तुलसीदास देवांगन कहते हैं- अव्यय, अव्यक्त, निराकर, ब्रह्म का अनुभव सर्वप्रथम सांगीतिक स्वर के रूप में हुआ। विशेष उल्लेखनीय है कि बाइबिल में भी सृष्टि के आदि में शब्द ब्रह्मा की स्थिति मानी गई है।[2]

'in the beginning there was God, the word was with God and the word was God.'

अर्थात्- सृष्टि के आदि में शब्द था। वह ब्रह्म (ईश्वर) के साथ ही था और वह शब्द ईश्वर था।

अध्यक्ष, संगीत विभाग, श्री अरविन्द महिला कॉलेज, पटना

बाद में ऋषियों के स्वरों की खोज के अनुसार स्वरों का नामकरण किया गया। ऋषिगण स्वरों के स्त्रष्टा नहीं द्रष्टा थे। स्वरों की व्युत्पत्ति- विद्वानों के मतानुसार स्वयं राजन्ते इति स्वराः अर्थात्- जो स्वयं रंजित है वह स्वर है। भरतभाष्यम् के अनुसार- स्वयं रंजक होने से स्वर नाम दिया गया है।[3]

मतंग के अनुसार दीर्प्थक अर्थात्- प्रभायुक्त राज धातु के पूर्व में 'स्व' शब्द लगाने से स्वर शब्द निष्पन्न होता है, जो किसी अन्य का आश्रय लिये बिना शोभित होता है।[4] आचार्य कोहल के अनुसार मधुर रंजित ध्वनि स्वर है। अभिनवगुप्त के अनुसार जाति-राग भाषा भेद से जो स्वयं राजित, शोभायमान, रंजक रूप धारण करता है, वह स्वर है। श्रुति-स्थान में आघात से उत्पन्न अनुरणानात्मक मधुर शब्द स्वर है। पं. शारंगदेव के अनुसार तार पर आघात करते ही उत्पन्न अनुरणनहीन, रंजक रूप धारण करता है, वह स्वर है। श्रुति-स्थान में आघात से उत्पन्न अनुरणानात्मक मधुर शब्द स्वर है। पं. शारंगदेव के अनुसार तार पर आघात करते ही उत्पन्न अनुरणनहीन ध्वनि श्रुति तथा उसके पश्चात् अनुरणनात्मक ध्वनि स्वर है। दत्तिलम के अनुसार यह ध्वनि विशेष जो कानों से सुना जाता है, श्रुति है। वही श्रुतियाँ जब गीतों में गायी जाती है, अर्थात् प्रयुक्त होती हैं, तब उन्हें स्वरत्व प्राप्त होता है। अहोबल के अनुसार- श्रवणत्व गुण के कारण श्रुतियाँ ही रागों में व्यवहृत होने के कारण स्वर बन जाती है। कोशाग्र अंतर पर वीणा में श्रुतियाँ रहती है। बाइस श्रुतियाँ षडज पंचम भाव से संबद्ध रहती हैं। स्वर अनुरणानात्मक रहते हैं और श्रुति केवल अनुभव पर आधारित है।

वैदिक काल में ही सात स्वरों के सप्तक की स्थापना हो चुकी थी। सामवेद में स्थापित ये सात स्वर- काल क्रम में षड्ज, ऋषभ् गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद नामों से जाने गए। सामवेद ऊँ शब्द के उच्चारण से शुरू होता था जिसे 'आर्चिका' कहा जाता था। पहले एक ही स्वर पर ऊँ को बार-बार उच्चारित किया जाता था। यह स्वर 'उदात' कहलाता है। फिर 'आर्चिका' से ऊपर एक और स्वर मिलाया गया और दो स्वरों में 'ओम्' का उच्चारण होने लगा। इसे 'गाथा' की संज्ञा दी गई। डॉ. एम. आर गौतम अपनी पुस्तक (म्यूजिकल हेरिटेज ऑफ इंडिया, पृ. 3) में लिखते हैं कि 'इसे समझने के लिए यदि 'आर्चिका' का 'सा' मानें तो दूसरा 'गाथा' का स्वर रे होगा। अर्थात् ' अब रे-सा, पर ऊँ का उच्चारण होने लगा। कालक्रम में इन दो स्वरों में तीसरा, गांधार स्वर रे से ऊपर जोड़ा गया तथा उसे 'सामिका' की संज्ञा दी गई। इन तीन स्वरों में सामवेद का संगीत प्रारंभ हुआ। तीन स्वरों के समूह से पहले अर्थात्- 'सामिका' से पहले की अवस्था सांगीतिक नहीं कही जा सकती थी। 'सामिका' में एक चौथा स्वर निषाद् जोड़ा गया जिसका स्थान 'सा' से नीचे था- 'स्वरान्तर' की संज्ञा दी गई तथा 'ग, रे, सा, नी' स्वर समूह तैयार हुआ। फिर दो और स्वर 'नी' से नीचे जोड़े गए जिन्हें 'मन्द्र' और 'अतिस्वार्य' नाम दिए गए। मन्द्र का अर्थ है नीचे। अतिस्वार्य का तात्पर्य अंत या सीमा से है। छः स्वरों के समूह में सातवाँ स्वर 'क्रुष्टा' जोड़ा गया। क्रुष्टा से लेकर 'अतिस्वार्य' तक, अवरोही क्रम में सात स्वरों का समूह बना। ये सात स्वर निम्न रूप से व्यवस्थित किए गए- 'क्रुष्टा, प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, मन्द्र एवं अतिस्वार्य।'

इन नामों में प्रथमा, द्वितीया, तृतीया एवं चतुर्थी समय या अपनी संख्या दिखाते हैं, जबकि मन्द्र एवं अतिस्वार्य सप्तक में अपना स्थान बताते हैं। 'क्रुष्टा' संज्ञा से उसके गुण स्पष्ट होते हैं इससे यह बात सामने आती है कि साम स्वर सप्तक एक ही बार में तैयार नहीं हुआ बल्कि इनके बीच समय का अंतराल काफी लंबा था। स्वरों को 'यम' कहा जाता था। साम सप्तक की वर्तमान स्वर सप्तक से तुलना करते हुए उसे वर्तमान 'काफी' मेल के समान बताया गया है जिसमें गांधार एवं निषाद कोमल हैं, बाकी स्वर शुद्ध-

यथा- सा रे ग् म प ध नि् (काफी मेल, वर्तमान स्वरों में)।

सामवेद में 'ताल' का उल्लेख नहीं है- 'लय' का संकेत है। दाहिने हाथ की ऊँगलियों पर अलग-अलग स्वर दिखाए जाते थे। हाथ को 'गात्र-वीणा' की संज्ञा दी गई। गात्र अर्थात्- शरीर, वीणा-वाद्य यंत्र। यह संसार की सबसे प्राचीन स्वर व्यवस्था है। वैदिक काल से लेकर शिक्षा ग्रंथों के काल तक के बीच में किसी समय 'स्वरों' की संज्ञा 'यम' बदल कर 'स्वर' हो गई। साथ ही साम सप्तक भी अवरोही क्रम उलट कर सा, रे, ग, म, प,

ध, नी, सां- इस क्रम में आ गया। इन सात स्वरों का संबंध संस्कृत ग्रंथों में सात ऋषियों, देवताओं, वर्णों एवं रंगों के साथ बताया गया है। पं. तुलसीराम देवांगन के अनुसार स्वरों के साथ द्वीपों का संबंध स्थापित करने का तात्पर्य यह है कि इन द्वीपों में स्वरों के साक्षात्कार के लिए प्रयत्न किये गये। इस सिद्धान्त से यह ध्वनित होता है कि सात स्वरों की खोज करने का श्रेय संपूर्ण संसार को है। इसीलिए सात स्वरों के बाद आठवें स्वर की खोज नहीं की जा सकती है। संगीत, शास्त्रों में विभिन्न पशु पक्षियों की बोलियों से भी सप्त स्वरों की तुलना की गयी है। मतंग की 'वृहद्देशी' में 'कोहल' के नाम से निम्नलिखित लोक उपलब्ध है-

षडजं वदति मयूरो, ऋषभ चातको वदेत्।
अजा वदति गांधारं क्रौंचो वदति मध्यमम्।।
पुष्प साधारणे काले कोकिलः पंचमं वदेत्।
सर्वदा च तथादेवि! निषाद। वदेत् गजः।।

अर्थात्- मयूर षड्ज में, चातक ऋषभ में, बकरी गांधार में क्रौंच मध्यम में, वसंत ऋतु के समय कोकिल पंचम में, वर्षा ऋतु के समय दादुर धैवत में और हाथी निषाद् में बोलता है।

वैदिक स्वर- संज्ञाओं एवं व्याकरण- शास्त्र दोनों में उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित स्वर हैं। तुलसीदास देवांगन ने इसकी स्पष्टता इन शब्दों द्वारा की है- 'विकासवादी विचारधारा के अनुसार कुछ विद्वानों का मत है कि ये तीन संज्ञाएँ व्याकरण-शास्त्र की हैं। बाद के संगीत शास्त्रकारों ने इनको ग्रहण कर लिया। ऋचाओं को जब सामगीतों के रूप में गाया जाने लगा, तब गद्य स्वराघातों की उच्च-नीचता सांगीतिक उच्च-नीचता में परिणत हो गयी।' उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित-इन तीन संज्ञाओं में स्वरित को समाहार यानी जोड़ में स्थित बताया गया है। सप्त स्वरों में 'मध्यम' मध्य में समाहार रूप स्वरित बन जाता है। सा रे ग और प ध नी के बीच समाहार मध्यम स्वरित है। सप्तक के दो भाग पूर्वांग एवं उत्तरांग होते हैं। उत्तरांग में निषाद् ऊँचा है और पूर्वांग में गांधार, ये उदात्त है। धैवत और ऋषभ इन उदात्त स्वरों से नीचे है और ये अनुदात्त कहे जाते हैं। इस उच्च आर नीच के बीच स्वरित की स्थिति है।

विभिन्न संगीतकारों ने इन स्वरों की व्याख्या की है जो निम्नलिखित है- नारदीय शिक्षा-

स्वरो उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एवं च।

स्वरप्रधानं त्रैस्वर्य व्यंजनं तेन सस्वरम्।।
उदात्ते निषादगांधारावनुदात्त ऋषभ धैवतो।
स्वरित प्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपंचमा।।

पाणिनि- उच्चेरुदात्तः नीचैरुदात्तः समाहारः स्वरितः।

वैदिक काल में ही संगीत की तीनों विधाएँ गायन, वादन एवं नृत्य लोकप्रिय हो चुकी थीं। यज्ञ कार्यों के लिए इनका प्रयोग होता था। यद्यपि उनका लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति ही था तथापित सभी अपने-अपने कार्यों द्वारा भगवान की पूजा करते थे। वैदिक काव्यात्मकता की धारा निरन्तर प्रवाहित रही और उसकी सङ्गीतात्मकता परवर्ती साहित्य में परिलक्षित होती है। लोकमानस को इसने सदा आलोकित किये रखा। उपनिषद्ों में विद्याओं के दो विभाजन हैं- परा और अपरा। परा से अक्षर और अव्यक्त परमात्मा की अभिव्यक्ति होती है। अपरा में ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के साथ समस्त वेदांगों का अन्तर्भाव किया गया है। प्राचीन वैदिक परम्परानुसार साम का आधार स्वर है और स्वर का आधार प्राण। यज्ञ की सफलता के लिये स्वर सम्पन्न गान परमावश्यक है। गीत, वाद्य तथा नृत्य से प्राप्त आनन्द को अलौकिक माना गया है। संगीत से निष्पन्न होने वाला रस विशुद्ध और ब्राह्मानन्द सहोदर बताया गया है।

उपनिषद् काल के संगीत कला में निपुण वर्ग को परमानन्द का उपभोक्ता माना जाता था। शिक्षा ग्रन्थों में संगीत के इन विषयों का विवेचन हुआ है- १. वर्ण, २. स्वर, ३. मात्रा, 4. बल, ५. साम, ६. सन्तान।. शिक्षा ग्रन्थों में प्राचीन ध्वनि-विज्ञान की विस्तृत चर्चा है। नारदीय शिक्षा में स्वर, राग, तान का विवेचन उपलब्ध है। ग्रन्थकार ने स्वरमण्डल के अन्तर्गत सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छनाएँ तथा उनन्चास तानों का अन्तर्भाव बताया है। शिक्षा में षड्ज, मध्यम एवं गांधार तीनों ग्रामों की चर्चा है। स्वर और राग के विशिष्ट संयोजन के लिए 'ग्रामराग' संज्ञा है। इक्कीस मूर्च्छनाओं में सात का सम्बंध देवताओं से, सात का पितरों से एव सात का ऋषियों के साथ स्थापित किया गया है।

शिक्षाकार के अनुसार षड्ज, मध्यम तथा पंचम ब्राह्मण जाति के, ऋषभ, धैवत, क्षत्रिय, गांधार तथा निषाद अर्ध वैश्य तथा अर्ध शूद्र जाति के हैं। यह धारणा परवर्ती संगीतज्ञों में भी रही। पंडित लोचन ने राग तरंगिणी ग्रन्थ में संख्या के आधार पर रागों की जातियाँ बतायी है- सम्पूर्ण स्वर (सातों स्वर) ब्राह्मण जाति के, षाड़व, (६ स्वरों का समूह) क्षत्रिय जाति के तथा औड़व (पाँच स्वरों का समूह) वैश्य अथवा शुद्ध जाति के होते हैं। शिक्षा ग्रन्थों में अर्थात् नारदीय शिक्षा, माण्डुकी एवं याज्ञवल्क्य शिक्षाओं में गान्धर्व के षड्जादि स्वरों का प्राणियों की ध्वनि के साथ संबंध स्थापित किया गया है। स्वरों के साथ देवताओं का संबंध इस प्रकार दिखाया गया है-षड्ज के देवता ब्रह्मा, ऋषभ के अग्नि, गांधार के गौ, मध्यम के विष्णु तथा पंचम के देवता चन्द्रमा है। धैवत की सार्थकता अन्य अभी स्वरों का अतिसन्धान करने में है तथा निषाद अन्य सभी स्वरों में विलीन होकर सार्थक होता है। विशिष्ट सामों को विशिष्ट कला ऋतुओं में गाने का विधान भी वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। इसी नियम का गांधर्व एवं देशी में काल व ऋतुओं पर आधारित रागगान पर प्रभाव ाना जा सकता है। वैदिक काल में वेदो के यथार्थ उच्चारण का अभूतपूर्व महत्त्व था। यहाँ तक कि एकाध वर्ण का अशुद्ध उच्चारण अपार हानि की सम्भावनाओं से भरा रहा था। वेदों के स्वर तथा वर्णों की व्यवस्थित शिक्षा प्राचीन शिक्षा शास्त्र का महत्वपूर्ण अंग थी। वैदिक ऋचाओं के अध्ययन से इस शिक्षा का निकटतम संबंध होने के कारण वर्णों तथा स्वरों के उच्चारण शास्त्र को 'शिक्षा' नाम से संबोधित किया जाने लगा। सायणानुसार- विविध वेदों के स्वर, वर्ण आदि की उच्चारण-विधि की शिक्षा जिसमें दी जाती है, वही शिक्षा-ग्रन्थ है।

आचार्य भरतकृत नाट्यशास्त्र संगीत का आदिग्रंथ माना गया है। इस ग्रंथ में संगीत को नाटक का अंग बताया गया है। 28वें से 33वें अध्याय तक संगीत की विशद् व्याख्या की गई है।

आचार्य भरत के सप्त स्वर-

षड़जच ऋषभचैव गान्धारो मध्यमस्तथा।
पंचमो धैवतश्चैव सप्तम्रोयं निषाद्वान।।

यहाँ षड्ज चौथी श्रुति पर, रे सातवीं पर, गांधार नवीं पर, मध्यम तेरहवीं पर, पंचम सत्रहवीं पर, धैवत बीसवीं पर एवं निषाद बाइसवीं श्रुति पर है। मध्यकाल तक के संगीतज्ञों के दिए गए शुद्ध स्वरों एवं श्रुतियों के नाम इसी व्यवस्था के अनुकूल हैं-

तीव्रा, कुमूहती, मन्दा, छन्दोवती-षड्ज स्वर की चार श्रुतियाँ
दयावती, रंजनी, रक्तिका ऋषम की तीन श्रुतियाँ
रौद्री, क्रोधा-गांधार की दो श्रुतियाँ
वज्रिका, प्रसारिणी प्रीति, मार्जनी- मध्यम की चार श्रुतियाँ
क्षिति रक्ता, संदीपनी, आलापिनी-पंचम की चार श्रुतियाँ
मन्ती, रोहिणी, रम्या-धैवत की तीन श्रुतियाँ
उग्रा, क्षोभिणी-निषाद की दो श्रुतियाँ

साधारण स्वर- आचार्य भरत के अनुसार साधारण स्वर वे हैं जहाँ पूर्व स्थिति का अंत न हो और आगे स्थिति प्राप्त न हो। इन दोनों स्थितियों के बीच का स्वर 'साधारण स्वर' कहलाता हैं भरत की स्वर व्यवस्था में गांधार नवीं श्रुति पर है और मध्यम तेरहवीं पर। गांधार अपनी 9वीं श्रुति को छोड़कर ग्यारहवीं पर जाता तो अंतर गांधार कहलाता है। इसी प्रकार निषाद अपनी बाइसवीं श्रुति से ऊपर की ओर दूसरी श्रुति पर जाता है तो वह काकली निषाद कहलाता है।

अंतर गांधार में अंतर तात्पर्य गांधार एवं मध्यम के बीच के अंतर से है इसी प्रकार काकली का तात्पर्य कलत्व, मधुरता, खिंचाव से होता है। इन दोनों स्थितियों में गांधार और निषाद अपनी पूर्व स्थिति पर नहीं है और अगले स्वर से पहले हैं, उन स्वरों के स्थान पर नहीं। यह स्वर साधारण है। बाद के ग्रंथकारों ने साधारण स्वर संज्ञा का प्रयोग किया। स्वर व्यंजन के गुणों की व्याख्या मुनि मतंग ने 'वृहद्देशी' में किया है। डॉ. प्रेमलता शर्मा द्वारा संपादित 'मतंग मुनि प्रणीत वृहद्देशी' में व्याख्या इस प्रकार है-

वह जो अन्य स्वरों की अपेक्षा हृदय में जल्दी पहुँच जाए 'ऋषभ' है। जिस प्रकार बड़ा बैल अन्य गायों के बीच खड़ा होकर भव्य मालूम पड़ता है, उसी प्रकार स्वर-ग्राम में 'ऋषभ' का स्थान है।

- वह जो सांगीतिक वाक् को ग्रहण करता है, 'गांधार' संज्ञा से जाना जाता है।

- 'मध्यम' सात स्वरों में ठीक मध्य में होने के कारण 'मध्यम' कहलाता है।
- 'पंचम' स्वरों के विस्तार का मापदंड है या फिर पाठ क्रम में 5वा स्थान है।
- 'धीवान' वह है जिसके पास 'धी' (बुद्धि) है। बुद्धि से धैवत संबंधित है। इसका स्थान स्वरों में छठा है एवं शरीर में यह ललाट पर स्थित है।
- 'निषाद' को यह संज्ञा दी गई है क्योंकि सभी स्वर इसी पर ठहरे हुए हैं।

मानव शरीर के चक्रों के अनुसार सात स्वरों का संबंध इस निम्न प्रकार बताया गया है-

स्वर चक्र

षड्ज-साऋषभगांधारमध्यमपंचमधैवतनिषाद
मूलाधारस्वाष्ठिष्यनमणिपुरअनाहतविशुद्धिआज्ञासहस्त्रर्द्ध

इस प्रकार स्वरों की अवधारणा के साथ-साथ स्वरों को आध्यात्मिक भावनाओं से जोड़ा गया। संवेदनशील संगीतज्ञों ने स्वरों की गहन साधना की। ऐसी साधना जहा साधक एवं साधना एक-दूसरे में विलीन हो जाते हैं वहीं संगीत प्रस्फुटित होता है।

प्राचीन ग्रंथकारों ने संगीत के स्वरों को वर्ण, ऋषि, देवता एवं कुल से जोड़ा है। मध्यकालीन संगीत ग्रंथों में भी इसकी व्याख्या की गई है।

भरतभाष्यम् तथा संगीत-रत्नाकर में ऋषियों एवं देवताओं के साथ स्वरों का संबंध-

स्वर	वर्ण
ऋषि	देवता
कुल	

षड्ज- साऋषभ- रेगांधार- गमध्यम- मपंचम- पधैवत- धनिषाद- नि

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यब्राह्मणब्राह्मणक्षत्रियवैश्य
अग्निब्रह्माचन्द्रमाविष्णुनारदतुम्बरुतुम्बरु
ब्रह्मा,अग्नि, ब्रह्मासरस्वतीपंकरचन्द्र,
विष्णुइन्द्र, चन्द्रसूर्य अग्नि देवऋषिदेवदेवपितृऋषिअसुर

राग मानवीय भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। रोगों में लगनेवाले स्वर एवं उनका विशिष्ट प्रयोगों द्वारा, जिसे राग की चलन करते हैं, राग की रूपरेखा तैयार होती है। ऐसे तो प्रत्येक स्वर की अपनी प्रकृति होती है। परन्तु भावुक संगीत के श्रोताओं के लिए यह अनुभव करना कठिन नहीं है कि एक ही स्वर भिन्न-भिन्न स्वरों के साथ मिलकर भिन्न-भिन्न भाव अभिव्यक्त करते है। स्वरों का कोमल या शुद्ध रूप भी भावों में विभिन्नता ला देता है। विरह में डूबी नायिका की मनःस्थिति यदि कोमल ऋषभ, गांधार, धवत जैसे स्वरों द्वारा प्रकट हो सकती है तो वीर नायक के उत्साह एवं वीरता शुद्ध स्वरों में प्रतिबिम्बित होता है। साधारण कोमल ऋषभ, धवत और गांधार एवं भक्तिरस प्रधान हैं। इनके साथ तीव्र मध्यम और शुद्ध निषाद की संगति इन भावभिव्यक्ति में सहायक होती है। राग तोड़ी कोमल ऋषभ आसावरी, भैरवी (शुद्ध), भैरव विलासखानी तोड़ी, विभास तथा भैरव के अन्य प्रकारों में ये भाव समाहित हैं। शुद्ध गांधार, शुद्ध ऋषभ तथा धवत शुद्ध मध्यम के साथ शृंगार रस का भाव देते हैं। शुद्ध ऋषभ एवं शुद्ध धवत आत्मविश्वास एवं उत्साह का संकेत देते हैं वहीं कोमल ऋषभ और धवैत की संगति निरूत्साह एवं निराशा का भाव प्रदर्शित करती है। जब कोमल ऋषभ, शुद्ध मध्यम के स्पर्श के साथ आंदोलित होता है और उसका संवाद कोमल धवत के साथ होता है तथा उसमें भक्ति भाव एवं शांत रस स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

स्वरों की यही अभिव्यंजना शक्ति भारतीय शास्त्रीय संगीत की मौलिकता है। संगीत चाहे किसी भी विधा में हो, स्वर ही उसकी पहचान बनते हैं।

संदर्भ ग्रंथ :-

भारतीय संगीतशास्त्र- पं तुलसीदास देवांगन, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, मध्य प्रदेश, भोपाल।

भारतीय संगीत का इतिहास- ठाकुर जयदेव सिंह, संगीत रिसर्च अकादमी, कलकत्ता।

भारतीय संगीत का इतिहास- श्री शरत्चन्द्र श्रीधर परांजपे, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।

Sangeet Ratnakar of Sarangdev- R.K. Shringy, under supervision of Dr. Premlata Sharma, Publisher- Motilal Banarsidas.

Musical Heritage of India- Dr. M.R. Gautam.

भारतीय शास्त्रीय संगीत में गुरू व दीक्षा संस्कार

कुमारी आकांक्षा तिवारी

प्रस्तुत शीर्षक पर लिखना कठिन चुनौती है क्योंकि भारतीय शास्त्रिय संगीत व गुरू दीक्षा से जुड़े दोनो शब्द का सम्बंध आत्मा से है जिसे केवल एहसास से नाप जोख कर अनुभूति के द्वारा जाना जा सकता है शब्दों में वर्णन अत्यन्त दुरूह कार्य है इसे सरल करने के दृष्टिकोण से मैं अपने लेखन को खुद से ही प्रारम्भ करती हूँ। होश सम्भालते ही मैने अपनी प्रथम गुरू "माँ" के मुख से सुना–

"गुरूर ब्रम्हा गुरूर विष्णु
गुरूर देवो महेश्वरा,
गुरूर साक्षात परब्राम्ह,
तस्मैंय श्री गुरूवे नमः"

कालान्तर में समझ बढ़ी मैं शिशु मंदिर सतना की विद्यार्थी हुई तत्पचात् बढ़ते हुये क्रम में आज काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में गायन शोधरती के रूप मे अध्ययनरत हूँ जहाँ मैने समस्त आचार्यजन व गुरूजनों से जाना गुरू देवो भव यह मेरा अपना निजी अनुभव है कि बिना गुरू के कृपा के बिना शिष्य के अन्तरप्रदेश में अंधकार दूर नहीं हो सकता क्योंकि गुरू सामाजिक प्राणी होते हुये भी अपने शिष्यों के देवता होते हैं, अर्थात् देव स्वरूप होते हैं वह समय के अन्तराल में मेरी यह धारणा प्रबल होती गई कि गुरू अपने शिष्य के सबल व निर्बल पक्षों को भली भाँति जानते व समझते हैं तत्पश्चात् शिष्य रूपी कच्चे घड़े को आवश्यकतानुसार स्नेह व चोट देकर पूर्णतः खरा घट निर्माण करते हैं। गुरू शिष्य के विषय में एक पौराणिक धारणा है कि गुरू हमेशा शिष्य को शिष्यत्व में लेने से पूर्व पूर्णत संतुष्ट होने पर भी शिष्य का चयन करते हैं व उनका कथन उनका कथन है कि जिस तरह से शिष्य को अच्छे गुरू की तलाश होती है। उसी तरह गुरू भी अच्छे शिष्य की प्रतीक्षा में रहते हैं क्योंकि गुरू शिष्य की परम्परा में संगीत ज्ञान दान सुपात्र के लिये ही निर्दिष्ट है क्योंकि कुपात्र को ज्ञान-दान काठ स्तम्भ में जलसिंचन की भाँति है। घटना उस समय की है जब संगीत शिरोमणि तानसेन सामर्थ गुरू की तलाश में भटकते हुये स्वामी हरिदास जी के चौखट पर पहुँचे तो उन्हें गुरू की कठिन परीक्षा से गुजरना पड़ा था। तत्पश्चात् ही वह शिष्यत्व प्राप्त कर सके थे।

गुरू के विषय में कबीर दास जी लिखते हैं कि-

"ऐतन विषय की बेलिरी,
गुरू अमृत की खान,
शीस दिये जो गुरू मिले,
तो भी सस्ता जान,"

भारतीय शास्त्रीय संगीत भी आत्मजनित क्षमताओं व उसके विश्लेषण का विषय है जिसे मात्र स्कूल शिक्षा या उच्च विश्वविद्यालयीन शिक्षा के माध्यम से पूर्णता से अर्जित नहीं किया जा सकता है क्योंकि एक गुरू व अनेक शिष्यों का समूह ठीक उसी तरह से प्रयासरत होते हैं जिस तरह कोई विद्युत कर्मी ढेरो रंग चिह्न विहीन विद्युत तारो में करेन्ट प्रवहित करने का असफल प्रयास कर रहा हो कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय शास्त्रिय संगीत में जब तक शिष्य गुरू के अन्तरमन के तारो से अपने अन्तरमन का सही सामंजस्य स्थापित नहीं कर पायेगा तब तक उसका अन्तर प्रदेश संगीत के ज्ञान से प्रकाशित नहीं होगा। इसलिये इसे समझने के इच्छुक शिष्यों को एक गुरू एक शिष्य पद्धति से भारतीय शास्त्रीय संगीत की शिक्षा का विधान है जो इस भागते युग में लगभग

शोध छात्रा, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, बी.एच.यू., वाराणसी

लुप्त प्राय होने की कगार में है व इसे संरक्षण व संवर्धन की अत्यन्त आवश्यकता है। प्राचीनकाल में उक्त विधा मंदिरो से प्रारम्भ होकर राजाश्रय में रहते हुये पूर्णरूपेण विकसित होती रही है जो आज एकदमिक शिक्षा में परिवर्तित होने से विकास के पथ पर स्वतंत्रता से न तो चल पा रही है न विकास हो पा रहा है। आज आश्यकता है पुनः उसी गुरू शिष्य परम्परा की ताकि शास्त्रीय संगीत में साधना करने के इच्छुक विद्यार्थी विधिवत गुरू शिष्य परम्परा में दीक्षित हो भारतीय शास्त्रीय संगीत का गहराई से अभ्यास चिंतन व मनन कर सकते हैं।

भारतीय शास्त्रीय संगीत देवी, देवताओ से ऋषियों, तत्पश्चात् मानव समाज में अवतरित हुई है व इसे सामर्थ गुरू से दीक्षित हुये बिना करना तो दूर समझ पाना अत्यंत कठिन है।

संगीत शब्द का उच्चारण मात्र से मानव के अंतर्मन में अनेकानेक प्रकार की तरंगो का संचरण प्रारम्भ हो जाता है जिसमें लय ताल व स्वर का बोध होता है किन्तु अभ्यास के अभाव में सम्पूर्णता से समझ पाना अत्यन्य दुष्कर है सद्गुरू के अभाव में इस अंधकार को भेदा भी नहीं जा सकता है भारतीय अध्यात्म व संगीत में महापुरूषों का वाक्य है की "सद्गुरू की शरण में जाओ संपूर्ण योग की कुंजी मिलेगी" भारतीय शास्त्रीय संगीत को हमारे यहाँ सदैव आध्यात्म से जोड़कर ईश्वर साधना के रूप में लिया जाता है व साधक समर्थ गुरू के संरक्षण में सतत् अभ्यासरत होने का प्रयत्न करते हैं सहज दृष्टि से भी देखे तो मानव रूपी भौतिक संरचना में परमात्मा ने सांगीतिक ग्राहयता को पूर्णतया संचारित किया है इसका अभिप्राय ये कतई नहीं है की मनुष्य में सांगीतिक तत्वों का उक्त संचरण सांगीतिक बारीकियों के साथ है अगर यह कहे की यदि मनुष्य चाहे तो वह सामर्थ गुरू के सरंक्षण में जाकर अपने अंतर्मन में संचारित सांगीतिक बोध को विकसित कर चरमोत्कर्ष तक ले जा सकता है संभवतः इस सत्य का बोध होने पर मानव समाज में गुरू शिष्य परंपरा की अवधारणा की गयी होगी क्योंकि मानव में विद्यमान सांगीतिक तत्व का संबंध प्रकृति से है व इस कारण इसमें उम्र कभी भी आड़े नहीं आती अर्थात् प्रकृति की अनुकूलता या प्रतिकूलता पर ही हमारे अंतर्मन रूपी खेत की उर्वरा शक्ति निर्भर करती है कहने का तात्पर्य ये है कि यदि साधक (शिष्य) सकारात्मक सोच के साथ गुरू सेवा में तत्पर रहते हुए समर्पित भाव से साधना में रत हो जाये तो उसकी सांगीतिक उन्नति को रोकने की कोई भी नकारात्मक शक्ति उसके ऊपर कभी हावी नहीं होगी अर्थात् साधना क्रम में बोये गए सांगीतिक संस्कार रूपी बीज निःसंदेह संकुरित पुष्पित व पल्लवित होते हैं मानव समाज मे सांगीतिक क्षेत्र की उत्तरोत्तर वृद्धि बिना समर्थ गुरू के आशीर्वाद संभव नहीं हो सकती है गुरू शब्द अपने आप में दैवीय शक्ति की अनुभूति देता है इस कारण भारतीय शास्त्रीय संगीत में गुरू की सेवा व अनुसरण पर विशेष बल दिया गया है जहाँ एक साधक अपने गुरू की शरण में जाकर "सेवा साधना की आधारशिला है" को चरितार्थ करता है ।

सफलतम प्रयास साधक को शिखर पर स्थापित करती है क्योंकि यह ध्रुव सत्य है कि बिन गुरू ज्ञान की चाह कभी पूरी नहीं हो सकती गुरू ही शिष्य के अंतर्मन के अंदर रिक्त प्रदेश में फैले जिज्ञासा के अंधकार को दूर करने की क्षमता रखते हैं इसी कारण प्राचीन काल में गुरू शिष्य परंपरा का उद्भव हुआ होगा जिसे कालांतर में गुरू शिष्य परंपरा के नाम से जाना जाता है यथार्थ में हमें दिखाई देने वाली इस वसुंधरा में स्वरों के दर्शन अनुभव व अभ्यास के बल पर ही करते हुए संगीत के क्षेत्र की अनंत गहराईयों व उँचाईयों पर विचरण किया जा सकता है व इस दिव्य दर्शन समर्थ गुरू के अनुसरण के बिना संभव नहीं हो सकता अर्थात् संगीत पिपाशु (शिष्य) को चाहिए की वह इस भवसागर में विद्यमान संगीत पाने के लिए गुरू के सरंक्षण रूपी सीप के अन्दर अपने मूल स्वरूप एक जल बिंदु की भांति रहे व अपनी झूंठी समृद्धि का निरर्थक बोध कर क्षणिक ज्वारभाटे का स्वभाव त्यागते हुए अभ्यासरत रहे सच माने तो इसमें कोई संदेह नहीं है की अगर साधक सीप रूपी गुरू संरक्षण में कठोर अनुशासन के अंदर रह कर मर्यादा न लांघे तो आनें वाले समय में एक परिपक्व मोती रूप में समाज में प्रगट हो परिलक्षित व स्थापित होंगे अगर यह कहे की भारतीय शास्त्रीय संगीत में गुरू दीक्षा अत्यंत अनिवार्य संस्कार है इसके अभाव में भारतीय शास्त्रीय संगीत को पूर्णतया से जान पाना असंभव है।

पारम्परिक रचना-चैती

डॉ. विजय कपूर

ऋतु का प्रारंभ चैत महीने से ही माना गया है। यह महीना अंग्रेजी के मार्च-अप्रैल के मध्य से पड़ता है। लोक संगीत के इस विशेष क्षेत्रों में 'चैती' गायन शैली होती हैं। चैत मास की लोक गायन शैली चैती के गीतों से प्रारंभ होती है। मौसमी गीतों के अन्तर्गत चैती गीतों का सांगीतिक परिचय दिया जा रहा है। चैती ऋतु गीतों के भावों को बतलाते हुए डॉ. जयकान्त मिश्रा ने कहा है : "Chaita And 'Phagu' songs are full of colourful loved, but 'Malara' and Soetimes 'Basanta' display highly poetic sentiments."

चैत मास में गाये जाने के कारण इसका नाम 'चैता' या 'चैती' पड़ा। चैती उत्तर प्रदेश एवं बिहार के कुछ क्षेत्रों में बहुत ही लोकप्रिय गायन शैली है। बिहार के कुछ भोजपुरी क्षेत्रों में इसे 'घाटो' भी कहते हैं। नैथिली में चैतावर तो मगही में 'चैतार' लोक भाषा के नाम से जानी जाती है। परन्तु लोक गीतों के माधुर्य, सरलता कई भावनाओं को यह गीत शैली अभिव्यक्त करती है।

यहाँ पर 'चैती' और चैता या घाटों गायन शैली की विविधता थोड़ी अलग रूप में दिखाई पड़ती है। देखा जाय तो 'चैती' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट होता है स्त्रिलिंग बोधक और 'चैता' पुलिंग है। चैती की गायन शैली विशेषकर कर स्त्रियों के पक्ष से ही ज्यादा सुनाई पड़ती है। लेकिन इसका कोई विशेष तात्पर्य नहीं कि पुरूष वर्ग इसे नहीं गा सकता है। विभिन्न रसों से ओत-प्रोत, बिरह श्रृंगार, सामाजिक एवं मौसम आदि प्रकार के शब्दों और भावों से सुसज्जित चैती लोकसंगीत अपने धुनों का विशेष महत्व दर्शाता है।

चैती के गीतों में भावपक्ष और कला पक्ष दोंनों प्रकार का प्रभाव है। इनमें जो अनायास भाव-सौंदर्य एवं अनुभूति प्राप्त होती है उसका कारण इनकी स्वाभाविक रचना-प्रणाली ही है। चैती गीतों में कहीं-कहीं भावं-व्यंजना अत्यन्त अनुपम जान पड़ती है।

इसी प्रकार चैतावर के एक गीत में करूण रस की व्यंजनाः

बहत बयरिया हो रामा
कि धीमी-धीमी रे
पवन झकोरा मधुर-मधुर
कथिला बहि दुख दीऊ
जाऊ बुझाऊ पहुना
धनिक विरह सुधि
कि धीमी-धीमी रे

इन सभी गीतों के माध्यम से साहित्य के सभी पक्ष उपलब्ध हैं। रस, अलंकार, लक्षण आदि के अतिरिक्त छोटे-छोटे कथा चित्र भी दिखाई पड़ते है।

चैती वर्ण्य विषय

इन गीतों में प्रेम के विविध रूप तो कहीं संयोग श्रृंगार की कहानी लिखी गई है, कहीं ननद-भावज की आपस में प्रेमालाप तो कहीं पनघट पर पानी भरते समय किसी दुचरित्र पुरूष की छेड़खानी का उल्लेख मिलता है। राधाकृष्ण के प्रेम प्रसंग में संयोग और वियोग श्रृंगार की चरम सीमा और कहीं राम-सीता का दाम्पत्य, प्रेम, कहीं दशरथ के घर भगवान राम के जन्म का आनन्दोत्सव को मंत्र मुग्ध करती है।

गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, बी.एच.यू., वाराणसी

एक नायिका बाग में फूल लोढ़ने की कल्पना में भावविभोर होकर एक ही फूल के रंग में अपनी चुनरी और प्रियतम की पगड़ी रंगाकर प्रेम में रंगना चाहती है।

कुसुमी लोढ़न हम जाइव हो रामा,
राजा जी के बगिया।
मोर चुनरिया सैंया तोर पगड़िया,
एक ही रंग रंगाइब हो रामा।

ननद पर भावज द्वारा आचरण पर आशंका करते हुए उक्त चैती के बोलः

आहो रामा हम तोसे पूछेली ननदी सुलोचनी हो रामा
तोहरे पिठिया, धुरिया कइसे लागल हो रामा
तोहरे पिठिया।

पति-पत्नी के बातों-बातों में तकरार होकर पति का रूठकर योगी हो जाना, तब पत्नी व्यग्र होकर किसी राहगीर से अपने प्रियतम का पता पूछना-

एहि ठईयों झुलनी हेराइल हो रामा
घरवा में खोजली, दुवरवा पे खोजलीं
खोजि अइली सइयाँ के सेजरिया हो रामा।

दैनिक जीवन के क्रिया कलापों के साथ ही इस गीत की पंक्ति में सामाजिक जीवन की बुराइयाँ तथा कुरीतियाँ भी चित्रित की गई है जो बाल विवाह के दुखद परिणाम को दर्शाता है।

रामा छोटका बलमुआ बड़ा लीक लागे हो रामा
अँचरा, ओढ़ाई, सुताई कि भरि कोरवा हो रामा
अँचरा ओढ़ाई।
रामा करवा फेरत पछुअवा गड़ि गइले हो रामा
सुसुकि रोवे रोवे सिरहनवा हो रामा
सुसुकि सुसुकि।।

चैत का महिना और चैती गीतों को कुछ धार्मिक रूप से भी जोड़ा गया है जैसा कि पुराणों में विदित है। शुक्ल नवमी को रामनवमी का त्योहार बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है इसी दिन पुरूषोत्तम राम ने अयोध्या में राजा दशरथ के घर अवतार लिया था।

दूसरी तरफ चैत के नवरात्र में जिसमें माँ दुर्गा के विभिन्न रूपों की नौ दिन स्तुति होती है इस दिन कुछ खास चैता गाने का इन क्षेत्रों में विशेष प्रावधान रहता है। चैती धुनों में भगवान राम के जन्म के अवसर विशेष, बधइयाँ, राजा दशरथ द्वारा प्रजा को दान देना, कैकेई द्वारा सोने की अंगुठी देना और सारी प्रजा में खुशी उल्लास का वर्णन किया जाता है।

रामा चढ़ते चइतवा राम जनमले हो रामा
घरे-घरे बाजेला अवध बधइया हो रामा,
रामा दशरथ लुटावे अनधन सोनवा हो
रामा कैकेई लुटावे सोने के मुनरिया हो रामा।

एक आदि भवानी से विनय करते कण्ठ में मधुर स्वर देने की प्रार्थना की गई है।

रामा पहिले मैं सुमिरों आदि भवानी हो रामा
कण्ठ सुखा, होखना सहइया हो रामा, कण्ठे सुखा।

लोक संगीत की दृष्टकोण से पूरे भारत वर्ष में यह चैत मास अपने-अपने लोक गायन की विधा से समृद्ध है। भाषा, अनेक बोल भले ही भिन्न-भिन्न प्रकार है, जलवायु, रहन-सहन अलग-अलग है लेकिन लोक भावनाएँ एवं उनमें लोक संगीत निश्चित रूप से अपने तरीके से पाये जाते हैं। एक लोकोक्ति जो मैंने ग्रामीण अंचलों से सुना था वो इस बात का प्रमाण देती हैः

कोस-कोस पर बदले पानी
दस कोस पर बदले बानी।

एक कोस अर्थात एक मील (3 किलोमीटर) पानी के स्वाद में अन्तर जलवायु के कारण सम्भव है तो दूसरी तरफ 30 किलोमीटर यानि दूसरा प्रान्त का आना स्वाभाविक है। लेकिन कहीं ना कहीं सांगीतिक और सांस्कृतिक लगाव एक लड़ी के रूप में जुड़ी हुई है।

ब्रज क्षेत्रों में चैत के महीने में देवी गीतों के साथ 'लँगुरिया' अवश्य ही गाया जाता है। उत्तर प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में तथा बिहार में चैत के महिने में एक 'छठ व्रत' भी मनाया जाता है जिसे छठ कहते हैं। यह छठ कार्तिक माह की छठ की ही भाँति मनाई जाती है। इस व्रत को 'संयत' कहते है। सूर्य को अर्ध्य चढ़ाते है, यानि डूबते सूरज और उगते सूरज को इस व्रत में प्रणाम करने की प्रथा है।

हिन्दी का सन्त साहित्य लोकगीतों से बहुत प्रभावित रहा है। कबीर, धर्मदास, दारिया साहब, सूरदास, तुलसी के भक्ति गीतों में लोक गीतों तथा

लोक भाषा झलक स्पष्ट है। इससे यह सिद्ध होता है कि लोक भाषा ही किसी परिमार्जित भाषा का आधार है। ठीक उसी प्रकार लोक संगीत में भी इन्ही प्रभावों का असर है। चैती गीतों की सामयिकता वर्षा के पहले महीने में है और यह धार्मिक रूप से सालों तक चलता रहे इसकी एक कल्पना भी हो सकती है।

चैती का सांगीतिक रूप

सांगीतिक रूप से इस लोक संगीत विधा को एक प्रकार ही माना जा सकता है। इसका उद्भव भी लोक संगीत के उद्भव के साथ ही हुआ होगा। ये अत्यंत ही कठिन विषय है कि लोक संगीत का इतिहास कब से अस्तित्व में आया। शब्दों आदि के दृष्टि से सार्थक भले ही नहीं रहा हो, परन्तु उसकी सार्थकता का प्रमाण उसका अपना अस्तित्व बतलाता है। चैती के सांगीतिक विकास एवं साहित्यिक विकास को देखना है तो इसके भाव पक्ष और कला पक्ष दोनों को देखना होगा। सांगीतिक पक्ष पर गहराई से देखने के बाद ये निष्कर्ष प्राप्त होता है की धुनों की मौलिकता कभी नष्ट नहीं हो सकती तथा स्थाई हैं। इस दृष्टि से गायन शैली अगर परिस्कृत रूप में होती है तो शैली की प्रस्तुति भी परिवर्तित होती जाती है। शास्त्रों के प्रमाणिकता के आधार पर ये सत्य है कि किसी भी देश-काल का परिमार्जित एवं विकसित संगीत उसके अपने लोक संगीत से ही उद्भूत हैं। लोक संगीत को परिस्कृत करके उसे अपने सीमावद्ध नियमों में बाँधकर शास्त्रीय संगीत को जन्म दिया गया है। ठीक उसी प्रकार लोकनृत्यों का परिष्कार हुआ तो शास्त्रीय नृत्य की परिकल्पना हुई। चैती की धुने जो गाँवों में जनमानस में है वो शास्त्रीयता से थोड़ी भिन्न दिखाई देती है। उन धुनों का और विकास अपेक्षित है जो आज तक नहीं हो सका। लेकिन उन तमाम विसंगतियों के बाद भी इस चैती धुन का राष्ट्रीय नहीं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी प्रचार प्रसार देखा जा रहा है। किसी संगीत की विधा को अगर प्रचार करना है तो सबसे बड़ी चीज उसका अपना माध्यम ही हो सकता है। चैती के सांगीतिक धुनों के अलावा अगर देखा जाय तो अन्य लोक धुनों को कम ही स्थान अभी तक प्राप्त हो सका है। लोक संगीत क प्रचार-प्रसार का सबसे बड़ा श्रेय शास्त्रीय गायकों या कलाकारों को जाता है, क्योंकि लोक कण्ठ से शास्त्रीय कण्ठ तक पहुँचाने का कार्य इन कलाकारो का दुलर्भ प्रयास ही है। धुनों की मौलिकता लोक क्षेत्रों में आज भी सुरक्षित है। शैली मात्र से थोड़ा अंतर जरूर आया है। चैती धुन केवल मात्र दक्षिण बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में ही प्रचलित है। मैथिली और मगही क्षेत्र के शास्त्रीय कलाकारों ने इसकी धुनों की मिठास सुनने के बाद ही अपनाया तथा अपने-अपने क्षेत्रों में प्रचार किया। ऐसी ही एक गीत का उदाहरण एक लोक पुस्तक से लिया गया है जो मैथिली भाषा में लिखित है:

अंगुरी में बिन्हलक नगिनिया हो रामा
सुसरा के कहबे भैसुर पतियायत
स्वामी मोर बिखिया उतारि देत हो रामा।

इस गीत का भाव भोजपुरी लोकसंगीत 'झूमर' से लिया गया है:

अंगुरी में डँसले विया नगिनिया रे
हे ननदी दियरा जरा दे।
दियरा जरा दऽ अपना भईया के जगादऽ
नसे-नसे चढ़ता जहरिया रे।

सन् 1846 में सैयद अली मुहम्मद 'शाद' एक कवि हुए जो पटना में रहकर 'फिकरे-वलीग' नामक पुस्तक की रचना की थी। इस पुस्तक में चैती का एक उदाहरण भी मिलता है:

काहे अइसन हरजाई हो रामा
तोरे जुलुमी नयना तरसाई हो रामा।
सास ननद मोका ताना देत हई
छोटका देवरा हँसि के बोलई हो रामा।

पछिया बयान (अंगिका गीत-संग्रह), परमानन्द पाण्डेय ने भी अंगिका भाषा में चैती को दर्शाया है। बज्जिका में डॉ. अजित नारायण सिंह 'तोमर' 19वी सदी में बिहार के सारन जिले के कवि सूरजमल, आदि अनेक कविगण प्राचीन काल से ही इस लोक संगीत को निश्चित ही आधार दिया है। आधुनिक कवियों ने भी इस परम्परागत शैली में नई-नई रचनाएँ लिखकर इनके भावों को संगीत से जोड़ा है। जहाँ

तक सांगीतिक में चैती का सवाल है तो यह पूर्ण रूपेण ठोस एवं सम्पूर्ण है। अगर गायन शैली की बात करते हैं तो संगीत के अन्तर्गत स्वर-ताल ही मुख्य उसके प्राण हैं। स्वर का सम्बन्ध श्रुतियों से तो ताल का तात्पर्य लय से है। जैसे कि एक मानव रूपी शरीर के दोनों अपनी भुजाएँ चैती गीतों को सुनने के बाद इस निष्कर्ष पर आना पड़ता है कि विशेष रूप से सात मात्रा या आठ मात्रा में ही गाया जाता है। सात मात्रा वाले तालों में 'रूपक' ताल या कहीं-कहीं सुविधानुसार चौदह मात्रा में 'जत' ताल का प्रयोग होता है। आठ मात्रा में गाई जाने वाली चैती लोक क्षेत्र अर्थात् गाँवों में पाँच और तीन मात्रा में लोक गायन की प्रथा है। आधुनिक रूप में आज इसका विभाजन चार-चार मात्रा में करके यानि 'कहरवा' ताल के अनुसार गाया जाता है। इसके अलावा किसी भी ताल में इसके गाने की प्रथा नहीं मिलती है।

चैती में लोक गायक एवं उप-शास्त्रीय गायक

स्वरों की दृष्टि से चैती किसी विशेष थाट या रागों के मूल स्वरों पर आधारित नहीं है। इसके स्वर समुदाय को देखते हुए थाट-विशेष में रखा जा सकता है। स्वर-संयोजन के लगाव को देखते हुए ये अधिकतर रूप से खमाज थाट में रखे गये हैं। चैती जो विशुद्ध रूप से सुनने को मिलती है वो एक मात्र लोक धुन ही है। कुछ शास्त्रिय गायकों ने इसे पीलू, तिलक कमोद की छाया में तो कुछ ने देश जैसे रागों में बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। इसकी धुनों को शास्त्रिय पद्धति से गाना संगीत की दृष्टि से भी अत्यन्त सुमधुर लगती है लेकिन लोकसंगीत की इस गायन शैली में लोक भावों का अभाव है।

कला पक्ष के संगीत की बात अगर करते हैं तो शास्त्रीय पक्ष के गायकी ने अपना प्रभाव कलात्मक रूप में अनूठे ढंग से छोड़ा है। इस क्रम में उत्तर प्रदेश ही नहीं बिहार के कलाकारों का योगदान विस्मरणीय रहेगा। पटना के लोहानीपुर के रहने वाले स्व. बाबू यामनारायण सिंह जो मूलतः हारमोनियम बादक थे, परन्तु गाते भी थे उनकी गायी गई एक चैती को राग पीलू में ठुमरी अंग से गाया जाता रहा है।

आइल चैत महिनवाँ हो रामा
पियरी ना पेन्हब।
दूसरी चैती :
सेज चढ़त डर लागे हो रामा
पायल मोरी बाजे

इस प्रकार की चैती में श्रृंगार-भाव का सुन्दर चित्रण मिलता है।

पंडित राम चतुर मल्लिकः अमता घराने से सम्बन्धित दरभंगा निवासी जो ध्रुपद और धमार के अंर्तराट्रीय स्तर के कलाकार थे, उन्होंने भी ध्रुपद-धमार शैली से चैती का गायन किया है।

श्री राम प्रसाद मिश्र 'रामू जी' वाराणसी के मूलतः निवासी थे जो बाद में गया में रहने लगे। बड़े रामदासजी के शिष्यत्व में खयाल और ठुमरी में अनोखी पैठ थी। उनकी एक गायी चैती जो आज प्रचलित है

एहि ठइयाँ झुलनी हेराइल हो रामा

बनारस में चैती गाने वाले कलाकारों में सुश्री निर्मला देवी, पं. हरिशंकर मिश्र, बागेश्वरी देवी, बड़ी मैना, पं. महादेव मिश्र, आदि प्रमुख रहे हैं। आधुनिक समय में श्रीमती गिरिजा देवी, पं. छन्नूलाल मिश्र प्रमुख रूप से बनारस में चैती का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

लोक गायकों की श्रेणी में अनेक कलाकार हैं जिनके पास चैती का अक्षय भण्डार है लेकिन साधन समपन्नता एवं परिचय सूत्र के अभाव में उनसे मिल पाना कठिन है। बहु चर्चित कलाकारों की श्रेणी में श्रीमती विन्धवासिनी देवी को कौन नहीं जानता। लोकगीतों के साथ-साथ चैती की धुनों और गीतों का अपार संग्रह आपकी गायकी में विद्यमान है। पटना की ही सुप्रसिद्ध लोक गायिका श्रीमती शारदा सिन्हा के अनेक चैती गीतें कैसेट के माध्यम से सुने जा सकते हैं। लोक गायक श्री भरत शर्मा ब्यास, बक्सर के रहने वाले चर्चित लोक कलाकार हैं। बिहार और दूर-दूर के क्षेत्रों में आपकी चैता गायकी का व्यापक प्रचार है।

इस प्रकार शास्त्रीय व लोक कलाकार चैती व चैता गायन शैली की परम्पराओं का निर्वाह कर रहे हैं।

विनय पत्रिका के संगीतीकरण में गोस्वामी तुलसीदास जी के उद्देश्य

डॉ. ज्योति विश्वकर्मा

गोस्वामी तुलसीदास साक्षात् भगवान वाल्मिकी के अवतार हैं। वे ऋषि हैं। 'ऋषियों मन्त्रद्रष्टारः।' वे मन्त्र के द्रष्टा हैं। अर्थात मंत्रों का साक्षात्कार उनके द्वारा ही हुआ है। इसलिए ऋषियों के वाणी को और ऋषियों के निहित उद्देश्यों को समझने का सबको अधिकार नहीं होता। ये जिन्हें समझा देते हैं वे ही उनके उद्देश्यों और उनके अर्थों को समझ पाते हैं। इसलिए भवभूति कहते हैं-

अलौकिका नाम है साधुनाम अर्थं वागुनुवर्तते,
ऋषिनां पूर्णराधानाम् वायमर्थोनु धावति।

लौकिक साधनों की वाणी सिद्ध नहीं होती। वह तो जैसा देखते हैं उसी प्रकार वाणी बोल देते हैं। किसी राजा को देखा तो उसके लिए कह दिया, तुम इन्द्र बन जाओ और कोई सामान्य जन को देखा तो कहा तुम सुखी रहो। परन्तु आद्यऋषियों के यहाँ ऐसा नहीं होता। वहाँ तो उनके वाणी का ही अर्थानुगमन करता है। अर्थात् उन्होने जिनको जो कह दिया वही हो गया। किसी सामान्य भिक्षुक को उन्होनें इन्द्र बनने का आशिर्वाद दिया तो वह इन्द्र बनेगा। और इन्द्र को अगर दरिद्र होने के लिए कह दिया तो वह दरिद्र होगा ही। इसलिए ऋषियों के उद्देश्य अत्यन्त गूढ़ होते हैं। उन्हें समझना सामान्य जीव के वश का नहीं होता। विनय-पत्रिका के संगीतीकरण में गोस्वामी जी के क्या उद्देश्य हो सकते हैं उनका यहाँ एक आनुमानिक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। जैसा कि यह सर्वविदित है कि संगीत सभी को भाव विभोर कर देता है। चाहे वह ईश्वर हो या सामान्य नर। संगीत का सम्बन्ध सामवेद से है। और सामवेद को भगवान ने गीता जी में अपनी विभूति कहा। 'वेदानाम सामवेदो अस्मि।' वेदों में सामवेद भगवान ही हैं। सामवेद भगवान को प्रसन्न करने का एक बहुत बड़ा अमोघ साधन है। कहा यह जाता है कि हमारे पूजा के प्रकरणों में जो घंटी बजायी जाती है उसमें गरूड़ देव का चित्र होता है। इसका तात्पर्य यह है गरूड़ देव के पंखों से सामवेद की ध्वनि निकलती है। अतः घंटी बजाकर हम गरूड़ देव के पंखे से निकलने वाले सामवेद की भावना करते हैं। गांधर्ववेद में अर्थात् संगीत सामवेद का ही उपवेद है। यह भी भगवान को बहुत प्रिय है। क्योंकि विनय-पत्रिका गोस्वामी जी कि अंतिम रचना कही जाती है। यद्यपि कतिपय अनुसंधानकर्ताओं ने गोस्वामी जी के बारह, पच्चीस, बावन आदि ग्रन्थों की कल्पना की है। परन्तु गहनतम विचार करने पर ये सिद्ध हो जाता है कि गोस्वामी जी के मूल ग्रन्थ मात्र नौ हैं। जैसे श्री रामचरितमानस महाकाव्य, गीतावली रामायण, कृष्ण गीतावली, कवितावली रामायण, हनुमान बाहुक, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, वैराग्य संदीपनी, बरवै रामायण और विनय पत्रिका। इनमें से रामचरितमानस पौराणिक महाकाव्य होने से उनका सूत काव्य है। कवितावली रामायण रामगीतावली और कृष्णगीतावली मागध काव्य है। जानकी मंगल, पार्वती मंगल, वैराग्य संदीपनी और बरवै रामायण उन्हीं के पोषक हैं, और विनय पत्रिका उनका बंदी काव्य है। यह प्रस्ताव व उक्ति की दृष्टि से संपन्न किया गया है। और जनश्रुति के आधार पर कहा यह जाता है कि रामचरित मानस की रचना

के पश्चात् जब सभी पापी यमलोक से स्वर्गलोक को जाने लगे तब कलिकाल ने गोस्वामी तुलसीदास जी को बहुत धमकाया कि आपने रामचरित मानस लिखकर सभी को स्वर्ग का अधिकारी बना दिया। ये उचित नहीं है। कलिकाल की धमकियों को देखकर गोस्वामी जी ने दुःखी मन से विनय-पत्रिका की रचना की। तब भगवान को एक पत्रिका लिखी। एक चिट्ठी लिखी, एक पाती लिखी। उसमें उन्होनें अपनी समस्त आपत्तियों का वर्णन किया और श्री हनुमान, श्री लक्ष्मण, श्री भरत और श्री शत्रुध्न लाल को साक्षी बनाकर वह पत्रिका राजदरबार में साकेताधिपति श्रीराम के चरणों में भिजवाई और लक्ष्मण जी ने तुलसीदास जी के सम्बन्ध में एक आख्यान प्रस्तुत किया और भगवान श्रीराम ने उनका समर्थन किया और हस्ताक्षर कर दिया।''

मुदित माथ नावत् बनी,
तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है।

विनय-पत्रिका अंतिम छन्द दो सौ उन्नासी (279)। इस उपब्रह्म से यह तथ्य निश्चित हो गया कि विनय-पत्रिका बंदी काव्य है। इससे भगवान को प्रसन्न करना ही गोस्वामी तुलसीदास जी का अभीष्ट है। कदाचित यही उद्देश्य गोस्वामी जी का है कि श्रीराम हमारे राजाधिराज हैं मैं उनको गा करके प्रसन्न करूँगा। और इसी दृष्टिकोण को पुरस्सर करके गोस्वामी जी ने विनय-पत्रिका का आरंभ गान से ही किया।

''गाइए गणपति जगवंदन।
संकर-सुवन भवानी-नंदन।।1।। [1]

गोस्वामी जी का पहला उद्देश्य है कि संगीतबद्ध भगवान की स्तुति। प्रभु को प्रसन्न करके उन्हें गायक के मनोमंदिर में बसा देती है। इसलिए गोस्वामी जी ने विनय-पत्रिका को संगीतबद्ध किया। क्योंकि गोस्वामी जी 'नानापुराण निगमागम समतम्' के पक्षधर हैं। शास्त्रों का मानना यह है कि शास्त्रीय विधि से गाया हुआ भगवत भक्ति से ओत-प्रोत गीत निश्चित रूप से परमात्मा को प्रसन्न कर लेता है। क्योंकि ईश्वर स्वर से प्रसन्न हा जाते हैं। जैसा कि पद्म पुराण में स्वयं कहते है कि-

नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदये न च मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद। [2]

अर्थात् हे नारद मैं वैकुण्ठ में नहीं रहता। योगियों के हृदय में नहीं रहता। मेरे भक्त जहाँ गाते हैं वही मैं रूक जाता हूँ। शिव जी मे प्रार्थना की -

वेदपुराण प्रगट जस जागै। तुलसी राम-भगति बर मागै।। [3]

गोस्वामी जी का इसमें क्या प्रयोजन हो सकता है? उद्देश्य और प्रयोजन एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। इसका उत्तर ये है कि गोस्वामी तुलसीदास जी यह जानते है कि भगवान के भजन के बिना व्यक्ति भव सागर से पार नहीं हो सकता। और कलियुग में भजन गायनात्मक ही होना चाहिए। इसलिए आज भी भगवत सम्बन्धी गीतों को लोग भजन ही कहतें हैं। ये भजने का एक माध्यम है। 'भज्यते भगवानयेण तद्भजनम्।' क्योंकि गोस्वामी जी ने जो दो प्रकार की नवधा भक्तियों की चर्चा मानस जी में की है। एक लक्ष्मण जी के सामने और दूसरी शबरी माँ के सामने। लक्ष्मण जी के समक्ष तो केवल गिना दिया है।

श्रवणादिक नव भक्ति दृढ़ाही। मम लीला रति अति मन माहीं। [4]

श्रवणादिक का तात्पर्य उस नवधा भक्ति से है जिसकी चर्चा श्रीमद्भागवत् जी के सप्तम स्कन्ध के पांचवें अध्याय में सतरहवें लोक में प्रहलाद ने हिरण्यकश्यप से की थी-

श्रवणं, कीर्तनं, विष्णुः स्मरणम् पाद सेवनम्
अर्चनम, बंदनम् दास्यम् सख्यं आत्म निवेदनम्। [5]

अर्थात् भगवान के गुणगान का श्रवण, भगवान का कीर्तन, भगवान का स्मरण, परमेश्वर के चरणारविन्द की सेवा, परमेश्वर की श्री चरण-कमल की पूजा, परमेश्वर का बंदन, उनके प्रति दास्य-भाव, परमेश्वर के प्रति सख्य अर्थात् विश्वास और उनके श्री चरणों में अपना सब कुछ समर्पण करना। ये नवधा भक्ति निश्चित रूप से संगीत मूलक है क्योंकि व्यक्ति संगीत को ही माध्यम बनाकर जब भगवत गुणगणों का श्रवण करता है तो उनके रूचि का

अनुभव होता है। और संगीत के माध्यम से ही जब वो गाता है तो संगीत प्रस्फुटित होता है।

इसलिए संगीतिकरण में मूल उद्देश्य है भगवान की भक्ति और वही भक्ति व्यक्ति को भव पार कर सकती है। क्योंकि गोस्वामी जी ने रामचरित मानस के उपहार को उपसंहार करते हुए एक बडी मधुर बात कही उत्तरकाण्ड के एक सौ चौबीस (124) दोहे की पांचवी पंक्ति-

"साधक सिद्ध विमुक्त उदासी।
कवि कोविद विरक्त संन्यासी।।
जोगी शूर सुतापस ग्यानी।
धर्म निरत पंडित विग्यानी।।
तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी।
राम नमामि नमामि नमामी।।"[6]

अर्थात चाहे साधक हो या सिद्ध, जीव मुक्त हो या उदासी, कवि हो या विरति, विरक्त हो या संन्यासी, योगी हो अथवा सहिष्णुता से मिला हो। तपस्वी हो या अग्यानी, धर्म में निरत हो या विद्वान, पंडित हो या विग्यानी कोई भी हो, तरहि न बिन सेए मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी।

जब तक भगवान श्रीराम जी की सेवा को नहीं करेगा तब-तक वह भव सागर से नही तर सकता और शरण में जाने पर मुझ जैसे पापी भी तर जाते है यह जीव की मान्यता है। इसका तात्पर्य यह है कि भगवान की सेवा के बिना दुखी संसार सागर से पार नहीं हो सकता और भगवान की सेवा बिना संगीत के नहीं हो सकती। अर्थात विनय-पत्रिका के संगीतिकरण में जो गोस्वामी जी का उद्देश्य है इसी माध्यम से परमेश्वर प्रसन्न होते है और हम जैसे जीव संसार सागर से पार हो सकते है।

तात्पर्य यही है कि भगवान के गुणों को गाते-गाते ही व्यक्ति के मन में निर्मलता आती है। मन को निर्मल करने का और कोई दूसरा साधन है ही नहीं। और उसके बिना भव सागर पार करने का पुनः अवसर नहीं हो सकता। इसलिए -

"कलियुग सम युग आन नहि जो नर कर विश्वास।
गाइ राम गुणगन विमल भव तरि बिनहि प्रयास।"[7]

संपूर्ण इस उपब्रम्हण से सह सिद्ध हुआ कि भगवान गुण-गान के बिना व्यक्ति भव सागर पार नहीं हो सकता। क्योंकि गोस्वामी जी भव-सागर से पार होना चाहते है। अतः भगवान का गुण-गान उनके लिए अभिष्ट है और उसका माध्यम है विनय-पत्रिका का संगीति-करण। विनय-पत्रिका में भी गोस्वामी जी ने यह प्रतिज्ञा की है कि -

मांगत तुलसीदास कर जोरे। बसहि राम सिय मानस मोरे।।
बेद पुराण प्रगट जस जागै। तुलसी राम भगति वर मागै।।[8]

इस तथ्य से कभी भी मुकरा नहीं जा सकता, कि संसार-सागर की तितिरिषा ही गोस्वामी जी की विनय-पत्रिका के संगीतीकरण का उद्देश्य प्रतीत होता है। और गोस्वामी तुलसीदास जी विनय-पत्रिका में प्रतिज्ञा करते है -

"जान की जग जननी जन की।
वचन किए सहाय,
तुलसीदासौ भव तव नाथ गुण गन गाए।"

अर्थात भव सागर से पार होना गोस्वामी जी का उद्देश्य है और वह बिना संगीतीकरण के संभव नही है। और अपने इस उद्देश्य को बहुत सुन्दर वैज्ञानिक रीति से स्पष्ट करते हुए गोस्वामी जी विनय-पत्रिका के (45वें) पैंतालीसवें पद में तो मानो अपने संपूर्ण उद्देश्यों की झड़ी लगा दी।

श्रीरामचन्द्र कृपाल भज मन हरण-भव भय दारूणं।[9]

हे मन भगवान श्रीराम का भजन क्यों करे? क्योंकि वे दारूण भव-भय को हरने वाले है।

प्रभु को हृदय कमल में विश्राम कराना है। और वह भगवत गुण-गान के बिना संभव नहीं है। यही उद्देश्य है विनय-पत्रिका के संगीतीकरण का। उन्होनें इसको और स्पष्ट किया। विनय-पत्रिका के 231वें पद में जहाँ वे कहते है- हे रसना तुम भगवान का गुणगान क्यों नही करती। तात्पर्य यही है उद्देश्यों में गोस्वामी जी ने अपनी बहुत सी बाते स्पष्ट की है यद्यपि उनका रघुनाथ गाथा के पीछे स्वान्तः सुखाय उनका स्वान्तः सुख उद्देश्य है। पर स्वान्तः सुख उनका संकीर्ण नहीं प्रत्युत व्यापक है। स्व का गोस्वामी जी बहुत सा अर्थ स्वीकार करते हैं। स्व माने आत्मा। संपूर्ण आत्माओं को सुखी करना ही उनका धर्म है।

अपने आत्मीय जनों को सुख देना है। अपने अन्तःकरण को ही प्रसन्न करना है। आत्मीयों को सुखी करना है। अपने मानव जाति को सुखी करना है। अपने धन को सुखी करना है। इस प्रकार स्वान्तः सुखाय में सब कुछ आ जाता है। परन्तु विनय-पत्रिका के संगीतिकरण में उनका मूल उद्देश्य यही प्रतीत होता है। इसी प्रकार वो भगवान को प्रसन्न करते है। और भगवान को बिना गायन के प्रसन्न नहीं किया जा सकता। वो राजाधिराज है। उनके पास जब कोई गाता है जब बंदी जन बंदना करते है तभी तो भगवान प्रसन्न होते है। अतएव विनय-पत्रिका के संगीतीकरण में गोस्वामी जी का स्पष्ट उद्देश्य है भगवान की प्रशंसा। और भगवान के प्रशंसा के साथ स्वयं का भव-सागर से पार होना। और इसके साथ संपूर्ण श्रीरामोपासकों को राममय बना देना यही विनय-पत्रिका के संगीतीकरण का उद्देश्य है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः-

1. विनय पत्रिका
2. पद्म पुराण
3. विनय पत्रिका
4. राम चरित मानस अरण्य काण्ड 16
5. श्रीमद्भागवत् /7/5/17
6. रा.म. उत्तरकाण्ड 124/5
7. मानस उत्तर काण्ड 103(एक सौ तीन)
8. विनय पत्रिका
9. विनय पत्रिका 45

भारत की सांस्कृतिक धरोहर : ललित कलाओं में संगीत कला

डॉ. अनामिका कुमारी

सृष्टि के आरंभ से ही मानव आनंद की खोज में भटकता रहा है। उसकी कल्पना उस दृष्टि के साथ तादात्मय स्थापित करती है तथा कलात्मक प्रवृति को मूर्त्त रूप देने की चेष्टा करती रही है। प्रकृति के सौन्दर्य को स्थायित्व प्रदान करने के लिए ललित कलाओं का जन्म हुआ। कला का शाब्दिक अर्थ है 'सौन्दर्याभिव्यक्ति।' कला का एकमात्र लक्ष्य है अभिव्यक्ति। यह पूर्ण होते ही कला का लक्ष्य पूर्ण हो जाता है।

कलाकार का हृदय जब रस की अनुभूति करता है तो उसे किसी माध्यम के द्वारा व्यक्त करना चाहता है कलाकार इस रस की अनुभूति का व्यक्तिकरण करता है। गायक उसे ध्वनि से, चित्रकार रंग रेखा से, वास्तुकार ईंट पत्थर से, कवि शब्द वाक्यों से रूपायित्व करते हैं। विद्वानों ने उसी को कला की संज्ञा दी है।

कविवर रविन्द्रनाथ टैगोर के शब्दों में- "कला मनुष्य के भाव जगत की स्वतंत्र अभिव्यक्ति है।"

महात्मा गाँधी ने भी कहा है- अंततः कला कलाकार की सौदर्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति है। यही अभिव्यक्ति संगीत, काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला तथा वास्तुकला को जन्म देने में समर्थ हुई।

प्लेटों का कहना है कि कला सत्य की अनुकृति है। उसने सत्य को सार्वभौमिक तथ्य माना है, जिस सत्य की अनुकृति संसार के जड़ चेतन में दिखाई देती है। जब इन्हीं जड़ चेतन का चित्रण कलाकार करता है तो वह उसी सार्वभौमिक सत्य की अनुकृति को प्रस्तुत करता है। टालस्टाय के अनुसार यदि अपने भावों को क्रिया रंग रेखा ध्वनि या शब्द द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त किया जाये कि उसे देखने या सुनने वाले में भी वहीं भाव उत्पन्न हो तो उसे कला कहा जाएगा।

कला को दो भागों में विभाजित किया गया है-

(1) ललित कलाएँ

(2) उपयोगी कलाएँ

उपयोगी कला का सम्बन्ध भौतिक आवयकताओं की सम्पूर्ति तथा सभ्यता के क्रमिक विकास से है जबकि ललित कला का सम्बन्ध सौन्दर्य बोध, सांस्कृतिक विकास और आध्यात्मिक चेतना से है। दोनों में ललित कला को श्रेष्ठ माना गया है। इसके अन्तर्गत निम्न कलाएँ आती हैं-

(1) चित्रकला

(2) मूर्तिकला

(3) वास्तुकला

(4) संगीतकला

(5) काव्यकला

(6) नाट्यकला

संगीत कला :

भारत के सांस्कृतिक धरोहर के रूप में संगीत कला का महत्व सर्वोपरि है। भारत में सगीत का आरम्भ ब्रह्मा जी द्वारा प्रतिपादित "सामवेद" के संगीत पक्ष से माना जाता है। अथर्ववेद से इस की उत्पत्ति मानी जाती है। भारत में नाट्य के जन्मदाता शिव और नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि हैं। संगीत

पी.डी.एफ. वाद्य संगीत विभाग, बी.एच.यू., वाराणसी

के प्रमुख पक्ष गायन, वादन और नृत्य है। संगीत रत्नाकर के अनुसार "गीतं वाद्यं च नृत्यंत्रय संगीत मुच्यते"। संगीतकला प्रस्तुतीकरण के अन्तर्गत आती है। यह वह सूक्ष्म वाणी है जिससे स्थूल एवं व्यावहारिक भाषा जन्म पाती है। क्योंकि इसका प्रदर्शन एक विशिष्ट समय तथा अवधि में होता है। इसमें हृदय के गहन भाव, शब्दों द्वारा प्रकट न होकर संगीत के माध्यम से प्रस्फुटित होते हैं। संगीत चित्रकला से भी सूक्ष्म मानी जाती है। इसमें भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम स्वर है। गति, माधुर्य और लयात्मकता का समन्वय संगीत को सभी कलाओं से अधिक प्रभावशाली और व्यापक बनाता है। संगीत स्वरों के विषयानुसार आरोह, लययुक्त, प्रस्फुरण,संगीत वाद्यों के सानिध्य से कार्यों का प्रत्यक्षीकरण करता है। यही संगीत रसिकजनों को उस भाव भूमि में पहुँचा देता है। जहाँ अभूतपूर्व सौन्दर्यानुभूति रसानुभूति का आस्वादन होता है।

संगीत में मानसिक विचार (ईश्वर) अधिक अप्रच्छन्न रूप में व्यक्त होता है, जबकि स्थूल कलाओ में उसका रूप प्रच्छन्न और स्पष्ट होता है, परन्तु फिर भी संगीत में भाव उद्वेग की अधिकता रहती है। **शोपनहावर के अनुसार-** संगीत की विशिष्टता के कारण इन्हें अन्य कलाओं के समकक्ष नहीं रखा जा सकता क्योंकि अन्य कलाएँ विचारों और भावों की अभिव्यक्ति है। जबकि संगीत विचारों के क्षेत्र में इच्छा को प्रकाशित करता है। संगीत के द्वारा ये इच्छाएँ कुछ समय के लिए संतुष्ट हो जाती है। अतः संगीत अन्य सभी कलाओं से विशिष्टता रखता है। संगीत का माध्यम नाद है जो दो प्रकार का होता है, अनाहत और आहत। नाद से वर्ण, वर्ण से पद, पद से वाक्य की सृष्टि होती है। मन रूपी मृग को बांधने में नाद ही जाल का काम करता है। "नादोऽन्तरंग सारंग बन्धते बाग यतें" स्वर के स्पंदन से काया में प्राणों का उल्लास होता है, जिसके परिणाम स्वरूप वर्ण, पदरूप में विशेष नाद रूपिणी वाक् उत्पन्न होता है संगीत के स्वर जिन्हें नाद ब्रह्म की संज्ञा से अभिसित करते है, संगीत और रसिक इसी नाद ब्रह्म का अवगाहन कर परम ब्रह्म को प्राप्त करते है, इसी स्थिति को प्रतिपादित करने वाले पर्यायवाची शब्दसौन्दर्यानुभूति और आनन्दानुभूति है।

संगीत के मुख्यतः दो पक्ष है- लोक संगीत और शास्त्रीय संगीत। लोकसंगीत यह लोक परम्परा पर आधारित होता है यह अधिक हृदयग्राही भावोत्पादक है। शास्त्रीय संगीत विज्ञ पुरूषों के लिए है। विषय के अनुसार संगीत दो प्रकार का है, लौकिक संगीत और भक्ति संगीत। लौकिक संगीत, सांसारिक व्यवहारों प्रचलित रीति रिवाजों से सम्बन्धित होता है, इसका विषय क्षेत्र बहुत व्यापक है। भक्ति संगीत भक्ति से सम्बन्धित आराध्य देवी देवताओं तथा ईश की प्राप्ति हेतु पूजा अर्चना में गाया जाता है भक्ति संगीत की उपयोगिता प्रमाणित करने वाला नाद संहिता का सूत्र अवलोकनीय है।

"नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनामं हृदये न च,।
यद भक्ता यत्र गायन्ती, तत्र तिष्ठति नारद"।

संगीत को ईश्वर प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन इसलिए माना जाता है कि संगीत की रसात्मकता साधन के चित्त को बांधे रखती है। रसात्मक आनन्द में डूबा व्यक्ति अपने भौतिक परिवेश से अलग हो जाता हैं और ईश्वर से तारतम्य स्थापित करता है।

संगीत कला के विवेचन में भारतीय विचारकों और कलाकारों ने विचित्र विश्लेषणात्मक प्रतिमा का परिचय दिया है। इस कला की चर्चा में यदि केवल वाद्ययन्त्रों को लिया जाय, तो उस जोड़ का विश्लेषण अन्यत्र दुर्लभ है। समस्त वाद्यों को चार भागों में बाँटा गया तत् अवनद्ध, सुषिर और घन। भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ- वेदों में अनेक वाद्यों के नाम आये हैं, जैसे दुन्दुभी, आदम्बर, भूमि दुन्दुभी, वनस्पति, पटह, डिमडिम इत्यादि। यहाँ तन्तु वाद्य से प्राय: चार मध्यतन्तु सारणी पंचम मन्दरम् और अनुमन्दरम् तथा तीन पार्श्वतन्तु (पक्क, सारणी अथवा शिकारी) माने गये है। वस्तुतः संगीत के प्रति भारतीय दृष्टकोण बहुत व्यापक है। जब गीत वाद्य और नाट्य तीनों मिलकर अलातचक्र की अवस्था में पहुँचते है, तब संगीत की सृष्टि होती है।

विश्लेषणात्मक होने के कारण भारतीय संगीत की राग रागिनियों की संख्या में आश्चर्यजनक विभिन्नताएँ

है। एक एक प्रणाली में संख्या निर्धारण के अनेक मत है। भारत के आधुनिक शास्त्रीय संगीत के अनुसार सभी राग रागिनियों को दस घातों में बाँधा गया। प्रत्येक राग की उत्पत्ति किसी न किसी सप्तक से बताई गई। गायन काल की दृष्टि से भी राग के तीन प्रकार माने गये। पूर्वरागः, उत्तरराग और सन्धि प्रकाश राग। भारतीय संगीत में ध्वनियों का भी विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। यहाँ ध्वनि की इकाइयों को चार वर्णों में बाँटा, गया है- वादी, संवादी, विसंवादी और अनुवादी। इसके अतिरिक्त गमक, मूर्च्छना, श्रुति, यति एवं ताल का भी विश्लेषण हुआ है।

नृत्य का यदि विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट होगा संगीत के साथ नृत्य का संचालन द्विगुणित प्रभावी हो जाता है। साथ ही दर्शक और श्रोता एक ही समय और एक ही स्थान पर दोनों कलाओ का आनन्द प्राप्त कर लेते है। इस प्रकार दोनों ही कलाएं एक दूसरे की सहयोगी बनकर प्रभावशाली हो जाती है।

अतः कहा जा सकता है कि संगीत की अवधारणा मानवीय भावनाओं से सम्बन्धित है। संगीत श्रव्यकला है, इसका प्रभाव दृष्यकला अर्थात् चित्रकला से श्रेष्ठ है। चित्रकला प्राकृतिक और भौतिक दृश्यावली प्रस्तुत कर सांसारिक सुखानुभूति का आनन्द प्रदान करती है। संगीत कला दर्शनीय, घटनाक्रमों का अवलोकन कराती है मानवीय संवेदनाओं को संगीत स्वर लहरी ही प्रस्तुत करती है। संगीत आत्मगत गतिशील लयात्मकता और भावनिष्ट कला हैं संगीत ध्वनिजन्य कला है उसमें लयात्मकता का समावेश कर उसे मुखर बना देती है। यह अनुकूल परिवेश में मानवीय भावों को अपने सप्तक स्वरों से उद्वेलित करती है। यह जीवन के विभिन्न भावनात्मक पदों को स्वरों के माध्यम से अभिव्यक्त करती है।

नाट्य संगीत में रस

डॉ. संजय कुमार सिंह

भाव अमूर्त है जबकि रूप मूर्त। भाव अतिन्द्रीय है जबकि रूप चाक्षुष। भाव निराकार है, जबकि रूप का एक विशिष्ट आकार होता है। भाव मन के समुद्र पर उठती हुई लहर है, जबकि रूप का एक निश्चित आकार प्रकार होता है। जैसे - निर्गुण ब्रहम सगुण होकर एक आकार ग्रहण करता है, उसी प्रकार कभी-कभी अमूर्त भाव मूर्त आकार ग्रहण कर रूप बन जाता है, और कभी नहीं भी बनता, जैसे किसी के अन्तरंग में दुःख का भाव है तो जरूरी नहीं कि रोये, वह हँस भी सकता है, और किसी को पता भी नहीं चलेगा कि इसको कुछ दुःख है, उसका कोई करीबी उसके दुःख को जानता होगा तो ही उसको समझ में आयेगा कि यह बनावटी हँसी है। यदि कोई भाव रूप ग्रहण करता भी है तो उसके अनेक प्रकार के रूप हो सकते हैं, उदाहरण के तौर पर जब किसी का स्वर्गवास हो जाता है, तो कुछ लोग चिल्ला-चिल्लाकर रोते हैं, कुछ लोग केवल आँसू बहाते हैं, कुछ लोग अन्दर ही अन्दर रोते हैं।

किसी एक रूप के पीछे कोई एक ही भाव हो यह भी कोई आवश्यक नहीं- जैसे एक पुरूष एक स्त्री को आलिंगनबद्ध किये हुये हो तो वह उसकी स्त्री या पत्नी तो हो ही सकती है, वह उसकी माँ भी हो सकती है, उसकी बहन भी हो सकती है, और घटना विशेष के अनुसार उसकी बिटिया भी हो सकती है। जहाँ तक संगीत में भाव रूप की चर्चा है वहाँ यह कह देना अति आवश्यक है कि कोई भी संगीत श्रोताओं में एक जैसा समतुल्य भाव उत्पन्न नहीं कर सकता जैसे कुछ लोगों को चोटी के कलाकार पं. भीमसेन जोशी का गायन पसंद है कुछ लोगों को नहीं पसन्द है।

इसी तरह कुछ लोग पं. जसराज जी को पसंद करते हैं तो कुछ लोग राशिद खान का गायन पसंद करते हैं। गांधर्व, जो स्वर, ताल पदात्म है उसमें भावोत्पत्ति का मुख्य कारण पद है न कि स्वर और ताल यदि पद विहीन संगीत भावोत्पत्ति का कारण होता तो वाद्यों पर बजाई गई धुनें अथवा अवनद्य वाद्यों का स्वतन्त्र वादन भावोत्पत्ति करने में सक्षम होता। भावोत्पत्ति तभी होता है जब श्रोता सितार पर बजने वाले धुन को शब्द के रूप में कभी सुने होते हैं।

जैसे -जाओ कान्हा करो ना मोसे रार रे
दारा दरदा दरा रा दारा दार रा

जो श्रोता पहले से बंदिश या गीत सुने रहते हैं, उसका प्रभाव तीव्र गति से उनके मन-मस्तिष्क में होता है। यह बात जरूर है कि जो श्रोता पहले से किसी राग या स्वर को सीखे या जाने रहते हैं कि जोगिया करुण रस का राग या स्वर है तो उनको भाव समझ में आ जाता है, अन्यथा आम श्रोता तो सितार या स्वर वाद्य में बजने वाले स्वरों में समावेश शब्दों को कभी सुना रहता है तभी समझता है।

यद्यपि संगीत आनंददायक होता है, परन्तु दावे के साथ उसका रस निर्धारण नहीं किया जा सकता, वैसे भी श्रृंगारादि रस साहित्य अथवा नाट्य में ही दृष्टिगोचर होते हैं तो क्या उन्हें जबरदस्ती संगीत से जोड़ना उचित होगा? यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि भोज्य पदार्थो में मधुराम्ल, तिक्त, लवण आदि षड रस होते हैं, उनको तो हम संगीत अथवा साहित्य में नहीं ढूढ़ते, तो फिर नाट्य के नौ रसों को संगीत में क्यों ढूंढ़ा जाता है।

असिस्टेंट प्रोफेसर, गायन विभाग, राजा मानसिंह तोमर संगीत एवं कला वि.वि., ग्वालियर

यद्यपि संगीत में रस है जो अनिवर्चनीय है ब्रहमानन्द सहोदर है। परन्तु मेरी दृष्टि में उसका नामकरण संस्कार करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जब कहा गया है कि गूंगे का सा ख्वाब है बयाँ हो नहीं सकता, तो हम क्यों बयाँ करें। एक वक्तव्य में डॉ. गिरीश रस्तोगी जी ने अपने वक्तव्य में कहा है कि कुछ विद्वान जिस रस को सुख का कारण मानते हैं उसी को कुछ विद्वान दुःख का कारण भी मानते हैं, तो फिर करुण रस में सुख भी है दुःख भी है कोई एक भाव निश्चित नहीं है तो हम रस का नामकरण क्यों करते हैं। रस को रस रहने दो उसमें डूबने की कोशिश करो, शास्त्रार्थ मत करो, रस चखो और दूसरों को भी चखाओं इसी में रस तत्व की सार्थकता है, शास्त्र चर्चा अथवा शास्त्रार्थ युक्ति वादी पण्डितों का अहंकार प्रकट करता है। मैंने कुछ लोगों से ये भी सुना कि जैसा रूप हम देखते हैं। वैसा ही भाव हमारे दिल में उत्पन्न होगा, लेकिन ये मुझे चरितार्थ नहीं लगता। भाव और रूप के लिए ये पंक्ति बहुत उदाहरणीय लगती है।

जाकी रही भावना जैसी।
हरि मूरत देखिय तिन्ह तैसी।।

अर्थात द्रष्टा अपने भाव के अनुरूप ही रूप दर्शन करता है। एक योगी जब मन्दिर में कृष्ण की मूर्ति का दर्शन करता है तो कहता है कि कृष्ण तो योगेश्वर हैं, योगिराज श्रीमद्भागवत् गीता जो योग शास्त्र है उसके सूत्रधार हैं और उनको नमन् करता है।

उसी मन्दिर में एक कामी व्यक्ति जब कृष्ण के दर्शन करता है, तो सोचता है कि कृष्ण ने जीवन भर हजारों-हजार गोपियों के साथ रास क्रीड़ा की, कभी नहाती हुई गोपियों के वस्त्र लेकर वृक्ष पर चढ़ गये, तो मेरा दो चार स्त्रियों के साथ प्रेम संबंध है तो गलत नहीं है, मैं उन्हीं के मार्ग का अनुसरण कर रहा हूँ।

उसी कृष्ण मन्दिर में एक चोर जब कृष्ण का दर्शन करता है तो सोचता है कि यह वही कृष्ण है जिसने खुद भी चोरी की और ग्वाल बालों को भी माखन चोरी करना सिखाया, यह तो चौर्य कर्म अर्थात भगवत् गीता के अनुसार स्तेय योग का प्रणेता है उसको मैं नमन् करता हूँ।

इससे स्पष्ट है कि मनुष्य अपने आन्तरिक भावों के अनुरूप ही रूप दर्शन करता है, इसी प्रकार से संगीत का एक रसिक श्रोता अपने ह्रदय के अंतरंग भावों के अनुरूप ही संगीत का आनन्द लेता है। तो इस आनंद को श्रृंगारादि नौ रसों में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता यह वर्गीकरण गान में प्रयुक्त पद विशेष के भावों के अनुरूप अवयव संभव है, जैसे एक ही राग में यदि कोई गाता है कि -

साजन मोरे घर आए

तो प्रियतम के आगमन के संदर्भ में संयोग श्रृंगार व्यक्त होता है परन्तु अगर इसी राग में 'साजन घर नहीं आए' गाया जाय तो विप्रलम्भ यानी श्रृंगार व्यक्त होगा।

जैसे- अगर राग तोड़ी को करुण रस का राग मानते हैं तो उसमें अगर 'अब मोरी नइया पार करो रे' यह पद गाया जाय तो भक्ति या करुण रस महसूस होता है, अगर इसी राग में 'हटो जाओ जी लंगर वहीं सगरी रैन- जहाँ जाग रहे सौतन के संग' गाया जाय तो तुरन्त भाव बदल जाता है, रस बदल जाता है और यदि इन्हीं गीतों के धुन यदि किसी वाद्य पर बजाई जाय तो सुनने में अच्छा तो जरूर लगेगा परन्तु रस निर्णय नहीं किया जा सकता।

भूः धातु मतलब है अस्ति अर्थात होना, अंग्रेजी में जिसे टू बी कह सकते हैं मतलब कुछ होता है। आज की भाषा में हम कुछ-कुछ होता है कह सकते हैं।

अब कहाँ होता है? दिल में होता है, ह्रदय में होता है, अंतरंग में होता है। बस अच्छा लगा/कैसा अच्छा लगा यह नहीं बताया जा सकता। कभी-कभी भाव को प्रकट करने के लिये रूप की कल्पना करनी पड़ती है या रूप को दिखाना पड़ता है।

जैसे - एक बार राधा ने कृष्ण से पूछा मैं आप को कैसी लगती हूँ तो कृष्ण बोले कि तुम मुझे नमक जैसी लगती हो और रुक्मिणी पूछी मैं आप को कैसी लगती हूँ तो कृष्ण बोले तुम मुझे शक्कर जैसी मीठी लगती हो, यह बात सुनकर राधा चिढ़ गई और कृष्ण इस बात को समझ गये, तो अपने यहाँ बहुत

बड़ा भोज किये, खूब बढ़िया भोजन बना, खीर, पूड़ी, चावल, दाल, सब्जी आदि लेकिन रसोइयादार को भोजन में नमक डालने से मना कर दिया। कृष्ण ने खाने वालों से पूछा कि भोजन कैसा लगा तो उन्होंने बोला कि नमक की कमी लगी राधा को अपना महत्व कृष्ण के दिल में समझ में आ गया। इसलिये आप कल्पना करके अपने आप में भाव को समझ सकते हैं किन्तु दूसरे को भाव समझाने के लिये भाव के अनुरूप रूप दिखाना पड़ता है।

लोग कहते है कि कलाकारों को ज्यादा गुस्सा नहीं करना चाहिये इससे कलाकार की कला तथा गायन प्रभावित होता है।

किन्तु मुझे तो लगता है कि 'समरथ को नहि दोष गोसाईं' यहाँ मैं एक प्रत्यक्षदर्शी व्यक्ति द्वारा सुनी घटना को प्रस्तुत कर रहा हूँ सन् 1961 में महामना मालवीय जन्मशती समारोह मनाया जा रहा था स्टेज पर तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू, मैसूर नरेश जो बी.एच.यू के चान्सलर थे तथा कश्मीर के राजा कर्ण सिंह जो बी.एच.यू. के प्रोचान्सलर थे तथा काशी नरेश और शायद एच. एन. भगवती वाइस चान्सलर थे ये लोग उपस्थित थे जिसमें प्रख्यात शास्त्रीय संगीत गायक स्वर्गीय ओंकार नाथ ठाकुर जी का गायन शुरू हुआ। रागों की प्रस्तुति के बाद भजन 'मइया मोरी मैं नहि माखन खायो' शुरू हुआ बहुत भाव पूर्ण गायकी चल रही थी उसी बीच भावातिरेक में आकर कोई लड़का बकप बोल दिया इसके बाद ओंकार नाथ जी बहुत गुस्से में बोले बद्तमीज कहीं के पं. ओंकार नाथ ठाकुर जी एक बजुर्ग आदमी को बकप बोलने में तुमको शर्म नहीं आई ओंकार नाथ तुम्हारे बकप का भूखा नहीं है, विदेशों से ढेर सारा बकप लाया है, हाल में सन्नाटा छा गया था, फिर लोगों के मनाने पर पुनः उसी भाव पूर्ण गायकी में वापस आ गये उनके गाने में गुस्सा थोड़ा भी नहीं दिखा।

तो कहने का तात्पर्य यह है कि कलाकार के अन्दर तुरन्त भाव बदलने की क्षमता होनी चाहिए, जिसके फलस्वरूप रूप अपने आप ही उस भाव के अनुरूप हो जाता है। जैसे कोई छात्र आकर आपको प्रणाम करता है, तो आप यदि प्रसन्न भाव में हैं, तो प्रसन्नचित्त मुद्रा में आशीर्वाद देंगे यदि आप दुःखी हैं, तो अप्रसन्नचित मुद्रा में आशीर्वाद देंगें।

इसलिये कहा गया है, कि कलाकार बनाये नहीं जाते कलाकार बन जाते हैं।

कभी- कभी भावों द्वारा मौन भी यहाँ संगीत बन जाता है, कहा भी गया है, कि " साइलेन्स इज द ग्रेटेस्ट म्यूजिक " किन्तु तब जब उसके आगे - पीछे स्वर जुड़े होते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि, अब तक जो कुछ हुआ वह अद्भुत है, क्योंकि आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण में केवल एक ही रस माना है, वो है अद्भुत।

निष्कर्ष यह निकलता है, कि काव्य में ही भाव है। नाट्य और संगीत उसके रूप को प्रस्तुत करने का एक माध्यम है।

क्योंकि नाट्य में अगर मूक प्रदर्शन भी किया जाता है तो काव्य रचना की कल्पना करके ही उस रूप को दर्शाते है।

नाट्य संगीत में वाद्यो की भूमिका

डॉ. प्रेम किशोर मिश्र

संगीतात्मक ध्वनि व गति को प्रकट करने वाल उपकरण को वाद्य कहा जाता है। इस दृष्टि से प्राचीन काल में मानव कण्ठ को भी वाद्य के ही श्रेणी में रखा गया है। आदि काल से ही मनुष्य किसी न किसी रुप में वाद्यों का प्रयोग करता आया है।

हमारे समाज और संस्कृति में धर्म की प्रधानता सदैव से रही है। हम भारतीय संस्कृति के किसी भी पक्ष का अध्ययन करें, उसकी अनुप्राणिता धर्म से ही हांती है। संगीत भी भारतीय विचारधारा की इस विशेषता का एक अंग है। संगीत कां आध्यात्म सिद्धि का प्रमुख साधन माना जाता है। यही कारण है कि संगीत के आदि विद्वानों व शास्त्रकर्ताओं ने इसे नाद वेद की संज्ञा देकर इसकी उत्पत्ति सृष्टिकर्ता ब्रह्मा द्वारा बतायी है। यही कारण है कि प्राचीन संगीत ग्रन्थों में हमें वाद्यों की उत्पत्ति का वर्णन किसी न किसी देवी-देवताओं से संबंधित होता है।

किसी न किसी वाद्य विशेष के संबंध में भी हम इस धार्मिक तत्व के दर्शन करते है। कहा जाता है कि समुद्र मंथन के फलस्वरुप जो रत्न निकले थे, वीणा भी उसमें से एक थी।

वीणा नाम समुद्रोत्थित रत्नम्।

विष्णुपुराण में प्राप्त एक कथानुसार वीणा का निर्माण शिव ने पार्वती जी की शयन-मुद्रा को देखकर उसके आधार पर किया था। जिसका नाम रुद्रवीणा था।

प्राचीन ग्रंथों में मृदंग आदि अवनद्ध वाद्यों की उत्पत्ति से सम्बन्धित अनेक व्याख्यान प्राप्त है। जैन मतानसार 'मुरज' नामक वाद्य का आविष्कार शंखनिधि द्वारा हुआ :-

मुरजास्तु मते जैने जातः शंख्यान्महानिधेः।

एक अन्य मत के अनुसार शिव ने त्रिपुरा-सुर-विजय पर जो नृत्य किया, उसमें संगीत देने के लिए ब्रह्मा ने एक अवनद्ध वाद्य का निर्माण किया, जिसका ढांचा मिट्टी का था अतः उसे 'मृदंग' कहा गया। शिव के पुत्र गणेश जी ने सर्वप्रथम इस वाद्य को बजाया।

वाद्यों के उत्पत्ति के सम्बन्ध में अब आधुनिक विद्वानों के विचारधारा पर नजर डालते है। आज-कल प्रचलित विचारधारा के अनुसार मानव ने आदि काल से ही वाद्यों के निर्माण की ओर कदम बढ़ा किया था। उस समय का मानव आज के मानव की अपेक्षा प्रकृति से अधिक निकट था। वाद्यों के निर्माण में कदाचित् विभिन्न प्राकृतिक ध्वनियाँ सबसे अधिक प्रेरक सिद्ध रही होंगी। इसके अतिरिक्त एक और तथ्य भी विचारणीय है। वो यह कि अधिकतर वाद्य गीत व नृत्य के साधन रुप में रह कर विकसित हुए है।

अवनद्ध व घनवाद्यों के अतिरिक्त सुषिर और ततश्रेणी के वाद्य भी इसी प्रकार प्राकृतिक ध्वनियों के अनुकरण की चेष्टा से ही जन्म लिये सके हैं। जैसे कि खोखले बाँस था फिर खोखली हड्डी में वायु के प्रवेश से उत्पन्न ध्वनि से प्रेरित हो कर मानव ने सुषिर वाद्यों को बनाया और विकास किया होगा। इसी प्रकार शिकार में प्रयुक्त तीर-धनुष (कमान) में धनुष की टंकार से प्रेरित हो कर तत वाद्यो को

असिस्टेंट प्रोफेसर, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, बी.एच.यू., वाराणसी

बनाया आर उसका सुविधा जनक सुविधानुसार क्रमिक विकास होता आया।

वाद्यों का विकास होते होते इनकी संख्या में भारी वृद्धि हो गयी। अब इन वाद्यों को एक साथ रखना कठिन समस्या हो गयी थी। अतः इनके कुछ लक्षणों व बनावट के आधार पर इनकी व्यवस्थित वर्ग बनाने की जरुरत महसूस होने लगी। सर्वप्रथम वैदिक काल में हमें संगीत वाद्यों का वर्णन उपलब्ध होता है, यद्यपि यह वर्णन संक्षिप्त है, परन्तु इससे प्रमाणित होता है उक्त काल में चतुर्विध वाद्यों का विकास हो चुका था। सामगान में ताल की संगति के प्रारम्भ में दुंदुभि नाम के चर्म वाद्यों का प्रयोग होता था।

उस समय घन वाद्य मुख्यतः लोक संगति में प्रयुक्त होते थे। इस तरह विभिन्न वाद्यों का विकास होने से वाद्यों की संख्या में भारी वृद्धि होने से हमारे संगीताचार्यो को इसको समान गुणो व विशेषता के आधार पर सूचिबद्ध या वगल्कृत करने की जरुरत महसूस होने लगी। इस सम्बन्ध में सबसे पहले प्रथम शताब्दी में नारद रचित वाद्यों के वगल्करण के सम्बन्ध में भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। इनके अनुसार-वाद्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

नारदीय शिक्षा में वैदिक सामगान तथा लौकिक गान्धर्व, जाति राग गाने के लिए वारवा तथा गात्र वीणा की व्यवस्था थी।

नारद ने ''संगीत मकरंद'' में वाद्यों को पाँच वर्गों में विभाजित किया है तथा इसे ''पंच महावाद्यानि'' की संज्ञा प्रदत्त की है।

इनके बाद भरत और दत्तिल ने भी वाद्यों को चार वर्गों में विभाजित किये।

भरतेन वाद्यं चतुर्विधं प्रोक्तम्।

दत्तिलेन तु आनद्धं तंत घनं सुषिरं चेति चतुर्विधं वाद्यं कीर्तितम्।

1. तत
2. अवनद्ध
3. घन
4. सुषिर

वादन क्रिया के आधार पर इनका भी चार वर्गों में विभाजित किया जाता है। जो निम्नवत है :-

1. उगलियां से छेड़ के बजाने वाले वाद्य जैसे - एक तारा, तानपुरा, स्वर मंडल।
2. कोण या मिजराब से बजने वाला वाद्य जैसे - रुद्र वीणा, सरस्वती वीणा, विचित्र वीणा, सितार, सरोद, गोटुवाद्यम्।
3. डण्डी या शलाका से प्रहार द्वारा बजाये जाने वाले वाद्य जैसे - सन्तूर, कानून आदि।
4. गज से रगड़ कर बजाने वाले वाद्य जैसे - सारंगी, रावण हत्था, इसराज, दिलरुबा आदि।

वे वाद्य जिनका वाहय आकार मिट्टी, लकड़ी या धातु का बना होता है, जो भीतर से खोखला होता है इसके मुख पर चमड़े मढ़े होते है। इन्हल मढ़े हुए चमड़े पर हाथ या अन्य वस्तु से आघात करने पर शब्द, ध्वनि या स्वर उत्पन्न होते है। अवनद्ध वाद्य कहलाते है। कुछ संगीताचार्य इन्हें वितत भी कहते है। महर्षि भरत के अनुसार हमारे परम्परा में अवनद्ध वाद्यो की संख्या सो है। वादन क्रिया के आधार पर इसको निम्न वर्गों में विभाजित किया जाता है।

1. दोनो हाथो की हथेलियां या अगुलिओ से बजाने वाले वाद्य जैसे ढोलक, तबला, मृदंग, खुर्दक, पखावज, खोल, नाल आदि।
2. एक हाथ की उगलियां से बजाने वाले वाद्य जैसे- खंजड़ी, हुड़क आदि।
3. शंकु अथवा डण्डी से बजाने वाले वाद्य जैसे -डमरु, ढाका आदि।

संगीत रत्नाकर में परह, मर्दल, हुड़वका, ढक्का, खट, ढंवसा, डमरु, त्रिवली, दुन्दुभी, भरी आदि वाद्यो को अवनद्ध वाद्य में ही रखा गया है।

'संगीत दामोदर' में करताल, कास्य ताल, जय घंटा घुटिक, अम्बिका, पट वाद्य, घर्घर, ताल और मजीरा आदि वाद्यो का उल्लेख प्राप्त होता है। ''संगीत पारिजात'' में ताल, कास्य, घण्टा, घण्टिका, जलघंटा आदि का वर्णन है। अष्टछाप के कवियो ने अल्प मात्रा में घन वाद्यो का उल्लेख किया है। उनके नाम इस प्रकार है-ताल, कटताल, झालरि, झाझ, मजीरा, क्षुद्र घण्टा, जलतरंग आदि।

लगभग बारहवीं शताब्दी तक घन वाद्यो का संगीत में अत्यधिक महत्व था, परन्तु उसके बाद

शास्त्रीय संगीत में इसका प्रयोग अल्प हो गया। आज कल नाटको में विशेष ध्वनि प्रभाव के लिए, लोक नाट्यो में तथा कीर्तन भजन आदि में इनका प्रयोग भरपूर होता है।

गीतानुरंजन के लिए वाद्य-वादन की परम्परा प्राचीन काल से ही रही है। मन के विशिष्ट भावो को अभिव्यक्त करने के लिए विभिन्न वाद्यो का प्रयोग किया जाता था। नाट्य में वाद्य-संयोजन और वाद्य-वादन का प्रमुख स्थान रहा है। दृश्य को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए विभिन्न वाद्ययंत्रो का संयोजन किया जाता था। ऐसे वाद्यवृंद अथवा अतोद्य-विन्यास के लिए भरत ने "कुतप" संज्ञा दी है। नट का कार्य ऐसे नाट्य का प्रयोग करना है, जो चतुर्विध वाद्यो के शास्त्रीय प्रयोग से युक्त हो। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नाट्य संगीत में वाद्यो की बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका है। नाट्य के प्रथम प्रयोग से लेकर अब तक के नाट्य संगीत में वाद्य महत्वपूर्ण रहा है।

नाट्य शास्त्र के अनुसार वाद्यवृन्द का साम्यक संयोजन नाटक की सफलता के लिए आवश्यक है। नाट्य गृह की रचना में भी वाद्यवृन्द का पर्याप्त ध्यान रखा गया है। गीत की संगीत में वेणु तथा वीणादि का प्रयोग तथा ताल व लय के लिए मृदंग, पणव आदि अवनद्य व घंट आदि घन वाद्यो का प्रयोग होता रहा है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नाटङ्गसंगीत में वाद्यो की अति महत्वपूर्ण भूमिका है। नाट्य संगीत वाद्यो के बिना अधूरा सा प्रतीत होता है। विभिन्न प्रकार के वाद्यो को सम्मिलित करने से ही नाट्य संगीत में रसानुभूति का तत्व विद्यमान रहता है। इसके साथ ही लय का आरम्भ भी वाद्यो के साथ ही प्रारम्भ हो जाती है। संगीत तो पूर्णतः लय व ताल के बिना असम्भव सा है। ठीक उसी प्रकार हम नाट्य संगीत इनकी अनुपस्थिति के कारण पूर्ण प्रतीत नहल होता।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संगीत वाद्य-लालमणि मिश्रा
2. भारतीय संगीत का इतिहास-भगवतीशरण शर्मा
3. भारतीय संगीत का ऐतिहासिक विश्लेषण-प्रो. स्वतन्त्र शर्मा
4. भारतीय सभ्यता संस्कृति एवं संगीत-अंजली मित्तल

संगीत में अभ्यास

प्रियंका पाण्डेय

संगीत साधना को संगीतज्ञों की भाषा में रियाज शब्द से सम्बोधित करते है। इस शब्द से संगीत के स्वतः स्वर, ताल और लय की साधना का अनुभव होता है। रियाज शब्द का अर्थ भी साधना, परिश्रम, अभ्यास, मेहनत करना है।[1]

रियाज़ स्वर-लय-ताल संगीत के सभी क्षेत्र में अपना विशेष महत्व रखता है। रियाज में संगीतज्ञ की एकाग्रता का बहुत महत्व होता है जो उसको एकान्त में अपनी मनोदशा को हर प्रकार से संगीत के प्रति समर्पित करके प्राप्त होती है उस समय मानसिक तौर से केवल संगीतज्ञ और उसका वाद्य उसके साथ रहता है। गुरूमुख से शिक्षा प्राप्त कर उसका रियाज एकाग्र मन से एकान्त में ही श्रेष्ठ है।

रियाज या अभ्यास शब्द अपने आप में व्यापक अर्थ रखता है। जीवन का कोई भी क्षेत्र क्यों न हो दक्षता लाने के लिए अभ्यास करना ही होता है। 'अभ्यास' का साधारण अर्थ यह है कि किसी कार्य को बार-बार किया जाये। अभ्यास की महत्ता के विषय में कवि ने कहा है-

'करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत-जात ते, सिल पर पड़त निसान।।'

अतः बार-बार किसी कार्य को करने की क्रिया को अभ्यास कहते है।[2]

साधना शब्द का अर्थ है- ''साधना (संज्ञा स्त्री.) (सं.)

1. कोई काम सिद्ध करने की क्रिया या भाव, सिद्धि,
2. उपासना, अराधना।

किसी कार्य की साधना या सिद्धि उस कार्य के अभ्यास पर निर्भर करती है। अभ्यास शब्द का अर्थ है- ''किसी कार्य को बार-बार करना। पुनः-पुनः अनुशीलन, पुनरावृत्ति इत्यादि।[3]

साधना का अर्थ उपासना भी है। उपासना 'उप' और 'आसना' शब्द से बना है। 'उप' का अर्थ है पास या निकटतम सम्बन्ध और 'आसना' का अर्थ है बैठना अर्थात् परमात्मा का चिन्तन करना है।

साधना को ऋषि-मुनि या भक्त लोग जप-तप का नाम देते है। पं. रामाश्रय झा जी का कथन है कि ''जप-तप का ही दूसरा नाम अभ्यास है। देवता तथा मुनि-महात्माओं की भाषा में इसे जप-तप तथा साधारण लोगों की भाषा में साधना या अभ्यास कहते है।''[4]

20वीं सदी तक संगीत अध्ययन के लिए एक ही मार्ग था गुरू शिष्य प्रणाली अर्थात् गुरूकुल पद्धति। इस प्रणाली में शिष्य या तो गुरू के घर पर रहता था या फिर अपना अधिक से अधिक समय गुरू के पास बिताता था। इसलिए संगीत से सम्बन्धित किसी भी बात पर खुद विचार करने की आवश्यकता उसे महसूस ही नहीं होती थी। गुरू के कहने के अनुसार उसे अभ्यास करना होता था। इस प्रकार उचित मार्गदर्शन एवं सही अभ्यास करवा कर गुरू स्वयं योग्य शिष्य का निर्माण करते थे।[5]

प्रो. सुधीर कुमार वर्मा जी ने अपनी पुस्तक - The Art of tabla playing'' में अभ्यास से सम्बन्धित विवरण इस प्रकार दिया है-

---

शोध छात्रा, संगीत एवं कला संकाय, बी.एच.यू., वाराणसी

you can get better results if you practice slowly regularly and patiently. One composition at a time, in slow speed and continuously with out break. Each syllable of the composition must be carefully produced.

Clearrity speed and tonal quality should be constantly maintained while practicing. You should also listen to the sounds you produce on tabla. Practice with full concentration as if you are doing pooja or prayer. Counting of beats must be constantly maintained while practice.[6]

श्री मनोहर भालचन्द्रराव मराठे जी के अनुसार "तबले का अभ्यास विलम्बित लय में ही करना चाहिए तथा अभ्यास करते समय बोलों के निकास का ध्यान रखना चाहिए। बोलों के सरल अथवा कठिन निकास पर ध्यान देकर अभ्यास करना आवश्यक होता है। दांये तथा बांये के एकल तथा संयुक्त वर्णों के वादन की क्षमता धीमी गति के अभ्यास से ही साध्य हो सकती है। प्रत्येक बोल एवं बोल समूह को सफाई से एवं स्पष्ट निकलने का अभ्यास धीमी गति में होने पर ही लय धीमी-धीमी बढ़ाते हुए अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करने से हाथ में सफाई एवं तैयारी दोनों ही पैदा हो जाती है। यह लय में दायें और बायें के वर्णों का निकास सहज साध्य हो सकता है किन्तु कुछ विशेष बोलों का निकास भी द्रुत लय में स्पष्ट नहीं हो पाता। अतः यह निकास स्पष्ट होना नियमानुसार अभ्यास से ही साध्य हो सकता है। प्रतिदिन कम से कम 4 से 6 घंटे तक का अभ्यास आवश्यक होता है वैसे जितना अभ्यास किया जाये उतना अच्छा रहेगा। कायदे, पेशकार, रेलों का अभ्यास करते समय उनके बोल प्रकारों को उलट-पलट कर वादन करना चाहिए।[7]

प्रो. लालजी श्रीवास्तव जी के अनुसार "अभ्यास करते समय इ्यूरेान या समयापूर्ति की अपेक्षा यह ज्यादा महत्वपूर्ण है कि जितने भी देर अभ्यास करें उसमें प्रत्येक वर्ण के निकास के सही स्थान, वजन, स्पष्टता एवं कोमलता को ध्यान में रखकर वादन इस प्रकार से हो कि " इस प्रकार पूरे एकाग्रता के साथ अभ्यास करना चाहिए।"[8]

संगीत में रियाज़ अत्यधिक आवश्यक है। गायक के रियाज में उसका कंठ और मस्तिष्क का पारस्परिक सन्तुलन रहता है और वादक के रियाज में हाथ और उसके मस्तिष्क का।

प्रसिद्ध गायिका श्रीमती किशोरी अमोणकर संगीत साधना को आध्यात्मिक मानती है। उनका कथन है कि" संगीत-साधना उस परम शक्तिमान की आराधना है। सगुण शक्ति से स्वर मूर्त हो जाता है उसकी मूर्ति साकार होती है। हमें वह चरम लक्ष्य स्वरों के माध्यम से मिलता है। जब उस परम लक्ष्य, सत्य की अनुभूति होती है तब तानपूरे आदि की ज़रूरत नहीं रहती। इस स्थिति में भगवान के साथ तादात्मय स्थापित होता है। लय स्वर के साथ अलग-अलग भाव समझ में आने के बाद हम मूल भाव पर पहुंच जाते है। स्वरों के माध्यम से आनन्द की अनुभूति होती है। हमें आनन्द-प्राप्ति की ओर ही अग्रसर होना है। हमें उसका अनुभव लेना है और जब ऐसी अनुभूति होगी तभी शास्त्रीय संगीतज्ञ कहलाएंगे।[9]

संगीत में अभ्यास को चिल्ला भी कहते हैं, यह फारसी भाषा का शब्द है। इसके लिए संस्कृत का शब्द अनुष्ठान बहुत उपयुक्त है। प्रायः संगीत के शिक्षार्थी अपने विद्यार्थी जीवन में अभ्यास का संकल्प करते है। उन दिनों वे अपनी दिनचर्या में आवश्यकता भर आराम के अतिरिक्त सम्पूर्ण समय रियाज, अभ्यास या साधना में लगाते है। उसे चिल्ला खींचना कहते है। चिल्ला का क्रम साधारणतः 40 दिनों का होता है। ऐसी मान्यता है कि इससे कलाकार को सिद्धि प्राप्त होती है। कोई विद्यार्थी एक से अधिक भी चिल्ला खींच सकता है।[10]

अतः इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते है कि अभ्यास या रियाज दोनों एक है। रियाज का संगीत जगत में अपना विशेष महत्व है। संगीत में रियाज के बिना किसी भी विधा को आत्मसात् नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार सामान्य जन-जीवन में मनुष्य किसी भी चीज या कार्य को पूर्ण लगन एवं तन्मयता के साथ करता है तथा

सफल भी होता है ठीक उसी प्रकार संगीत में भी एक कुशल कलाकार या संगीतज्ञ बनने के लिए रियाज अति आवश्यक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1. उत्तर भारतीय कंठ संगीत और वाद्य संगीत, डॉ. अरूण मिश्रा, पृ. सं.-65
2. तबला वादन कला की तकनीकी एवं सौन्दर्य पक्ष, डॉ. सुनीता श्रीवास्तव, पृ. सं.-158
3. उत्तर भारतीय कंठ संगीत और वाद्य संगीत, डॉ. अरूण मिश्रा, पृ. सं.-63
4. उत्तर भारतीय कंठ संगीत और वाद्य संगीत, डॉ. अरूण मिश्रा, पृ. सं.-64
5. तबला वादन कला की तकनीकी एवं सौन्दर्य पक्ष, डॉ. सुनीता श्रीवास्तव, पृ. सं.-159
6. वही, पृ. सं.-159
7. तबला वादन कला की तकनीकी एवं सौन्दर्य पक्ष, डॉ. सुनीता श्रीवास्तव, पृ. सं.-159-160
8. वही, पृ. सं.-160-161
9. भारतीय कंठ संगीत और वाद्य संगीत, डॉ. अरूण मिश्रा, पृ. सं.-65-66
10. ताल कोश, गिरिश चन्द्र श्रीवास्तव, पृ. सं.-70

विद्यार्थियों को पूर्ण एकाग्रता, धैर्य के साथ स्वरों, वर्णों, तालों इत्यादि के विषय में ध्यान पूर्वक प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए। जिससे वो एक कुशल कलाकार बनने में सक्षम हो सके।

भारतीय शास्त्रीय संगीत के गायन और शिक्षण में, अभ्यास

डॉ. धीरेन्द्र कुमार मिश्र

मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अभ्यास का सर्वोपरि स्थान है। आज मनुष्य यदि सभी जीवों में अपने को श्रेष्ठ साबित कर चुका है, तो इसमें अभ्यास का महत्वपूर्ण योगदान है। अभ्यास, किसी कार्य को बार-बार करना और तब तक दोहराते रहना, जब तक की त्रुटियों को दूर न कर लें। अर्थात प्रत्येक बार कियें गए कार्य में कार्यकुशलता की वृद्धि के संग लक्ष्य प्राप्ति तक किये गये प्रयास ''अभ्यास'' कहलाते है। मनुष्य की बुद्धिमता का प्रथम प्रमाण उसका अभ्यास करना ही है। यह एक ऐसा विषय है जिसकी चर्चा में मानव जाति का सम्पूर्ण इतिहास वर्णित हो जाएगा किन्तु यहाँ हम ''भारतीय शास्त्रीय संगीत के गायन और शिक्षण'' में ''अभ्यास'' पर ही संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

भर्तृ हरि ने कहा है-

साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात पशुः पुच्छ विषाण हीनः।

भारतीय जीवन में संगीत का व्यापक महत्व है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी उपयोगिता है। यह मनोरंजन का साधन मात्र नहीं , भावनाओं के आदान-प्रदान का एक मात्र माध्यम है। भाषा से विचारों का आदान-प्रदान होता है, भावनाओं का नहीं, अतः मैक्समूलर का कथन सत्य प्रतीत होता है कि ''संगीत का जन्म भाषा से कही पूर्व हुआ है''। उस अज्ञात आदिकाल से आज तक संगीत की पवित्र निर्मल धारा निर्वाध प्रवाहित होती आयी है, तो इसमें संगीत के महागुरूओं के अथक अभ्यास का ही प्रथम स्थान है , नही तो धनुर्विद्या की तरह यह भी विलुप्त हो चुकी होती।

संगीत के क्षेत्र म अभ्यास को रियाज और साधना के रूप में अधिक प्रयोग किया जाता है। यह विद्या शुद्ध रूप से व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित है। किताब पढ़ कर या सुत्र याद कर कोई गायक और वादक नहीं बन सकता है। इसके लिए उसे साधना करनी पड़ेगी। उसे नियमित रूप से रियाज करना पड़ेगा और कब तक करना पड़ेगा इसकी कोई सीमा निश्चित नहीं है, क्योंकि संगीत के आकाश में कोई कितना भी विचरण कर ले , उसकी व्यापकता यथावत बनी रहती है, असीम और अनंत।

संगीत में ध्वनि की महत्वपूर्ण भूमिका है, योग शास्त्र में कहा जाता है - नाद ब्रह्मः यानि ध्वनि ही ईश्वर है। हमारे कंठ की यह विशेषता है कि, हम अनेक प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न कर सकते है। अलग-अलग ध्वनियों का प्रकृति पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। ध्वनि की इसी समझ से भारतीय शास्त्रीय संगीत का जन्म हुआ है। ध्वनि का किस प्रकार प्रयोग किया जाए, जिससे यह मन और शरीर पर एक विशेष प्रभाव डाल सके। इसके लिए कठिन अभ्यास जरूरी है।

संगीत का अभ्यास अर्थात मनुष्य की सभी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और मन को एकाकार और वश में करना होता है। हम सभी जानते है कि इनमें से किसी एक पर भी विजय प्राप्त करना कितना कठिन होता है, उसमें भी सबसे तीव्र और चंचल इस मन को वश में करना सांसारिक जीवन जीने वाले मनुष्यों के लिए अति दुष्कर माना गया है। परन्तु संगीत साधना करने वालों को इस चंचल मन को आवश्यक रूप से वश में करना होता है, और यह

पूर्व शोध छात्र, विश्व वि., हिन्दी विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

मात्र अभ्यास के द्वारा ही संभव है। गीता में अर्जुन द्वारा चंचल मन को वश में करने संबंधी प्रश्न पर भगवान श्रीकृष्ण ने कहा था-

असांशयं हाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च ग हयतें।

निःसंदेह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु अभ्यास अर्थात बारम्बार यत्न करने और वैराग्य से यह वश मे होता है, इसलिए इसे अवश्य वश में करना चाहिए। आगे कहते है कि वश में न करने वाले पुरूष द्वारा योग दुष्प्राय है। ज्ञात हो संगीत भी एक योग है, कठिन योग है, इसलिए कठिन अभ्यास के साथ-साथ गुरू का आशीर्वाद और ईश्वर का वरदान भी आवश्यक है। अभ्यास की निरंतरता के कारण ही शास्त्रीय संगीत से जुड़े लोग स्वभाविक रूप से संत-महात्मा जैसे हो जाते हैं। संगीत साधना को वो आध्यात्मिक प्रक्रिया के लिए एक साधन की तरह प्रयोग करते हैं तथा उसके अभ्यास में ध्यानस्थ हो जाते है।

सर्वप्रथम अभ्यास, ध्वनि उत्पन्न करना और श्रवण करने का किसी एक के अभाव में हम दूसरे की कल्पना नहीं कर सकते।

कंठ(स्वरतंत्र,गला) ध्वनि उत्पन्न करते हैं। किन्तु प्रत्येक ध्वनि स्वर नहीं कहलाता। स्वर वह है, जो स्थिर रहे तथा जिसकी झंकार श्रोता के चित्त का रंजन करे वे मधुर ध्वनियाँ स्वर कहलाती है। (संगीत रत्नाकर), संगीत सात स्वरों का समूह है, सामवेद में कहा गया है कि यदि स्वर की शक्ति के अनुरूप गायन किया जाए तो सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। यह निरंतर अभ्यास के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। बिना अभ्यास के हम ईच्छानुसार स्वर नहीं निकाल सकते। शास्त्रीय संगीत का अर्थ यह होता है कि, जो संगीत विशेष प्रकार के नियमों से आबद्ध हो। जिसकी एक निश्चित पद्धति हो। आप अपनी ईच्छानुसार किसी स्वर को कही बैठा नहीं सकते। यह एक गूढ़ विषय है।

सात शुद्ध स्वरों के समूह को सप्तक कहते है, सप्तक के तीन प्रकार हैं-मंद्र,मध्य और तार सप्तक। स्वरों में भी शुद्ध, कोमल और तीव्र स्वरों का भेद है। गायन, वादन और नृत्य की गति को लय कहते हैं इसके भी तीन प्रकार हैं- विलंबित, मध्य और द्रुतलय। संगीतोपयोगी ध्वनि नाद कहलाती है- इनके भी दो प्रकार हैं- अनाहत नाद (गुप्तनाद, सूक्ष्मनाद) और आहतनाद। वह स्वर समूह जो राग उत्पन्न करते हैं उसे "थाट" कहते हें, इसकी संख्या दस मानी गयी है। रागो की संख्या अनंत है परन्तु इसके भी दस लक्षण दिये गये हैं, इनकी तीन जातियाँ है- औडव, षाडव और सम्पूर्ण । आलाप, आरोह, अवरोह, पकड़, वादी, संवादी, विवादी, आवर्त्तन आदि ऐसे सूक्ष्म सिद्धान्तों की लम्बीं श्रृंखला है, जिसे मात्र व्यावहारिक रूप से अभ्यास कर जानना, समझना और प्रवाहित करना होता है।

गायन में कान और कंठ को एक दूसरे का पूरक बनाया जाता है। इन्हें अधिक कठोर परिश्रम और निरंतर अभ्यास करना पड़ता है। कंठ जब एक स्वर से दूसरे स्वर की दूरी को सुगमता और सरसता से पार करना सीख जाता है तो उसमें अद्भुद आकर्षण और मधुरता उत्पन्न होने लगती है। अभ्यास की निरंतरता से - आवाज में सुरीलापन , स्वर पर स्थिर होना , ठहराव तथा कर्णप्रियता आती है। किन्तु यह ध्यान रहे योग्य गुरू का सानिध्य और स्नेह अभ्यास की क्षमता और परिणाम कई गुणा बढ़ा देती है।

संगीत सात स्वर और बाइस श्रुतियों का समूह है। स्वर,श्रुतियों के माध्यम से मन मस्तिष्क तक पहुँचती है तथा सुप्त आत्मा को जगाती है। ये स्वरानुरूप भावना का संचार करती है। स्वर को पहचानने का कार्य श्रवण अंग का है। वही स्वर और सप्तक जानती है, आकार, ओकार का विभेद जानती है, ध्वनि पहचानती है, शुद्ध, कोमल, तीव्र, अच्छा-बुरा, राग, ताल सब पहचानती है। अतः श्रवण अंग (कान) का संगीत में महत्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि प्रायः गायकों द्वारा अभ्यास आँख मूँद कर भी किया जाता है, जिससे दृष्टि द्वारा उत्पन्न बाधा समाप्त हो जाती है और कान अपनी पूरी संवेदनशीलता का प्रयोग स्वरों की पहचान और आनंदानुभूति को प्राप्त करने में लगा देता है। श्रवण

शक्ति को संगीत शास्त्र के अनुसार योग्य बनाने के लिए निर्बाध तथा लगातार अभ्यास की आवश्यता होती है।

संगीत शास्त्र में गायकों के सोलह श्रृंगार बताये गए हैं, इनमें से लगभग आधे श्रृंगार मात्र अभ्यास द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं। गायकों के जितने भी गुण बताये गये है, सभी अभ्यास जनित हैं। नृत्य और वादन में भी अभ्यास वैसा ही आवश्यक है जैसा की गायन में -स्वरानुरूप विभिन्न अंगों का संचालन नित्य अभ्यास की ही परिणाम होता है।

अभ्यास (रियाज) के कुछ नियमः-

अभ्यास पूर्व गायकों को अपने स्वास्थ्य पर ध्यान देना चाहिए। "सब साधन के मूल शरीर" इसके बिना हम कोई साधना नहीं कर सकते है। हल्का तथा सुपाच्य नाश्ता करने के बाद रियाज करना। अभ्यास पूर्व कफ और वात वर्द्धक चीजों से दूर रहना चाहिए। अभ्यास के बाद हल्की गर्म वस्तु ही खानी-पीनी चाहिए। अभ्यास का सबसे उत्तम समय प्रातःकाल माना गया है, शाम में भी अभ्यास किया जाता है। कमरे में ही करना हो तो खिड़कियाँ अवश्य खुली रखें। अभ्यास के समय ऐसा आसन लगा कर बैठना चाहिए जिससे रीढ़ की हड्डी, सिर, गर्दन, छाती व पेट एक सीध में होनी चाहिए।

निष्कर्षतः

अतः यह कहना अतिश्योक्ति ना होगा कि, संगीत का अभ्यास चाहे जितना भी किया जाए इसकी व्यापकता और उपयोगिता की तुलना में यह कम ही होगा। शायद संगीत में अभ्यास की महत्ता, निरंतरता और आावश्यकता बताने के लिए ही नारद जी सदा वीणा और करताल लिए माँ सरस्वती वीणा और पुस्तक लिए , शिव डमरू, विष्णु शंख और कृष्ण बाँसुरी के संग ही दृष्टिगोचर होते आये हैं।

संदर्भ ग्रंथः-

1. मधुरस्वर कैसे?
2. श्रीमद्भागवत गीता।
3. संगीत रत्नावली।
4. राग परिचय।

लय और ताल का महत्व

प्रिया तिवारी

संगीत के दो आधार स्तम्भ स्वर और लय हैं। इन्हीं दोनों के आधार पर कलाकार संगीत की सृष्टि करता है। स्वर का प्रयोग रागों में तथा लय का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है। स्वर के अतिरिक्त लय और ताल संगीत के अविभाज्य अंग हैं। यहां हम संगीत में लय और ताल के महत्व और उनकी उपयोगिता पर विचार करेंगे।

लय- लय सुन्दर का चरम विधान है। इसी कारण सुन्दर का सीधा सम्बन्ध हृदय की धड़कन से है।''

लय संगीत में ही नहीं वरन् समस्त सृष्टि और मानव जीवन में व्याप्त है। प्राणी के हृदय की गति और नाड़ी एक निश्चित लय में ही चलती है। बात-चीत करना, चलना-फिरना, शरीर में रक्त-संचालन आदि में एक निश्चित लय रहती है। इस गति में जरा भी अन्तर आ जाने से बड़े अनिष्ट की कल्पना की जा सकती है। अतः हम कह सकते हैं कि लय ही जीवन है। इसी प्रकार से लय का सम्बन्ध सृष्टि संचालन में भी है। आकाश मण्डल में सब नक्षत्र एक निश्चित लय में ही घूमते हैं। पृथ्वी की निश्चित गति में लेश मात्र भी अन्तर आ जाने से भूकम्प जैसी अनिष्टकारी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। लय का भी संगीत में इसी प्रकार महत्व है।

संगीत में यह तत्व अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। लय गति का विशिष्ट रूप है। लय, क्रिया और विश्रान्ति दोनों से ही निर्मित होती है लय और जीवन का घनिष्ठ संबंध है। ''अनेक अंगों की पुनरावृत्ति से लय बनती है।' इस तथ्य का प्रकाशन सन् 1978 में नीहार रंजन राय, एम.जी. वसानी ने दी मैकमिलन कम्पनी अ०फ इण्डिया लि. के लिये किया था।

संगीत रत्नाकर में लय की व्याख्या इस प्रकार की गई है-

''क्रियान्तरविश्रांतिर्लयः''

अर्थात् क्रियाओं के मध्य की विश्रांति अथवा अवकाश ही लय है। किन्तु यह विश्रान्ति प्रमाण में समान होनी चाहिये। यही संगीत में प्रयोज्य है। क्रियाओं के अनंतर समय की समान विश्रान्ति को 'लय' कहते हैं। संगीत में क्रियाओं के अनन्तर विश्रांतियों की 'समता' ही लय का आधार है। 'समता' सौन्दर्य का एक सामान्य सिद्धान्त है। लय का हमारे समग्र जीवन में महत्व है। लय संगीत में काल तत्व का रूप-निर्धारण करती है और तब ताल की रचना होती है। गंधर्व (संगीत) की रचना में स्वर, ताल और पद का योगदान रहता है।

सर्वविदित है कि संगीत में लय का सम्बन्ध सदा से चला आया है। आदिकाल से ही अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख मिलता है। उस समय के वाद्यों में भूदुन्दुभि, बनिस्पति, भेरी आदि उल्लेखनीय वाद्य हैं। उपनिषद्, रामायण, महाभारत तथा प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में इस प्रकार के वाद्यों का उल्लेख यदाकदा मिलता है। संगीत में लय के प्रयोग की शृंखला इस समय तक अटूट चली आई है और जब तक सृष्टि, मानव और संगीत रहेगा, लय का स्थान संगीत में इसी तरह बना रहेगा। आजकल के संगीत और रूचि से हम भली-भाँति अनुमान लगा सकते हैं कि लय-प्रधान संगीत साधारण जनता में बड़ी रूचि से सुना जाता है। संगीत का आधार स्वर तो है, परन्तु किसी भी राग का विस्तार आलाप, तान, बोल-तान, सरगम आदि लय के विविध रूपों पर ही आधारित रहता है। बिना लय के स्वर-विस्तार से न तो श्रोताओं को ही आनन्द मिलता

शोध छात्रा, संगीत एवं मंच कला संकाय, बी.एच.यू., वाराणसी

है और न ही वह पूर्ण संगीत कहला सकता है। यदि लय-विहीन स्वर-विस्तार को संगीत कहा जा सकता होता तो कोयल की कूक को भी संगीत की संज्ञा दी जाती होती। अतः लय विहीन स्वर संगीत-कला की दृष्टि से अधूरा रह जाता है।

ऊपर हमने लय का स्थान प्रकृति में और मनुष्य (संगीत) में देखा। परन्तु दोनों प्रकार की लयों में अन्तर है। प्रकृति की लय समान होती है और उसमें अन्तर नहीं आता। परन्तु मनुष्य की लय अपनी आवश्यकतानुसार पहले अपनी एक लय निश्चित कर लेता है और फिर अपनी कलात्मक साधना के द्वारा विभिन्न प्रकार की लयकारियों की सृष्टि करता है। लय के अगणित प्रकार हो सकते हैं। परन्तु प्राचीन काल में ही विद्वानों ने सुविधा के लिये इसे तीन प्रकारों में बाँट दिया था, जो विलम्बित लय, मध्यलय और द्रुत लय के नाम से सर्वविदित है।

ताल

संगीत में समय की बराबर-बराबर इकाइयों से मात्रा बना और विभिन्न मात्राओं के योग से अनेक तालों की रचना की गई। प्रत्येक ताल में कुछ मात्रा, विभाग तथा ताली-खाली का होना आवश्यक है। इससे संगीत में सुविधा के साथ-साथ आनन्द की भी वृद्धि होती है। भारतीय-संगीत में ताल का समावेश अपनी मौलिक-विशेषता है। पाश्चात्य-संगीत में लय का महत्व अधिक है। वहाँ ताल का यह रूप नहीं है, जो हमारे संगीत में है। तेरहवीं शताब्दी के विद्वान ने अपनी पुस्तक 'संगीत-रत्नाकर' के ताल अध्याय में लिखा है कि-

"तालस्तलप्रतिष्ठयामितिधातोर्घत्रिस्म तः।
गीतंवाद्यं तथा नृत्तं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्।।"

अर्थात् गीत, वाद्य एवं नृत्य की प्रतिष्ठा ताल से हुई है एवं प्रतिष्ठावाचक धातु रूप 'तल' से ताल शब्द की उत्पत्ति हुई है। ताल की सार्थकता गायन, वादन तथा नृत्य में कितनी अधिक है, भरत ने अपने ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है। उनके मतानुसार, "जिसे ताल का ज्ञान नहीं उसे गायन या वादन नहीं कहा जा सकता।

"यस्तु ताल न जानति
सः गाता न वादकाः।"

कुछ ग्रन्थों के अनुसार ताण्डव नृत्य के 'ता' से तथा लास्य नृत्य के 'ला' के योग से 'ताल' बना। अतः भगवान शंकर-पार्वती या शिव और शक्ति के योग से 'ताल' की उत्पत्ति हुई। कुछ भी हो संगीत के इस अखण्ड-काल को नापने और विभाजित करने के लिये ताल की रचना हुई। अतः ताल का प्रयोग भारतीय संगीत में आदि काल से चला आ रहा है। ताल स्वरों को गति प्रदान करता है तथा संगीत को एक निचित नियम में बाँधता है। जिस प्रकार जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिये निश्चित नियम और क्रम की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार संगीत को सुचारू रूप से चलाने के लिये ताल की आवश्यकता पड़ती है। उसी सुचारू रूप के संचालन से संगीत में एक अनुशासन आ जाता है, जिसके चमत्कार से श्रोतागण आनन्द-विभोर हो जाते हैं। अनुमान है कि संगीत में ताल का तथा साहित्य में छन्द का जन्म स्वाभाविक रूप से हुआ होगा। आज जितने प्रकार की गायन-शैलियाँ प्रचार में है, उतने ही प्रकार की तालें भी है। जैसे- ख्याल के लिये एकताल, तिलवाड़ा आदि ध्रुपद के लिये चारताल, सूलताल आदि तथा गीत, भजनों के लिये दादरा, कहरवाँ आदि ताले हैं। इन सभी का उद्देश्य संगीत में समय का मापन तथा व्यवस्था स्थापित करना है। आज हम संगीत के ऐसे कार्यक्रम की कल्पना नहीं कर सकते, जिसमें लय और ताल दिखलाने के लिये किसी वाद्य का प्रयोग न किया गया है। जिस प्रकार जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिये निश्चित, नियम, क्रम तथा अनुशासन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार संगीत का भी सुचारू रूप से संचालन करने के लिये ताल की आवश्यकता पड़ती है। ताल स्वरों को गति प्रदान करता है और संगीत को एक निश्चित नियम में बाँधता है। यही अनुशासन श्रोता को मंत्रमुग्ध करता है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संगीत में 'लय और ताल' का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

संदभ ग्रन्थ सूची

1. ताल शास्त्र का सैद्धान्तिक पक्ष- निशि गुप्ता- कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्टीब्यूटर्स , नई दिल्ली-110002
2. संगीत मैनुअल, डॉ. मृत्युन्जय शर्मा एवं रामनारायण त्रिपाठी, एच.पी. पब्लिकेशन इण्डिया

शास्त्रीय संगीत की बंदिशों में स्वर-लय ताल का महत्व

मनीष कुमार वर्मा

स्वर एवं लय भारतीय संगीत के दो आधार स्तम्भ तो हैं ही बिना लय के एक क्षण भी जीना असम्भव है बल्कि यूँ कहें कि मानव जीवन एवं सृष्टि का संचालन लय के द्वारा ही सम्भव है किन्तु अगर संगीत की बात करें तो संगीत में चाहे वह गायन, वादन या नृत्य ही क्यों न हो इन तीनों विधाओं के लिए स्वर लय एवं ताल ये तीनों महत्वपूर्ण अंग हैं। इनके बिना संगीत नीरस है। संगीत शिक्षण परंपरा में स्वर-लय एवं ताल के महत्व को समझने से पूर्व इसकी संक्षिप्त परिभाषा समझ लेनी चाहिए कि स्वर, लय और ताल किसे कहते हैं?

स्वर -

22 श्रुतियों में से मुख्य 12 श्रुतियों को स्वर कहते हैं, ये स्वर सप्तक के अन्तर्गत थोड़ी-थोड़ी दूर तक फैले हुए हैं, इन स्वरों के नाम हैं- षड़ज, ऋषभ, गन्धार मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद।

स्वर मुख्य दो प्रकार के माने गए हैं -

1. शुद्ध स्वर
2. विकृत स्वर

1. शुद्ध स्वर -

बारह स्वरों में से सात मुख्य स्वरों को शुद्ध स्वर कहते हैं। दूसरे शब्दों में जब स्वर अपने निश्चित स्थान पर रहते हैं, तो शुद्ध स्वर कहलाते हैं, इनकी संख्या सात मानी गई है- सा रे ग म प ध नी।

2. विकृत स्वर -

पाँच स्वर ऐसे होते है जो शुद्ध तो होते ही हैं साथ-ही-साथ विकृत भी होते हैं जो स्वर अपने निश्चित स्थान से थोड़ा हट जाते हैं अथवा चढ़ या ऊपर जाते हैं, वे स्वर विकृत कहलाते हैं, अगर शुद्ध ग का स्थान 8वीं श्रुति पर है, तो 7वीं श्रुति पर स्थापित गंधार विकृत ग होगा। विकृत स्वर भी दो प्रकार के होते है।

कोमल विकृत और तीव्र विकृत -

एक सप्तक में 7 शुद्ध, 4 कोमल और एक तीव्र स्वर, कुल मिलाकर 12 स्वर होते हैं।

चल स्वर - वे है जो शुद्ध होने के साथ-साथ विकृत (कोमल अथवा तीव्र) भी होते हैं जैसे रे, ग, ध और नी, रे ग, ध और नी स्वर कोमल विकृत और तीव्र विकृत होता है।

अचल स्वर -वे हैं जो सदैव शुद्ध होते हैं, विकृत कभी नहीं होते। सा और प ये दो स्वर अचल कहलाते हैं, क्योंकि ये अपने स्थान पर अडिग रहते है। इनमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

लय -

लय का अर्थ है लीन होना। संगीत में दो क्रियाओं के मध्य का काल लय कहलाता है। यह तीन प्रकार की होती है - 1. विलम्बित 2. मध्य 3. द्रुत।

शोध छात्र, संगीत एवं मंच कला संकाय, बी.एच.यू., वाराणसी

आजकल गति को लय कहते हैं इसलिए प्राचीन ग्रंथों और वर्तमान में विलम्बित, मध्य, द्रुत के क्रम में विपरीत सम्बध हो गया है।

ताल -

ताल शब्द तल धातु से बनता है। गीत, वाद्य और नृत्य ताल से ही प्रतिष्ठा पाते हैं। काव्य में छन्द और संगीत में ताल समय को मापने के पैमाने है। लय भेद से भिन्न-भिन्न मात्राओं अथवा उनके समान मात्राओं के अन्तर्गत आने वाले विभागों से तालों का निर्माण होता है।

स्वर एवं लय भारतीय संगीत के दो आधार स्तम्भ तो हैं ही बिना लय के एक क्षण भी जीना असम्भव है बल्कि यूँ कहें कि मानव जीवन एवं सृष्टि का संचालन लय के द्वारा ही सम्भव है किन्तु अगर संगीत की बात करें तो संगीत में चाहे वह गायन, वादन या नृत्य ही क्यों न हो इन तीनों विधाओं के लिए स्वर लय एवं ताल ये तीनों महत्वपूर्ण अंग हैं। इनके बिना संगीत नीरस है।

सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक में, जब मनुष्य के ह्रदय स्पन्दन तक में गति लोप होने लगता हैं तब कुछ अनिष्ट घटनाओं की सम्भावना होती है। इस प्रकार लय का सम्बन्ध सृष्टि के कण-कण से है। तथा संगीत से विशेष रूप से हैं। हमें यहाँ देखना है कि संगीत का लय से क्या सम्बन्ध हैं? और लय का संगीत में क्या स्थान है? तथा कला के विकास में लय कहाँ तक सहायक है। संगीत और लय का सम्बन्ध आदिकाल से चला आ रहा है।

अवनद्ध वाद्यों के प्रयोग का उल्लेख वैदिक युग मैं है। जैसे भू-दुन्दुभि जिसमें जमीन में गढ्ढा खोदकर उसमें चमड़े में मढ़कर प्रयोग में लाया जाता था। उपनिषदों, रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख आया है।

आजकल अवनद्ध वाद्यों का महत्व इतना बढ़ गया है कि बिना इसके संगीत के किसी कार्यक्रम की कल्पना तक नहीं की जा सकती, स्वर संगीत का आधार अवश्य है, किन्तु किस समय किस राग का विस्तार किया जाता है इस समय आलाप, तान, बोल तान, सरगम आदि विभिन्न लयों में किये जाते हैं।

लय विहिन स्वर विस्तार से न तो श्रोताओं को अधिक आनन्द मिलता है और हम इसे पूर्ण कला भी नहीं कह सकते है। बल्कि ये कहिए कि लय विहिन स्वर विस्तार ताल रहित स्वर नलिका के समान हैं। जिसे हम संगीत में कला मान भी ले तो कोयल की कूहू-कूहू और बुलबुल की मधुर तानों को भी संगीत कला में स्थान देना पड़ेगा। क्या कोई भी संगीतकार ऐसा मानने को तैयार होगा? उत्तर होगा नहीं, कोयल की कूक में मधुरता अवश्य है, किन्तु रचना कहाँ है? उपज कहाँ है? सहज फूट पड़ने वाले उद्‌गार अवश्य है। परन्तु उसमें रचनात्मक प्रवृत्ति तथा बौद्धिक सहयोग का अभाव है। जिस प्रकार कोयल व पपीहे की पुकार को कला नहीं कह सकते उसी प्रकार सूर्योदय-सूर्यास्त को कला नहीं कह सकते। मयूर के नृत्य को भी कला नहीं कह सकते। इससे यह स्पष्ट है कि लय विहीन रचना को संगीत कला नहीं कहा जा सकता। संगीतकला का मुख्य उद्देश्य आनन्द की सृष्टि करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति में ताल बड़ा सहायक होता है। जो गीत ताल प्रधान होते है, वे गीत जनता को सरलता से प्रभावित करते है। इसीलिए साधारण जनता लोकगीत आदि के साथ ताल देने लग जाते है। गायों में अधिकतर ढोलक का प्रयोग होता है। शहर में रहने वाले लोगों को भी किसी संगीत कार्यक्रम में गायक और तबलिये के साथ लड़न्त-भीड़न्त में अधिक आनन्द मिलता है। प्रकृति और मनुष्य के लय में बड़ा अन्तर होता है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, मौसम इत्यादि में एक निरन्तर गति है।

जो अनन्त है। इसके न तो आरम्भ का पता है न ही अन्त का। परन्तु इसकी गति आवश्यकतानुसार घटाई-बढ़ाई जा सकती है। इसीलिए लय के तीन प्रकार माने गये है- 1. विलम्बित 2. मध्य 3. द्रुत। मनुष्य अपना लय हमेशा एक सा रखना चाहें तो सम्भव नहीं है। एक ही गीत विभिन्न समय में गाए जाने पर इसकी लय भिन्न होगीं, चाहें, निर्मित लय की विशेषता एक और है। कि वह लय को आधार

मानकर विभिन्न प्रकार की लयकारियों से खेलता है। और कितनी कुशलतापूर्वक ताल से मिलता है। वह जितना कुशलतापूर्वक ताल से मिलता है उतना ही लयकार समझा जाता है। लयकारी द्वारा केवल चमत्कार का प्रदर्शन ही नहीं बल्कि आनन्द की वृद्धि भी होती है। जिस प्रकार लोहे से स्वर गति पैदा होती है, वह गति ही जीवन है। लय से मात्रा और मात्रा से ताल तथा लय को मात्रा व तालबद्ध करने में वह ताल के विभाग, ताली-खाली आदि में विभाजित करने से सुविधा और आनन्द दोनों की प्राप्ति होती है।

इस उपकरणों की सहायता से गायक को सरलता से मालूम हो जाता है, कि गाते समय वह किस मात्र पर है। जिससे उसे अपने मन से गाने में सरलता होती है। ताल भारतीय संगीत की विशेषता है। पाश्चात्य संगीत में केवल लय दिखाई जाती है उनके यहा भारतीय ताल के समान कोई चीज नहीं है। गीत के प्रकार जितने हैं ताल भी उतने ही प्रकार के हैं। ख्याल के लिए तीनताल, झपताल, एकताल, झूमरातात, ध्रुपद के लिए चारताल-सूलताल और ठुमरी के लिए दीपचन्दी, मत्त ताल आदि तालों की रचना हुई। इन सभी तालों का महत्व गायन, वादन, नृत्य के लिए है।

इसलिए किसी भी कार्यक्रम में ताल का प्रयोग अवश्य होता है। शास्त्रिय संगीत, लोकगीत, भजन, फिल्म संगीत आदि में लय दिखाने के लिए किसी न किसी अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग होता है, हम कह सकते है कि दाल के लिए नमक, भाषा के लिए व्याकरण और कविता के लिए छन्द जितना महत्वपूर्ण है। उतना ही संगीत के लिए लय- स्वर ताल अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण है।

वर्तमान समय में उच्च शिक्षण संस्थानों में संगीत की स्थिति

डॉ. नीरा चौधरी

संगीत कं न मोहयेतु" अर्थात् संगीत किसे नहीं मोह सकता। समस्त ललित कलाओं का सरताज "संगीत" आदिकाल से अनवरत समस्त जीव चराचर को अपने मोह-पाश में आनन्दवर्धन हेतु आबद्ध किए हुए है। बुद्धिजीवियों की कौन कहे बीन की धुन पर सर्प का झूमना, मोर का मनोहर नृत्य, राग तोड़ी के स्वर के प्रभाव से मृग का बरबस खींचा चला आना ऐसे कई प्रत्यक्ष प्रमाण है। स्वरों का कैसा अद्‌भुत प्रभाव है, जिसने अबोध हिरण, मोर, सर्प आदि को अपने गूंजन में सराबोर कर दिया है।

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या इस अद्‌भुत प्रभुत्वशाली संगीत कला का मर्म हमारे शिक्षाविद, सरकार, प्रबन्धन समिति, अनुदान आयोग आदि स. ाझ पा रहे है? क्या स्थिति टके सेर भाजी और टके सेर खाजा वाली नहीं है? क्या उच्च शिक्षण संस्थानों में संगीत शिक्षण की स्थिति संतोषप्रद है? ऐसे बहुत से प्रश्न है जो संगीत जिज्ञासु व संगीत मर्मज्ञों को आहत करते है तथा अपेक्षित सुधार के लिए सोचने को बाध्य करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से बीसवीं शताब्दी के पूर्वाध का समय संगीत के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन का समय था। विद्वानों के अथक प्रयास ने संगीत को राजदरबारी बन्धन से मुक्त कर तथा पारम्परिक गुरु-शिष्य परम्परा में सिमटी संकुचित शिक्षण प्रणाली को उसके विस्तृत रुप में सुगम किया। इन संगीत सुधारको और क्रान्तिकारी प्रर्वत्तकों में व्रिणु नारायण भातखण्डे और-विष्णु दिगम्बर पलुस्कर का नाम अग्रणी है। इन दोनों युग द्रष्टाओं ने संगीत युग को नई दृष्टि दी तथा संगीत शिक्षण के प्राचीन कलेवर के स्थान पर संगीत संस्थाओं का नव निर्माण कर आम जनता में संगीत चेतना को चैतन्य किया। कल तक जो संगीत सीखना लोहे के चने चबाने की तरह कठिनतम था वह इन विद्वानों के प्रयास से संस्थाओं में विभक्त होकर सहजगम्य और सार्वजनिक हो गया। इन संस्थाओं में गंधर्व महाविद्यालय(लाहौर), माधव संगीत महाविद्यालय (ग्वालियर), मैरिस कॉलेज ऑफ म्यूजिक(लखनऊ) बनारस हिन्दु विवविद्यालय बनारस इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय (खेरागढ़) का नाम अग्रणी है। उच्च शिक्षण संस्थानों में संगीत की शिक्षा सराहनीय है, जहा निष्पक्ष भाव से संगीत जिज्ञासु एक निश्चित शुल्क देकर अपनी संगीत जिज्ञासा को पूर्ण कर सकता है, समूह में सीखने के कारण उनमें भाइचारे और सामूहिक ज्ञान का विकास होता है। उन्हें क्रियात्मक शिक्षा के साथ-साथ सैद्धान्तिक शिक्षा भी दी जाती है जिससे वे अपने ज्ञान के दोनों पक्ष पर ध्यान दे पाते है, आपसी प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता के कारण उनमें और-सीखने और अच्छा प्रदर्शन देने की क्षमता विकसित होती है। उच्च संस्थानों में संगीत विषय इंटर स्तर से शुरु हो कर शोध के कार्य को भी बखूबी अन्जाम दे रहा है। संगीत जो कल तक व्यक्ति विशेष तक हीं सीमित था आज वह एक विषय के रुप में अन्य विषयों के समक्ष बड़े गर्व से खड़ा है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या सभी विषयों की भाति संगीत का भी शिक्षण होना चाहिए? सर्वथा नहीं क्योंकि संगीत एक मूर्धन्य कला है, एक साधना है, अन्य विषयों को ध्यान में रखकर नहीं बल्कि इसके पाठयक्रम को संगीत को ध्यान में

अध्यक्ष संगीत विभाग, मगध महिला विद्यालय, पटना

रखकर बनाये जाए तो बेहतर परिणाम हमारे सामने होंगे। एक वर्ष में 12 से 15 राग सीखाने का जो क्रम है क्या यह महज खानापूर्त्ति नहीं है? एक तो बहुत कम विश्वविद्यालय हैं जहा पात्रता परीक्षा लेकर छात्रों का नामांकन होता है। जिन छात्रों का नामांकन बिना पूर्व परीक्षा के लिए होता है, उनमें मुश्किल से दस प्रतिशत छात्र ही वांछनीय योग्यता रखते है, शेष छात्रों में तो प्रारम्भिक ज्ञान का भी अभाव पाया जाता है। ऐसे में शिक्षक उनका प्रारम्भिक ज्ञान सम्पुष्ट करें या फिर पाठ्यक्रम की खाना पूर्ति? संगीत शिक्षण के नाम पर छात्रों की भीड़ इकट्ठा करना संगीत के साथ न्याय नहीं।

डॉ. ब्रजरानी शर्मा के शब्दो में शास्त्रीय संगीत सम्पूर्ण जीवन एवं व्यक्तित्त्व के प्रति समग्र समन्वित दृष्टिकोण है। इसके अन्तर्गत सौन्दर्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, मनोविज्ञान, साहित्य, दर्शन जैसे विषयों का अध्ययन आता है।"1 अतः इस विषय के विषय में समाज जिन पूर्वाग्रहों व कुत्सित विचारों के भ्रम जाल में फसा है पहले उन भ्रम जालों को काटना परम आवश्यक है इसे सिर्फ गाने-बजाने की कला कह कर हम किनारा नहीं कर सकते बल्कि इसके औषधियु से आध्यात्मिक गुणों की सूक्ष्मता को जानकर इसका प्रयोग समस्त जगत् के समुचित विकास के लिए किया जाना चाहिए। अरस्तु ने कहा है "बांसुरी की स्वरलहरियों में भावनात्मक विकारों को दूर करने की अदभुत क्षमता होती है।" अतः भ्रान्तियों को तज कर सकारात्मक सोंच पर बल देना हमारा प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए। इक्कीसवीं सदी ने संचार के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन लाये है। अतः उच्च संस्थानों में सीडी, टेप, प्रोजेक्टर आदि अत्याधुनिक उपकरणों के माध्यम से संगीत को छात्रों के बीच बोधगम्य बनाया जाना चाहिए। समय-समय पर संगीत सम्बन्धित समस्याओं पर विचार गोठियों का आयोजन हो जिसमें विश्वविद्यालय प्रबन्धन समिति, अनुदान आयोग तथा समाज के गणमान्य जनों को आमंत्रित किया जाए, जिससे वह समस्याओं से अवगत हो तथा उनसे अपेक्षित सुधार की लगातार माग की जाए। तब तक, जब तक पर्याप्त सुधार न हो जाए।

हम अर्थ युग में जी रहे है जो विद्या अर्थकरी नहीं है वह आज के परिवेश में स्वीकार्य भी नही है। संगीत के प्रति लोगों की यह धारणा है कि इसमें रोजगार के क्षेत्र बहुत सीमित है अतः हमें सरकार का ध्यान इस ओर भी आकृष्ट करना होगा। अक्सर यह पूछा जाता है कि संस्थाओं से अब कलाकार कहा निकल पाते है? तो पहले यह वताया जाए कि क्या चार से छः साल के बधें बधांये पाठयक्रम से कलाकार पैदा होंगे? अगर परिणाम बेहतर चाहिए तो परिस्थितिया भी बेहतर बनानी होंगी। ये अपेक्षाए हिन्दी, अंग्रेजी विभाग से क्यो नहीं है? वो प्रति वर्ष कितने साहित्यकारों को निकाल पा रहें हैं। अपेक्षाए तो बहुत है किन्तु इन्हे सफल बनाने के लिए अनुदान आयोग से लेकर प्रबन्धन संमितियों को उदारवादी और विकासवादी दृष्टिकोण अपनाना होगा। प्रगतिवादी सोच के प्रति जब हमारे हर कदम बढ़ने लगेंगे तभी एक स्वस्थ संगीतमय संसार की कल्पना पूर्ण होगी अन्यथा संगीत एक ऐतिहासिक गाथा बनकर पुष्प गुच्छ के भेंट चढ़ जाएगा। डॉ. मनोरमा झा ने लिखा है-"सांस्कृतिक एकता का आधार मुख्य रुप से भावनात्मक एकता है और संगीत से बढ़कर ऐसा कोई भी अन्य तत्व इस कार्य के लिए इतना प्रभावी नहीं हो सकता है।" 2

संदर्भः-

(1) विद्यालयीन शास्त्रीय संगीत-शिक्षण की चिन्तनीय स्थिति, डॉ. ब्रजरानी शर्मा। भैरवी संगीत शोध पत्रिका, अंक 4 पृष्ठ संख्या 19

(2) भारतीय संस्कृति में संगीत का स्थान, डॉ. मनोरमा झा, भैरवी संगीत शोध पत्रिका, अंक 2 पृष्ठ संख्या 77

भारत की धार्मिक संगीत परम्परा

पं. रविनाथ मिश्रा

भारत एक धर्म प्रधान देश है। इसका धार्मिक चिंतन करने का मुख्य माध्यम संगीत है। संगीत और धर्म का आरंभ से ही अटूट संबंध रहा है। इस प्रकार सभी धर्मों का उद्देश्य आत्मा की परमात्मा से मिलने का स्रोत है इसी प्रकार संगीत मोक्ष प्राप्ति का सरलतम साधन है, संगीत जो गायन, वादन तथा नृत्य का संगम है अपने अस्तित्व के प्रथम क्षण के साथ जो आनन्द उत्साह लेकर आया वह आज भी सारे विश्व के लिए आत्मशान्ति, संतोष, उल्लास और आनन्द का साधन माना जाता है। भाषा, देश, धर्म, जाति आदि की सीमाए संगीत के आविष्कार के सम्मुख एक समान तल पर आ जाते है, सच्चा और हर समय आनंद ही देता है। अतः ईश्वर की उपासना चाहे किसी धर्म, जाति या सम्प्रदाय में हो उनकी पूजा, प्रार्थना, पुकार, स्तुति, भजन, कीर्त्तन, आदि सभी सदैव संगीत के रूप में यही सामने आये हैं। अतः पूजा से श्रेष्ठ ध्यान, ध्यान से श्रेष्ठ जाप, जाप से श्रेष्ठ गान है। इस प्रकार संगीत ध्वनि में भगवान की पूजा ही धर्मिक संगीत कहलाता है। संगीत किसी भी धर्म या धार्मिक अनुशासनों को निर्धारित करता है।

जपादि अष्टगुणम् ध्यानः ध्यानादि अष्टगुणम् तपः।
तपसा अष्टगुणम् गानम्, गानात् परत्परम्।।

वैदिक काल हमारे भारतीय इतिहास का आधार माना जाता है। इस काल में चार वेदों की रचना हुई है, जिनसे भारतीय संस्कृति का निर्धारण हुआ है। संगीत मानव की धर्मशिला का आधार है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद में उल्लिखित ऋचाए हमारी संस्कृति को समृद्धशाली बनाती हैं। इनमें ऋग्वेद विश्व का प्रचीनतम् ग्रंथ है जिसमें संग्रहीत मंत्रों को "ऋक्" या हिन्दी में "ऋचा" कहते हैं। सभी मंत्र छन्दोबद्ध है जिनमें विभिन्न देवताओं की स्तुतियाँ उपलब्ध हैं। यजुर्वेद छन्दोबद्ध नहीं है तथा उसमें यज्ञों का विधान है। अथर्ववेद में सुखमूलक एवं कल्याणप्रद मंत्रों का संग्रह व तांत्रिक विधान बताया गया है। सामवेद मंत्रों का गेय रूप है। ऋग्वेद को अन्य वेदों का मूल कहा जाता है।

जब किसी वाक्य का स्वरहीन उच्चारण किया जाता है तो उसे वाचन कहते हैं। यदि वाक्य में ध्वनि ऊँची-नीची तो हो लेकिन स्वर अपने ठीक स्थान पर न लगे तो इस क्रिया को पाठ कहते हैं और जब किसी वाक्य को इस ढंग से गाया जाए कि उसमें स्वर अपने ठीक-ठीक स्थान पर लगे तो उस क्रिया को गान कहते हैं । इसलिए संगीत के विद्यार्थी को बताया जाता है कि संगीत का मूल सामवेद (ऋग्वेद का गेय रूप) है। वेद का पाठ्य रूप उन लोगों के लिए उपयोगी है, जो नाट्य के विद्यार्थी हैं। पाठ्य का मूल ऋग्वेद, गीत का मूल सामवेद, अभिनय का मूल यजुर्वेद तथा रसों का मूल अथर्ववेद में है।

ऋग्वेद में गीत के लिए गीर, गाथा, गातु, गायत्र, गीति तथा साम शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। ऋग्वेद की ऋचाएँ स्वरावलियों में निबद्ध होने पर स्तोत्र कहलाती हैं। गीत के चार अंग बताये गये हैं- स्वर, पद, ताल तथा मार्ग। षड्ज इत्यादि स्वरों को स्वर कहतें हैं तथा आकारादि स्वरों से युक्त व्यंजनों का सार्थक या अर्थहीन समूह पद कहलाता है। विशिष्ट विभाग सहित भाषाओं की आवृत्ति को ताल कहते हैं और द्रुत, मध्य या विलंबित लय से

प्रवक्ता, ताल -वाद्य विभाग, भातखण्डे संगीत संस्थान, समविश्वविद्यालय, लखनऊ

युक्त प्रकार ही मार्ग कहलाता है। इसीलिए संगीत के विद्यार्थी को सामवेद में क्रमशः स्वरों, पदों, तालों और मार्गों का बीज खोजना होगा।

संगीत एक महान साधना है और ब्रह्म प्राप्ति उसकी सिद्धि है। नादबिन्दुपनिषद् के 42 से 45 मंत्रों में बताया गया है कि भ्रमर जिस प्रकार फूलों का रस ग्रहण करता हुआ , फूलों की गन्ध की अपेक्षा नही करता उसी प्रकार नाद में रूचि लेने वाला चित्त विषय-वासना की दुर्गन्ध में इच्छा नहीं करता। सर्प नाद को सुनकर मस्त हो जाता है, उसी प्रकार नाद में आसक्त हुआ चित्त सभी तरह की चपलतायें भूल जाता है। इसी उपनिषद् में ब्रह्म की अनुभूति शक्तियों में नाद को भी शक्ति माना गया है और यह बताया है कि उसका अभ्यास करते हुए साधक एक ऐसे मधुर स्वर संगीत में निबद्ध हो जाता है, जिससे सारा संसार ही उसे एक प्राण और परमात्मा का प्रतीक अनुभव होने लगता है।

हमारे तत्वदर्शी ऋषि, महर्षि संगीत के लाभों को भलिभाति जानते थे। उन्होंने सामवेद को गाया और जाना कि गान विद्या भौतिक और आध्यात्मिक जीवन में निःसन्देह सरसता उत्पन्न करने वाली है। वेद मंत्रों को यू ही नहीं पढ़ा जाता है वरन् एक-एक शब्द को सस्वर उच्चारण करने का नियम है। मंत्रों के अर्थों में जैसी महानता है वैसी महत्ता उनके सस्वर उच्चारण में है । इस उच्चारण से एक ऐसी स्वर लहरी का अविर्भाव होता है जो अनेक दृष्टियों से हमारे लिए लाभदायक है । इस स्वर की उपेक्षा करने से गलत रीति से उच्चारण पर अनिष्ट भी हो सकता है।

गायन-वादन के अन्तर्गत संगीत के 6 प्रमुख राग हैं , जिनका गान्धर्व वेद में उल्लेख आता है। ये हैं- श्री राग , भैरव राग , हिंडोल राग , मालकौंस राग, बिहाग राग एवं मेघ राग। इन्हीं की पांच से छः तक भिन्न जातिया एवं पुत्र राग भी हैं। इनके अतिरिक्त भी विभिन्न विद्वानों ने समय समय पर भिन्न रागों के सम्मिश्रण से नये राग तैयार किये हैं। इन्हें कब, किस समय, किस ऋतु में बजाया जाय, इसका शास्त्रोक्त विधान हैं। वांछित प्रतिफल तभी मिलता हैं जब इन नियमों-उपनियमों का पालन किया जाये । यही नहीं गायक की पात्रता भी उतनी ही अनिवार्य है ।

किसी विद्वान का कथन है कि संगीत की साधना से पृथक ईश्वर की साधना नहीं है। यदि हम ईश्वर तक पहुचना चाहते हैं तो संगीत के माध्यम को पकड़ लें। ऐसी दिव्य शांति संसार में किसी भी संगीत में नहीं मिलती।

रामायण और महाभारत काल में भी संगीत धर्म प्रधान रहा है और वैदिक काल की तरह पवित्र अनेक वाद्यों का भी उल्लेख मिलता है। इस समय संगीत ने योग का रूप ले लिया था। ज्ञानी लोग संगीत साधना योग के रूप में ही किया करते थे। श्री कृष्ण जैसा वंशी वादक आज तक पैदा नहीं हुआ। धार्मिक तथा लौकिक समारोहों पर गीत वाद्य जैसे- दुंदुभि, ढोल आदि वाद्यों से संगति की जाती थी।

संगीत एक यौगिक विद्या है जिसकी तीव्र तथा तीव्रतर ध्यनिया मनुष्य में स्नायुओं को झंकृत कर सुषुप्त कुंडलिनी को जागृत कर देती है तथा मानवता को आत्मानुभूति की चरम सीमा मोक्ष के द्वार तक पहुचा देती है जो भारतीय जीवन दर्शन का अन्तिम लक्ष्य है।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय संगीत में धार्मिकता का पुट प्रत्यक्ष रूप से दिखायी देता है। यहा धर्म को संस्कृति का शाश्वत् प्रमाण स्वीकार किया गया है। संगीत के आधीन तो यहा ईश्वर भी हो जाते हैं। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं ही कहा है कि-

नाहं वसामि बैकुण्ठे, योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।(गीता)

संदर्भ ग्रन्थ सूचीः-

- डॉ. शर्मा, स्वतंत्र, सौन्दर्य, रस एवं संगीत, दिल्ली, प्रतिभा प्रकाशन, संस्करण-2005
- डॉ. शर्मा, मृत्युन्जय, डॉ. त्रिपाठी, रामनारायण, नई दिल्ली, एच.जी. पब्लिक्रेान,
- वसंत, संगीत विशारद, प्रकाशक, संगीत कार्यालय, हाथरस(उ.प्र.), 2004

तबला वादन के क्षेत्र में अग्रणी महिला कलाकारों की भूमिका

प्रियंका अरोड़ा'
प्रो. गुरूप्रीत कौर

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो प्रत्येक क्षेत्र-संगीत, साहित्य, ललित कला, प्रेम, भक्ति, बलिदान, आदर्श एवं शौरव गाथाओं में स्त्रियों का वर्चस्व रहा है। प्राचीन ग्रन्थों में भी नारी संगीत कला के साथ उपस्थित रही है। आदिकालीन ग्रन्थों में जहाँ भी संगीत का वर्णन हुआ है, वहीं नारी को भी गायन, वादन और नृत्य के साथ निर्दिष्ट किया गया है। सभी देवताओं में देवी सरस्वती को संगीत, विद्या एवं विभिन्न कलाओं की अधिष्ठात्री माना गया है।

भारतीय संगीत में अवनद्ध वाद्यों का वादन विशिष्ट रूप से अधिक श्रमसाध्य है। यही कारण है अवनद्ध वाद्यों के वादन में बहुत समय से पुरूष वादकों का ही एकाधिकार रहा है। यद्यपि प्राचीन भिन्न चित्रों प्रस्तर शिल्पों में पुरूषों के अतिरिक्त स्त्री अवनद् वाद्य वादिकाओं के भी चित्र मूर्तियां प्राप्त होती है। संगीत के क्षेत्र में महिलाओं का आगमन काफी कठिन कार्य था जिसके परिणामस्वरूप अल्प महिलाएं ही कलाकारों के रूप में सामने आई। इसके कई कारण थे- तत्कालीन समाज में संगीत के प्रति संकुचित दृष्टिकोण, उचित परिस्थितियों का अभाव पारिवारिक वातावरण एवं महिलाओं के प्रति असहिष्णुता का भाव विद्यमान था। समाजिक परिवर्तन के चलते महिलाओं की शक्ति भी धीरे-धीरे उजागर होने लगी और उन्हें पुरूषों के समान अधिकार प्राप्त होने लगे अतः संगीत कला (गायन, वादन तथा नृत्य) में महिलाओं ने सशक्त भूमिका निभाई। वादन क्षेत्र के अन्तर्गत तबलावादन में जिन महिला कलाकारों ने अपनी प्रतिभा एवं प्रतिबद्धता के माध्यम से विश्वभर में प्रसिद्धी प्राप्त की हैं, उनमें से कुछ नाम उल्लेखनीय है-

डॉ. योगमाया शुक्ल, डॉ. आबान मिस्त्री, अनुराधा पाल, रिम्पा शिवा, सुनयना घोष।

डॉ. योगमाया शुक्ल

हिन्दुस्तानी संगीत में प्रतिष्ठित एवं प्रतिभाशाली कलाकारों में से डॉ. योगमाया शुक्ल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। डॉ. योगमाया शुक्ल ने अपनी कला साधना के लिए काफी कठिन मेहनत, अटूट लगन द्वारा भारतीय संगीत के क्षेत्र में तबले को अत्यन्त विस्तृत बनाने में अपना विशिष्ट योगदान दिया। डॉ. योगमाया शुक्ल का जन्म 14 नवम्बर 1933 ई. को असम के सिलचर नामक शहर में हुआ। आप स्व. नरसिंह भट्टटाचार्य जी की द्वितीय कन्या है। संगीत की प्रारम्भिक प्रेरणा आपको अपने पिता श्री नरसिंह भट्टाचार्य जी से मिली। पिता द्वारा प्रेरित बालिका योगमाया शुक्ल की गायन व तबला वादन की शिक्षा स्व. उ. अलाऊदीन खाँ ने नाती उस्ताद फुलझड़ी-खाँ से प्रारम्भ हुई। श्रीमती शुक्ल को भारत के विख्यात मृदंगाचार्य स्व. पंडित सखाराम जी से तबला सीखने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

श्रीमती योगमाया शुक्ल ने लम्बे समय तक उस्ताद मुन्ने खाँ साहब से तालीम ली और अपनी लगन व साधन से तबला वादन के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया। तबले के साथ-साथ श्रीमती

शोध छात्रा संगीत विभाग, गुरू नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर
संगीत विभागाध्यक्ष एवं डीन, गुरू नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

योगमाया शुक्ल जी ने गायन में संगीत विशारद, बी. म्यूज तबले में, "संगीत अलंकार" एम. म्यूज और दिल्ली विश्वद्यिालय सं "तबले का उद्गम, विकास और वादन शैलियाँ" नामक शोध प्रबन्ध पर पी.एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। डॉ. योगमाया शुक्ल के घराने की परम्परागत शैली की झलक उनके तबला वादन में स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। योगमाया शुक्ल ने फरूखाबाद घराने के साथ-साथ पंजाब घराने की गतों, परणों व टुकड़ों को बजाया। आप तबला वादन करते समय पड़न्त का प्रयोग बड़ी कुशलता से करती है।

अपने परिवार और पति डॉ. शत्रुघ्न शुक्ल जी के सहयोग से दिल्ली, बम्बई, कलकता, वाराणसी, मैसूर, जयपुर, गोहाटी, नान्देड़, कानपुर, लखनऊ, मुरादाबाद, देहरादून, मेरठ, आगरा, सिलचर, इत्यादि प्रमुख नगरों में तबला सोलो का उत्कृष्ट प्रदर्शन किया और तबले को लोकप्रिय बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। "तबला वादन के क्षेत्र में उन्हें बम्बई की सुरसिंगार संसद द्वारा 'तालमणि' की उपाधि से विभूति किया गया।"

डॉ. आबान मिस्त्री

डॉ. आबान संगोत की दुनिया में कठिन लयकारिता की सिद्धहस्त कलाकार मानी जाती है। देश के गिने चुने तिहाई बजाने वालों में आबान का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। श्रीमती आबान मिस्त्री जी का जन्म 1940 में एक संगीत प्रेमी परिवार में हुआ जिससे संगीत उन्हें विरासत के रूप में प्राप्त हुआ। माता श्रीमती खरोद मिस्त्री दिलरूबा तथा पिता श्री एस शाह वायलिन बजाने में दक्ष थे। आबान जी ने सुप्रसिद्ध तबला नवाज उस्ताद अमीर हुसैन खाँ जैसे विद्वान से वर्षों तक तालीम प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने कुछ समय बाद उनसे चारों घराने की शिक्षा प्राप्त की श्रीमती आबान मिस्त्री जी ने अखिल भारतीय गांधर्व मण्डल बम्बई से सितार में संगीत विशारद तथा गायन में संगीत विशारद एवं संगीतालंकार की उपाधियाँ प्राप्त की। इसके साथ साथ आपने हिन्दी एवं संस्कृत में एम.ए. करने के पश्चात् हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा साहित्य रत्न भी प्राप्त किया। इसके पश्चात् आपने संगीत में पीएच.डी. श्री वी. आर. आठवले जी के निर्देशन में की। पीएच.डी. में आपके शोध का विषय "पखावज और तबला के घराने; उद्भव, विकास एवं विविध परम्पराएँ" था।

डॉ. आबान मिस्त्री जी ने तबता मात्र प्रदर्शित ही नहीं किया, वरन् इसकी कठिन लयकारियों को स्थायी बनाए रखने का प्रयास किया। सन् 1974 में उनका ग्रामोफोन रिकार्ड "ताल त्रिताल" प्रकाशित हुआ। डॉ. आबान जी ने इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, नीदरलैंण्ड, रोम, स्विरजरलैण्ड में अपने तबले की ताल से हजारों विदेशी संगीतप्रेमियों को चमत्कृत कर दिया था। सन् 1986 में दुबई, मस्कट, बहरीन आदि देशों में उनके कार्यक्रम सफल रहे। बम्बई की संगीत संस्था 'स्वर साधना समिति' की आप संस्थापक व संरक्षक भी रही। डॉ. आबान मिस्त्री गुरु शिष्य परम्परा की अनुयायी थी। आपके प्रतिभावान छात्रों में गुरुपुत्र श्री सपलजिजिना, श्री आदिल मिस्त्री एवं मास्टर सुरेश सिंगाड़े का नाम उल्लेखनीय है। एक महिला होने के नाते डॉ. आबान मिस्त्री का संगीत जगत् में व्यापक योगदान प्रेरणा का स्त्रोत बना रहा है। उनका यह कार्य भारत में ही नहीं, अपितु पूरी दुनिया के लिए एक मिसाल है।

अनुराधा पाल

हिन्दुस्तानी संगीत की तबला वादिकाओं की श्रेणी में अनुराधा पाल जी अत्यन्त प्रतिष्ठित कलाकार मानी जाती है। अनुराधा पाल जी भारत के प्रसिद्ध तबला वादन अल्लारखा खाँ और जाकिर हुसैन जी की शिष्य है। विश्व विख्यात ताल वादिका अनुराधा पाल जी का जन्म मुम्बई में हुआ। इनके पिता जी का नाम दवीन्द्र तथा माता का नाम इला पाल है। इनके तबला वादन को आगे बढ़ाने में, इनके माता पिता तथा इनके पति श्याम शर्मा जी का विशेष रूप से सहयोग रहा। इन्होंने तबला वादन की शिक्षा विश्व प्रख्यात उ. अल्लारखा खाँ तथा जाकिर हुसैन जी से प्राप्त की।

अनुराधा पाल ने राष्ट्रीय तथा अन्तराष्ट्रीय स्तर पर सफल मंच कार्यक्रम प्रस्तुत किए जैसे - Sangeet Natak Academy (Delhi, Kota), Sangeet Research Academy (Bombay, Allahabad, Kolkatta), हरिवल्लभ संगीत सम्मेलन (जलन्धर) तानसेन समारोह (ग्वालियर) विष्णु दिगम्बर

जयन्ती समारोह (दिल्ली), दूरदर्शन अवार्ड नाईस, आकाशवाणी संगीत सम्मेलन , U.K. WOMAD (World of Music and Dance Festival), World Premier of the commonwealth games (Manchester), Bath International Music festival and the city of London festival at the prestigious Barbican, Rhythm Sticks (Queen Elizabeth Hall) and BBC Music live festival (Scotland)

अनुराधा पाल ने न केवल पंजाब बल्कि सम्पूर्ण विश्व में तबला वादन प्रस्तुति को उदग्रहित किया है। धिर धिर किटतक, धिर धिर धिर धिर किटतक आदि बोल, धुमकिट तक, तकिट धितिर जिसमें हथेली को प्रयोग व उगलियों के द्वारा तिट धिट के बोलों को जब आप बखूबी बजाती हैं, तब उन बोलों में पंजाब घराने की वादन शैली स्वतः झलकती है और उ. जाकिर हुसैन जी का भी स्मरण हो जाता है। इनके द्वारा Recharge World Music fuion group का भी निर्माण किया गया, जिसमें Indian, A frican, Latin और Jazz संगीत पर आधारित है।

इनकी वादन की अनेको DVD's और CD's प्रकाशित हुई है जैसे

Learn Tabla well from Anuradha Pal – Instructional training set on DVDs, Ustad Shahid Parvez and Anuradha Pal, Street Shakti- Hindustani-Carnatic Fussion, All female ensemble, 'Anu' Tabla solo album by Anuradha Pal, अनुराधा पाल जी को महाराष्ट सरकार द्वारा 'सुसंस्कृत पुरस्कार से (Sept. 2006) द्वारा नवाज़ा गया ए पं. जसराज अवार्ड 'Excellence in Music - Best Musicians of the Year' 1999 में दिया गया, 1990 में बम्बई स्वामी हरिदास संगीत सम्मेलन, सुर श्रृंगार सम्साद द्वारा 'तालमणि' अवार्ड द्वारा सम्मानित किया गया।

अगस्त 2008 में विश्व प्रसिद्ध 'Woodstock festival' यूरोप में अनुराधा पाल में अपनी सोलो प्रस्तुति दी अपने फ्यूजन बैंड Recharge को प्रस्तुत किया। इनकी उपलब्धियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह बहुमुखी प्रतिभा की तबला वादिका है।

सुनयना घोष

तबला वादन के अन्तर्गत महिलाओं की श्रेणी में सुनयना घोष का नाम भी अत्यन्त सम्मान के साथ लिया जाता है। सुनयना घोष जी बचपन से ही संगीत की शरण में आ गई थी। सुनयना जी की तबले की तालीम योग्य एवं गुणी समर मित्र की देख रेख में हुई। जैसे-जैसे उनके कैरियर की प्रगति हुई, उन्होंने प्रसिद्ध फर्रुखाबाद घराने के गुण शंकर घोष जी के संरक्षण के तहत अपना स्थायीत्व प्राप्त किया।

- आपने Bachelor of Arts (Honours) रविन्द्रा भारती युनिवर्सिटी से प्रकाशन डिपार्टमेंट में प्रथम स्थान हासिल किया।
- आपने 2001 में (प्रथम श्रेणी) में Goldmedlist तथा उच्चतम अंको से रविन्द्र भारती युनिवर्सिटी से शिक्षा प्राप्त की और फिर एम.ए तबला में द्वितीय Goldmedal प्राप्त किया।

तबला वादन के क्षेत्र में सुनयना घोष द्वारा किया गया अथक परिश्रम फर्रुखाबाद घराने की प्रतिष्ठा को कायम रखे हुए है। सुनयना घोष अपनी वादन शैली में लव और स्याही के बोलों का अधिक प्रयोग करती हुई किड़धा तिट, गदीगन, गड़ान, किधान, धिर धिर बोलों को स्पष्टता से बजाती है। कायदों की बढ़त, उसका विस्तार और बोलों को बजाने की विशेषता इनके वादन में झलकती है।

1993 से लेकर आजतक अधिकतार तबला वादन के प्रतियोगिताओं में हमेशा प्रथम स्थान प्राप्त करती आई है। सुनयना घोष जी ने कई प्रतियोगिताओं में भाग लिया जैसे- West Bengal Suate Academy of Dance drama music and visual art, the dover lane music conference (talent search contest), The aurovindo instituted of culture and the all bengal tabla lahara competition, Ram Krishan Mission Institute of Culture द्वारा आपकी प्रतिभा को देखते हुए विभिन्न राष्ट्रीय तथा राज्यस्तरीय छात्रवृति प्राप्त हुई। आपने विभिन्न प्रकार की कठिन तिहाईयो को सितार, सरोद, संतूर तथा गायकी में संगति के दौरान प्रदर्शित किया। इन्होंने तबला के सोलो और संगति वादन मे विशेष

सफलता प्राप्त की, जो किसी भी महिला कलाकार के लिए पुरूष प्रधान समाज में एक महत्त्वपूर्ण बात होती है। सुनयना घोष ने सांगीतिक जगत में अपने अथक परिश्रम व दृढ़ निश्चय से अतुलनीय योगदान देते हुए स्वयं को प्रतिष्ठित किया है।

रिम्पा शिवा

रिम्पा शिवा एक विश्वविख्यात तबला वादिका है, जिन्हें संगीत जगत में Princess of Tabla' के नाम से भी जाना जाता है। इनका जन्म 14 जनवरी 1986 ई॰ को एक सांगीतिक परिवार में हुआ। 3 साल की आयु में ही इन्होंने तबला वादन में अपनी रूचि दिखाना शुरू कर दी। बचपन से ही इन्होंने तबला वादन की शिक्षा अपने पिता एवं गुरु प्रो॰ स्वप्न शिवा जो स्वर्गीय उ॰ करमतुल्ला खा फर्रूखाबाद घराने के शिष्य थे से शुरू कर दी। रिम्पा शिवा के जीवन में सांगीतिक सफर अपने परिवार से ही प्रारम्भ हुआ था। जब इनके पिता जी अपने शिष्य को तबला वादन की शिक्षा प्रदान करते थे तब रिम्पा जी उनके द्वारा प्रदान की गई शिक्षा को एकाग्रतापूर्ण ग्रहण करती थी।

रिम्पा शिवा जी ने रविन्द्र भारती युनिवर्सिटी, कलकत्ता से एम.ए. संगीत में पास किया। इनकी कला का सफर बहुत ही रोचकपूर्ण रहा क्योंकि इन्होंने केवल 14 वर्ष की आयु में ही बड़े-बड़े उस्तादों के साथ जैसे पं॰ हरिप्रसाद चौरसिया और पं॰ अजॉय चक्रवती के साथ विभिन्न संगीत सम्मेलनों में अपनी कला संगति का प्रदर्शन किया। रिम्पा जी ने अपने कला का प्रर्दान केवल भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी किया। आपने अमेरिका, यूरोप, जापान, इंग्लैण्ड, नोरवे आदि देशों में भी तबला वादन की प्रस्तुति दी। इनकी वादन की अनेकों सी. डी. और डी.वी.डी. प्रकाशित हुई है जैसे-Play list of Rimpa Shiva, Tabla girl Rimpa Shiva accompanies flute legend- Pt. Hari Prasad Chaurasia (USA).World child festival Netherland में आपको 1997 में निमन्त्रण दिया गया। 1998 में इनके जीवन पर एक Documentary film बनाई गई, जिसका नाम आपके नाम पर रखा गया- Rimpa Shiva: Princess of Tabla. रिम्पा शिवा की विलक्षण प्रतिभा को देखते हुए इस डाक्यूमैंटरी फिल्म का निर्माण किया गया। रिम्पा शिवा ने तबले की तालीम बहुत अच्छे ढंग से प्राप्त की है। अच्छी शार्गिद होने के साथ-साथ वह परिश्रमी भी रही हैं। जिसके फलस्वरूप वह तबला वादन के नामी कलाकारों में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं।

संदर्भ सूची

1. मिस्त्री, आबान, पखावज और तबला के घराने एवं परम्पराए, स्वर साधना समिति जन सनेक्स जम्बुलवाड़ी, मुम्बई (द्वितीय संस्करण), 1984
2. मिश्र छोटे लाल, ताल प्रसून, बी 26/64 दुर्गाकुण्ड वाराणसी, 1995
3. मिश्र, लालमणि, भारतीय संगीत वाद्य, प्रकाशन नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, 1973
4. राम सुदर्शन, तबले के घराने वादन शैलिया एवं बंदिशें, कनिष्क पब्लिशर्स, प्रथम संस्करण, 2008
5. शर्मा भगवत शरण, ताल प्रकाश, संगीत कार्यालय हाथरस, 2002
6. शास्त्री, के वासुदेव, संगीत शास्त्र, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उ.प्र. 1968
8. श्रीवास्तव, मुरली मनोहर, अवनद्ध वाद्य तबला, विभोर प्रकाशन, अमृतसर 2010
9. शुक्ल डा. योगमाया, तबले का उदगम, विकास और वादन शैलीयाँ, नई दिल्ली 1987
10. Deshpande, V.H., Indian Music Tradition Gharanas and Its Characteristics Popular Book Depot, Bombay, 1973.
11. Deva, B.C., Musical Instruments of India, Firma KFM Pvt. Ltd., 1977.
12. Goswami, O.C., The story of Indian Music, Asia Publishing House, Bombay, Calcutta, New Delhi, Madras 1957.
13. Gotllieb, S. Robert., Solo Tabla Drumming of North India, Vol. 1, Motial Banarsidass, Publishers Private Limited, Delhi, 1993.
14. Sen, A.K., Indian Concept of Rhythm, Kanishka Publishers Distributor, First Publication, 1994, Second edition, 2008.

सितार की उत्पत्ति, विकास एवं गतशैली

नवीन कुमार मिश्रा

सितार के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष रूप से ऐसा उल्लेख किया गया है कि यह वीणा का परिष्कृत रूप है। अतः स्पष्ट है कि सितार की उत्पत्ति के विषय में जानने के लिए वीणा की उत्पत्ति का अध्ययन अनिवार्य है। वीणा के उत्पत्तिविषयक कई दैवी सन्दर्भ हमारे सम्मुख आते हैं:-

देवी सरस्वती संगीत की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती है। निश्चित रूप से उनका वीणा-वादिनी' तथा 'वीणा-पुस्तक - धारिणी स्वरूप इस वाद्य की प्राचीनता का द्योतक है। इस वाद्य के सम्बन्ध में ऐसी मान्यता है कि समुद्र मंथन के फलस्वरूप जो रत्न निकले, उनमें वीणा भी थी 'वीणानाम् समुद्रौत्थरत्नम्।

वीणा का अस्तित्व प्रागैतिहासिक काल के पुरातत्व अवशेषों में भी प्राप्त होता है। मेके के अनुसार सुमेरी सभ्यता में वीणा जैसे वाद्यों के अवशेष प्राप्त हुए है। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा आदि से प्राप्त अवशेषों में आदिम वीणा की अनुकृतियों से इस वाद्य की प्राचीनता का परिचय मिलता है। वैदिक-युग से वीणा के स्वरूप से सम्बन्धित उल्लेख प्राप्त होते हैं। ऋगवेद में 'बाण' नामक तन्त्रीवाद्य की गम्भीर ध्वनि का उल्लेख है। सायण के अनुसार बाण शततन्त्री युक्त वीणा है। भरत-काल में वीणा-वाद्य में विभिन्न रूप से विकास हुआ। वीणा के विभिन्न प्रकारों का निर्माण, उनके स्वरूप, वादन-विधि बताने वाले धातुओं वीणा द्वारा संगति की त्रिविध प्रणाली, कुतुप-विन्यास, आदि की विस्तृत विवेचना नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है।

भरत के समय तक वीणा के जितने भी प्रकार प्रचार प्रसार में आए, वे सभी सारिकारहित वीणाएं थीं। प्रथम सारिकायुक्त किन्नरी वीणा का उल्लेख मंतग ने किया। 'वीणा' का स्वतन्त्र रूप से विकास होता गया तथा इसके कई नए रूप प्रचार में आए। कालप्रवाह में कुछ प्रकार विलुप्त हो गए तथा कुछ नवीन नामों से विकसित हुए। जैसे सारिकायुक्त सभी वाद्य किन्नरी वीणा के परिवर्तित रूप, सितार को कच्छपी तथा त्रितंन्त्रीय वीणा, सारंगी को सारंग वीणा तथा तानपूरे को तुम्बरू वीणा का परिष्कृत रूप माना जाता है। ''सितार' वाद्य के विकसित होने का क्रम भी लगभग इसी समय से माना जा सकता है।

फारसी तथा उर्दू में प्रणीत अनेक शास्त्र-ग्रन्थों में सितार के आविष्कारक अमीर खुसरो बताए गए हैं। मुहम्मद शाह रंगीले के दरबार में नवाब कुली खाँ ने अठाहरवीं शदी में लिखी पुस्तक 'मीराते दिल्ली' में तीन तार वाले 'सहतार' बाजे का प्रथम बार उल्लेख किया है।

मुगल सम्राट शाह आलम ने 'नादिरातिशाही' में भारतीय वाद्यों की सूची में सितार की चर्चा की है।

न्यामत उल्ला खाँ व उनके पुत्र करामत उल्ला खां ने 'इसरारे करामात उर्फ नगमाते न्यामत' में सितार के आविष्कारक अमीर खुसरों बताए गए हैं। दक्षिण भारत के विद्वान कृष्णा स्वामी तथा पोपले ने 'दि म्युजिक आफ इण्डिया' में सितार का आविष्कारक अमीर खुसरों को ही बताया है।

इस विषय में पं. देवव्रत चौधरी जी ने अपनी पुस्तक में लिखा है-

प्रवक्ता, ताल -वाद्य विभाग, भातखण्डे संगीत संस्थान, समविश्वविद्यालय, लखनऊ

It was neither Amir Khusro nor any particular musician who invented this instrument, but it is a gradual process of development from the "Tritantri Veena" to 'Jantar' and from the Jantar it has taken its shape to 'Sitar' of the day."

सितार के तारों के विषय में अब्दुल हलीम जाफर खाँ का कहना है कि ''सितार के जीवन में तीन काल आए हैं। पहला काल अमीर खुसरों के जमाने का, जबकि इसमें तीन ही तार हुआ करता था। दूसरा काल उसे माना जाना चाहिए। जब तानसेन के घराने के अमृतसेन ने इसमें तीन तार और जोड़ें 1 तीसरा काल बन्दे अली खाँ साहब के जमाने से शुरू हुआ एक और तार के जोड़ के साथ और तब से अब तक सात तार ही सितार के लिए उपयुक्त माने जाते हैं।''

सितार अपने रूप में 'सेह-तार' कहलाता था। फारसी में सेह का अर्थ तीन है, इसमें तीन तार थे अतः उसका नाम 'सेहतार' रखा गया था। इन तीन तारों में पहला तार लोहे का था और उसे 'सा' में मिलाया जाता था। दूसरा तार पंचम में और तीसरा तार, तार सप्तक के 'सा' में मिलाया जाता है। इसमें 8 पर्दे होते थे।

महान संगीतज्ञ तानसेन के वंशज दो भाईयों अमृत सेन और निहाल सेन ने सितार के विकास में काफी योगदान किया। उन्होंने सितार के तीन तारों में 2 तार और जोड़ दिये, अतः इसके तारों की संख्याः 5 हो गई। ये तार इस क्रम में मिलाये जाते थे- म, सा, प, सा, सां, लकड़ी के आधार के स्थान पर कद्दू का तुम्बा लगाया जा चुका था। इन दो भाईयों ने सितार में एक और तुम्बा लगा दिया। जो प्रथम तुम्बे के बिल्कुल पास ऊपर लगाया। दूसरा तुम्बा आकार में बहुत छोटा था और इसका उद्देय वाद्य की ध्वनि और गूँज बढ़ाना तथा उसके ध्वनि माधुर्य में सुधार करना था।

आगे चलकर फिरोज़ खाँ (अदारंग) के पुत्र मसीद खाँ ने तारों की संख्या बढ़ाकर 7 कर दी। जो इस प्रकार मिलाये जाते थे- म, सा, सा, प, प (खरज) सा, सां। परदों की संख्या वीणा के आधार पर बढ़ाकर 23 कर दी। मसीत खाँ, रज़ा खाँ और साहबदाद खाँ के युग में अचल ठाठ (13 पर्दों) के प्रयोग से सितार में मीड़ का क्षेत्र कम हो गया था। इमदाद खाँ ने परदों की संख्या घटाकर 19 की। उन्होंने सितार पर 4 स्वरों की मीड़ और सुर-बहार पर 7 स्वरों की मीड़ का प्रदर्शन किया।

इमदाद खाँ ने सितार में तरब के तारों की भी वृद्धि की इसमें स्वरों की ध्वनि अधिक समय तक कायम रखने व गुँज बढ़ने में सहायता मिली। तरब के तारों की संख्याः 11 थी और उन्हें किसी विशिष्ट राग में प्रयुक्त स्वरों के अनुसार मिलाया जाता था।

इमदाद खां के पुत्र इनायत खाँ ने मुख्य तुम्बे को गोल बनाकर साज के ऊपरी छोर पर दूसरा तुम्बा लगाया। उन्होंने जवारी में जिस पर तार टिके रहते हैं और जिसके कारण वाद्य का ध्वनि-सौन्दर्य बना रहता है, सुधार कर उसे अन्तिम रूप प्रदान किया। उन्होंने तरब के प्रयोग के प्रणाली को भी विकसित किया।

डॉ. प्रकाश महाडिक ने अपने लेख में लिखा है कि 'जहां तक पं. रविशंकर द्वारा ठेठ खरज (अति मन्द्र सप्तक) के 'सा' लगाने की बात है, उससे सहमत नहीं हुआ जा सकता, क्योंकि 'कानून-ए-सितार' सन 1870 में सैयद सफदर हुसैन देहलवी ने, 'यंत्र क्षेत्र दीपिका' सन् 1880 में श्री एस.एम. टैगोर ने तथा 'सतारी चे पहिले पुस्तक' सन 1893 में श्री पुरूषोत्तम गणेश उर्फ अण्णा धारपुरे ने ठेठ खरज अर्थात अति मन्द्र सप्तक के तार का उल्लेख किया है। अन्य कई पुस्तकों में भी इस प्रकार का उल्लेख मिलता है। श्री अण्णा धारपुरे में सतारीचे पहिले पुस्तक में क्रमांक-1 (बाज) के तार को मन्द्र मध्यम, क्रमांक-2 (जोड़ा) तार के मन्द्र षड़ज क्रमांक तीन (पंचम) तार को अति मन्द्र सप्तक के पंचम स्वर में, क्रमांक-4 (खरज) तार को अति मन्द्र सप्तक के षड़ज स्वर में मिलाने का स्पष्ट उल्लेख किया है। परन्तु इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि अति मन्द्र सप्तक के षड़ज के तार लगाने की पद्धति के प्रमुख प्रचारक एवं प्रसारक प्रसिद्ध सितार वादक पंडित रविशंकर ही हैं।

सेनिया घराने के महान कलाकार उस्ताद मुश्ताक अली खाँ साहब अपने सितार में 17 परदों का ही प्रयोग करते थे। उन्हीं की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए उनके शिष्य पं. देवव्रत चौधरी जी ने 17 पर्दों का ही सितार बजाया। उन्होंने सितार के सात तारों में तीन चिकारी के तार रखे हैं।

सितार-वादन में निबद्ध वादन के अन्तर्गत गायन की बंदिशों तथा अन्य वाद्यों से उद्भूत तकनीकों के वादन के अतिरिक्त नवीन 'गत' शैली का निर्माण हुआ। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि ऐसा नहीं था कि अठ्ठाहरवीं शताब्दी में उद्भूत गत-शैली के पूर्व वादन में निबद्ध रचनाएं नहीं बजाई जाती थी, वास्तव में वीणा पर बजाई जाने वाली रचनाएं विशिष्ट बोलों में बंधी नहीं होती थी, अपितु गायन की बंदिशों को ही वीणा पर बजाया जाता था। यही कारण है कि अर्वाचीन गतों में प्राचीन प्रबन्ध तथा मध्यकालीन ध्रुवपद के लक्षण विद्यमान थे। 'गत' से अभिप्राय 'गति' अथवा चलन' से लिया जाता है। वह रचना, जोकि मिज़राब के विशिष्ट बोलों में बंधी होती थी तथा जिसमें स्वर तथा ताल का प्रयोग किया जाता था गत कहलाती थी। गत वादन में एक विशेष गति अथवा चाल होती है, जिसका स्वर, ताल तथा बोल के साथ-साथ वादन की चाल के रूप में विशेष महत्व होता है।

वर्तमान समय में सितार पर बजने वाली दो शैलियां प्रचलित हैं-

1. मसीतखानीगत शैली
2. रजाखानी गत शैली

मसीतखानीगतः- मसीत खाँ ने सितार को एक नया मोड़ दिया। उन्होंने गैर ध्रुवपद तरीके पर अपने ध्रुवपद तरीके का प्रभाव डाला तथा तन्त्र वाद्यों के लिए एक नवीन गत शैली का निर्माण किया। जिसके फलस्वरूप 18वीं शताब्दी के अंत तथा 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सांगीतिक समाज में उन्होंने विशेष ख्याति अर्जित की। उस्ताद मसीद खाँ ने वादन के नियमों में सर्वप्रथम बांट का नियम प्रस्तुत कर बोलों को "दिर दा दिर दारा दादारा" में बांटकर एक नवीन रूप प्रदान किया। ये बोल 8 मात्रा के हैं। इसी बोलों को 2 बार बजाकर 16 मात्राएं की जाती हैं। यह तीन ताल पर आधारित होती हैं। इन गतों का प्रारम्भ 12वीं मात्रा से होती है। उस्ताद मसीत खाँ के इस परिवर्तन के कारण ही इस शैली का नाम 'मसीतखानी गत' पड़ा। इसे दिल्ली बाज भी कहते हैं।

रज़ाखानीगतः- गुलाम रजा खाँ ने काफी गहराई से यह महसूस कर लिया था कि लखनऊ के श्रोता गम्भीर और धीमी गति की ध्रुपद शैली तथा बीन की पद्धतियों पर आधारित विलम्बित मसीतखानीगतों से पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं हो पाते हैं। गुलाम रज़ा खाँ नवाब वाज़िद अली शाह के दरबार में एक विद्वान सितारवादक थे। उन्होंने देखा कि ध्रुवपद अथवा ख्याल के स्थान पर उन्हीं के काल में प्रवर्तित ठुमरी गायन का चलन नवाब साहब तथा जनता की अभिरूचि के अनुरूप निरन्तरता से बढ़ता जा रहा है। नवाब साहब की मनः स्थिति का अनुमान लगाते हुए उन्होंने सितार में प्रचलित धीमी गति से बज रही मसीतखानीगत के विपरीत बोल बांट ठुमरी की शैली के अनुरूप मध्य लय में बजने वाली सितार की बंदिशों रचना कर डाली। इस शैली से बजायी जाने वाली सितार की गतों को 'रज़ाखानी गत' कहा गया। इसे लखनवी या पूर्वी बाज भी कहा जाता है। संगीत पत्रिका अगस्त 1968 में प्रसिद्ध सितार वादक पंडित अरविन्द पारिख ने लिखा है कि रज़ाखानीगत तीन ताल द्रुत लय में थी। प्रयुक्त बोल इस प्रकार थे। "दिर-दिर-दा दा रा - दिर दा दिर - दा रा - दा - दा रा - दा रा" सामान्यतः रज़ाखानीगते मसीतखानीगतों के बाद बजायी जाती है और ये दोनों ही सम्पूर्ण वादन का अंग है। इन गतों की व्यापकता त्वरितता के साथ निरन्तरता तथा आकर्षक गति के कारण सितार अत्यन्त लोकप्रिय एकांकी वाद्य बन गया है।

उपरोक्त वर्णित गत-प्रकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य गतें भी प्रचार में आई, जो निम्न प्रकार से है-

फिरोज़खानी गतः- सेनिया घराने के उस्ताद फिरोज़ खाँ ने ध्रुवपद अंग की गायकी के प्रभाव से फिरोज़खानी गत की रचना की। ये गतें चार ताल में निबद्ध थी तथा तीनों सप्तकों में इन गतों का विस्तार होने के कारण ये चार अथवा छः आवर्तन

की भी होती थी। प्रथम पंक्ति मध्य सप्तक के जिस स्वर पर समाप्त होती थी, दूसरी पंक्ति मन्द्र सप्तक के उसी स्वर से प्रारम्भ होती थी। यही नियमगत की अन्य पंक्तियों में भी निभाया जाता था।

अमीरखानी गत:- इन गतों की रचना निहालसेन के पुत्र अमीर खा ने की। इन गतों की वंदिश तीन ताल में ही की जाती थी, परन्तु इनकी लय मध्य लय थी। इन गतों में मसीतखानीगत के आठ मात्रिक निश्चित बोलों को ही मध्यलय में बजाया जाता था।

सितारखानी गत:- ठुमरी गायन की लोकप्रियता ने सितार-वादकों को सितारखानी गतों के निर्माण हेतु प्रेरित किया। मसीतखानी गत के समान इस गत के बोल भी निश्चित होते थे तथा उठान सातवीं मात्रा से होती थी। सितारखानी गतें प्रायः पीलू, काफी, भैरवी, तिलककामोद आदि रागों में बजाई जाती थी। इसकी गति झूलती हुई सी होने के कारण इसमें 'अद्धात्रिताल' अथवा 'पंजाबी ठेका' बजाया जाता था। इस गत के विस्तार में ठुमरी के अनुरूप बोल-बनाव तथा छोटी-छोटी तानो का प्रयोग भी किया जाता था।

संदर्भ-

1. लखनऊ की संगीत परम्परा, डॉ. सुशील मिश्रा, प्रकाशक-विश्वनाथ वि. श्रीखण्डे, सचिव, उ.प्र. संगीत नाटक अकादमी लखनऊ।
2. लखनऊ के संगीतकार, रामकिशोर बाजपेई, हिन्दी वाणी मम निधि लखनऊ 2008
3. संगीत 'पत्रिका', अगस्त 1968, प्रकाशक संगीत कार्यालय हाथरस।
4. प्रतिष्ठित सितार एवं सरोद वादकों की साधना और संघर्ष शान्तनु शर्मा कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्युटर्स नई दिल्ली। प्रथम संस्करण - 2005
5. उत्तर भारतीय संगीत में तन्त्र वाद्यों का स्थान एवं उपयोगिता डॉ. संगीता सिंह, कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्युटर्स, नई दिल्ली, प्रथम - 2009
6. सितार वादन एवं संगति वाद्य, डॉ. अमिता शर्मा-प्रथम संस्करण 2007, प्रकाशक अभिषेक पब्लिकेशन, एस. सी.ओ. 57-59, सेक्टर-17सी. चंडीगढ़।

शास्त्रीय संगीत की अधोगति एवं उसके प्रमुख कारण

डॉ कुमारी कंचन

भारतीय संगीत जो अति प्राचीनकाल से प्रकृति की गोद में बसे कुंज, वन-वाटिकाओं में जन्मा, देव-मन्दिरों में पोषित हुआ एंव ऋषि-मुनियों के आश्रम में विकसित होकर अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ। वहा मध्यकाल में राजा, महाराजाओं, नवाबों और सामन्तों के दरबारों की शोभा मात्र बनकर रह गया। जहा एक ओर राजकीय आश्रम के अन्तर्गत इसके वैभव में चार चाद लगें, वहीं दूसरी ओर दरबारी परम्पराओं की कठोर श्रृंखलाओं में जकड़ कर अपने निश्छल मौलिक रूप को खो बैठा। जहा पहले संगीत मोक्ष का साधन माना जाता था, वहीं अब वह विलास एवं मनोरंजन की वस्तु बन गया। जहा पहले यह स्वान्तः सुखाय गाया जाता था, वहा अब यह राजाओं, महाराजाओं, नवाबों और उनके दरबारियों को रिझाने एवं खुश करने के लिए गाया जाने लगा। स्वाभाविक था कि संगीत के उस प्राचीन स्वरूप में परिवर्त्तन होता और वह हुआ। संगीतकारों को अपने आश्रयकर्त्ताओं, राजाओं को प्रसन्न करने के लिए उनकी इच्छानुसार किये गये परिवर्त्तनों को स्वीकार करना पड़ा। इन्हीं परिवर्त्तित रूपों का व्यवहार बढ़ता गया और संगीत अपने मौलिक स्वरूप से शनैः-शनैः दूर हटता गया और आज इस सीमा तक दूर हट चुका है कि इसका अपने प्राचीन मौलिक स्वरूप से कोई साम्य नहीं रह गया है।

आधुनिक पीढ़ी जिस प्रकार से पाश्चात्य डिस्को एवं पॉप संगीत के लिए दीवानी है, उसे देखकर स्वतः ही मन पूछने लगता है कि क्या शास्त्रीय संगीत का स्थान इन सबके पीछे है? प्रचार एवं प्रसार ही अगर श्रेष्ठता का मानदंड हो तो सुगम संगीत की तुलना में शास्त्रीय संगीत की श्रेष्ठता पर सदा ही एक प्रश्न-चिह्न लगा रहेगा, क्योंकि निस्संदेह सुगम संगीत अधिक जनप्रिय है। इसका कारण यह है कि एक तो यह सहज ही गाया जा सकता है, दूसरा यह जन-जन के कंठ से मुखरित होता है। शास्त्रीय संगीत का गायन श्रमसाध्य है सुगम संगीत का गायन सहज साध्य है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत शास्त्रीय संगीत के सबल पुनरूत्थान के लिए बहुत कुछ जागरूक दिखता है, किन्तु अभी स्थिति यह है कि शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा सरल संगीत को अधिक आश्रय मिल रहा है। सुगम संगीत की दिशा में बड़ी तीव्र गति से उन्नति हुई है। जिन कलाकारों की आवाज मधुर है और उसे बस थोड़ा सा शास्त्रीय संगीत का ज्ञान है, वह सुगम संगीत की ओर उमड़ पड़ता है। सुगम संगीत के लिए थोड़ी मेहनत करनी पड़ती है, फलस्वरूप नाम और दाम जल्दी मिलने लगते है। आज देश भर में सुगम-सिने-संगीत का जो प्रचार हो रहा है, उसके बीच शास्त्रीय संगीत के प्रति लगाव रह जाना कठिन ही है। इसके लिए आज के युग की परिस्थितिया तथा संगीत की मूलभूत समस्याए उत्तरदायी ठहराई जा सकती है। हालाकि इस वैज्ञानिक युग में विभिन्न माध्यमों से संगीत के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई है। 19वीं शताब्दी के कई उत्कृष्ट संगीतकारों ने संगीत की उन्नति के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी, फिर भी शास्त्रीय संगीत की वांछित उन्नति न हो सकी।

प्राचीन भारत में शास्त्रीय संगीत को राज्याश्रय प्राप्त था। वर्त्तमान काल में भी शास्त्रीय संगीत को हमारे माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा-पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त है। शासन भी इसकी उन्नति के लिए

पूर्व शोध छात्रा, विश्वविद्यालय संगीत विभाग, तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

कम से कम मौखिक रूप से ही सही, वचनबद्ध एवं प्रयत्नशील है। परन्तु सम्पूर्ण सदिच्छा होते हुए भी शास्त्रीय संगीत में दिग्गजों का आविर्भाव होना प्रायः रूक सा गया है। आज से चार दशक पूर्व में जैसी अलौकिक प्रतिभाशाली गायकों की चारों ओर धूम थी, आज वैसी प्रतिभाओं का दर्शन हमें भूले-भटके ही होता है। हम शास्त्रीय संगीत को भूलते जा रहे है। हमारे चारों ओर संगीत के नाम पर कोलाहल है और हमारी अन्तरात्मा उतनी ही स्तब्ध है, जैसे कि दादुर के बोलने से कोयल मौन हो जाती है। हम शास्त्रीय संगीत की बड़ी-बड़ी उपलब्धिया तो प्राप्त कर लेते है, परन्तु उत्तर जीवन में हममें से अधिकांश अच्छे श्रोता तक बने नहीं रह पाते, अच्छे गायक बनना तो दूर की बात रही।क्या कारण है कि हम आज उसे ही भूलते जा रहे है,जो हमारी भारतीय संस्कृति की प्राण-स्वरूप है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत की जनप्रियता का ह्रास का सर्वप्रथम कारण हमें चारों ओर होनेवाले सामाजिक परिवर्त्तन में दिखाई देता है। अति तीव्र गति से दौड़नेवाला भौतिकवादी समाज आज भयंकर तनाव से ग्रस्त है। किसी गंभीर वस्तु को समझने के लिए उसके पास न तो समय है, न धैर्य और न ही उतनी सहिष्णुता। आज का आम आदमी न तो महाकाव्यों की गहराई में उतर सकता है और न ही स्वरों की साधना कर अपने जीवन को अमृतमय बना सकता है। आज का विद्यार्थी जीविकोपार्जन की भागदौड़ के कारण दिन में 10 घंटे अभ्यास करने में असमर्थ है। सूर्य की सप्तरश्मियों के समान ही सप्तसुरों की साधना हमारे लिए जीवनदायिनी है। भारतीय संस्कृति की इस महान शिक्षा को भूलकर हम मृत्यु की ही उपासना कर रहे है।

आज अधिकांश व्यक्ति संगीत को व्यवसायिक रूप से ग्रहण करते हुए अपना जीवन-निर्वाह मात्र कर रहे है। पहले शिष्यों की योग्यता सिद्ध हो जाने पर ही गुरू उन्हें विद्यादान देते थे, परन्तु आज विद्यालयों की शिक्षा-प्रणाली में जहा 20-25 विद्यार्थी को एक साथ शिक्षा दी जाती है वहा योग्य कलाकारों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। एक बात और भी है कि आधुनिक संगीतकार भी गहन साधना से डरता है। वह शीघ्र ही यश अर्जित करना चाहता है, फलतः संगीत के प्रति अपना उत्तरदायित्व भूलकर सर्वसाधारण के हित में अपनी कला की आहुति दे देता है।

शास्त्रीय संगीत की अधोगति में हमारी सरकार भी कम दोषी नहीं है। सरकार द्वारा खोले गए अनेक विद्यालय एवं महाविद्यालय हैं जिसमें महिला महाविद्यालयों में ही संगीत सिखाने की सुविधा उपलब्ध होने के कारण केवल महिलाओं को ही संगीत सीखने का अवसर मिलता है। विश्वविद्यालयों ने भी संगीत विषय में व्यक्तिगत परीक्षार्थी के रूप में परीक्षा लेना बन्द कर दिया है, अतः एक वर्ग इससे वंचित रह जाता है। परिणाम स्वरूप सामान्य नागरिक अपने बच्चों को संगीतज्ञ के स्थान पर डॉक्टर, इंजीनियर आदि बनाना ही पसन्द करता है। फिर भी सरकार हमारे सांस्कृतिक धरोहर को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील है।

यद्यपि शिक्षा के क्षेत्र में, शास्त्रीय संगीत के शिक्षण एवं रोजगार दोनों ही मार्ग खुले है, फिर भी वर्त्तमान में शास्त्रीय संगीत के शैक्षिक स्तर में बदलाव लाने की अत्यन्त आवश्यकता है। शास्त्रीय संगीत के प्रति जनसाधारण की उदासीनता के निवारण हेतु ठोस कदम उठाया जाना आज समय की माग है। वस्तुतः शास्त्रीय संगीत को अधोगति से बचाने एवं भविष्यत् कलाकारों के सांगीतिक माहौल का निर्माण करने की आवश्यकता है। अतः हम सभी संगीत प्रेमियों, शिक्षकों एवं सरकार को सार्थक प्रयास करना चाहिए जिससे कि हमारी प्राचीन सांगीतिक संस्कृति की अमूल्य धरोहर का सर्वांगीण विकास हो सके।

संदर्भ

(1) संगीत पत्रिका, सितम्बर 1999- पृ.-23
(2) संगीत पत्रिका, सितम्बर 1985- पृ.-30
(3) संगीत पत्रिका, अप्रैल 1996- पृ.-6
(4) भारतीय संगीत का इतिहास - जोगिन्द्र सिंह बावरा - पृ. - 110
(5) निबंध संगीत - डॉ लक्ष्मीनारायण गर्ग

संगीत की उच्च शिक्षा : बदलते सन्दर्भ और आयाम

डॉ. नूतन कुमारी

संगीत-शिक्षा भारतवर्ष में प्राचीनकाल से चली आ रही है। भारतीय संस्कृति में संगीत और संगीत की शिक्षा, दोनों को विशेष और सर्वोपरि स्थान प्राप्त हुआ है। इसके लिए शिक्षण के इतिहास पर दृष्टि डालने पर शिक्षण-प्रणाली का बदलता ऐतिहासिक स्वरूप स्पष्ट होता है। प्राचीनकाल में तक्षशिला एवं नालन्दा विश्वविद्यालय में सामान्य संगीत शिक्षण से लेकर उच्चतर संगीत-शिक्षण की उत्तम व्यवस्था थी। इन प्रशिक्षण केन्द्रों में संगीत की प्रयोगात्मक शिक्षा के साथ-साथ शास्त्र के अध्ययन को भी आवश्यक माना जाता था। इन संस्थाओं में गुरू-मुखी विद्या विद्यार्थी को व्यक्तिगत रूप से शिक्षा प्रदान की जाती थी। इसके अर्न्तगत शिष्य गुरूजनों के पास आश्रम में जाकर संगीत की शिक्षा प्राप्त करते थे। उस समय मौखिक परम्परा के द्वारा ही कठोर अनुशासन में अध्ययन अध्यापन किया जाता था।

मध्ययुग से संगीत-शिक्षा में घराने की नींव पड़ी, जिसके अर्न्तगत विभिन्न घरानों के कलाकार अपने संगीत, अपने ज्ञान को सिर्फ अपने परिवार के सदस्यों तक ही सीमित रखने लगे थे। उस समय अपने गुरू से सीखी हुई गायकी से ही प्रशिक्षण कार्य करते थे। प्रत्येक घराने के उस्ताद की अपनी गायन - शैली और राग की चीजें हुआ करती थी, जिन्हें वे शिष्यों को सिखाया करते थे। घराने की शिक्षा व्यक्तिगत व गुरू की इच्छानुसार हुआ करती थी।यह परम्परा आज भी हमारे संगीत में विद्यमान है।

मुगलशासनकाल की समाप्ति के बाद अंग्रेजी शासन काल में राज्याश्रय प्राप्त न होने के कारण संगीत-कला का पतन हुआ। तत्कालीन बदलती सामाजिक व राजनीतिक माग के अनुसार बीसवीं शताब्दी में संगीत-शिक्षा पद्धति में युगान्तकारी परिवर्त्तन आया। संगीत को पुनः प्रतिष्ठित करना तथा जनसामान्य तक पहुचाने हेतु पं. विष्णुनारायण भातखण्डे और पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर के विद्यालय और महाविद्यालय खोले। इसी समय से पाठ्यक्रम प्रक्रिया और उपाधि देने की प्रक्रिया संगीत-जगत में शुरू हुई। ये विद्यालय और महाविद्यालय अपने कड़े नियमों एवं उचित संचालन के कारण गुणवत्ता में श्रेष्ठ थे। परन्तु परिस्थितिया तब बदली, जब स्नातकोत्तर काल में महाविद्यालयों व विश्वविद्यालयों में संगीत को अलग विषय की तरह रखा गया। चूकि संगीत एक प्रर्दशन कला है, दुर्भाग्य यह है कि संगीत जैसे मार्मिक, भावप्रधान विषय के अध्ययन और अध्यापन को यदि अन्य विषयों समकक्ष ही आका जाए तो संस्था का अहित हो या न हो संगीत का अहित हो जाता है। यह विषय ऐसा भी नहीं है कि केवल पुस्तकें पढ़कर ही परीक्षा दी जा सके। इसके लिए तो कुशल शिक्षण एवं कठिन साधना की आवश्यकता होती है।

वर्त्तमान समय में उच्च शिक्षा-जगत के सभी विषयों का स्तर गिरा है परन्तु संगीत-शिक्षण के क्षेत्र में, प्रदर्शन-कला होने के कारण कुछ अधिक दिखाई देता है। स्नातक-स्तर पर संगीत विषय लेकर आने वाले अधिकांश छात्र-छात्राओं को संगीत विषय का जरा सा भी ज्ञान न होना, संगीत विषय लेने वाले छात्रों का चयन न होना, स्वर-परीक्षण न होना, अनियमित अभ्यास, पाठ्यक्रम का थोड़ा सा-भाग तैयार करके ही परीक्षा दे देना आदि कारणों से

पूर्व शोध छात्रा, विश्वविद्यालय संगीत विभाग, तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

संगीत की उच्च शिक्षा की गुणवत्ता में कमी आई है। जबकि महाविद्यालयों में प्रवेश लेने से पूर्व ही छात्र को स्वर, ताल व कई रागों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इसमें संगीत शिक्षक का भी दोष नहीं है, क्योंकि महाविद्यालय में एक शिक्षक द्वारा एक ही समय में और वह भी निश्चित अवधि 40-45 मिनट में बारह से पन्द्रह छात्र-छात्राओं को समूह में सालभर के अन्दर पाठ्यक्रम पूरा करना होता है इन संस्थाओं में समय-सीमा का बन्धन नहीं होना चाहिए क्योंकि एक राग का स्वरूप समझने में काफी समय लगता है। यही कारण है कि डिग्री लेने वाले अधिकांश छात्र-छात्रा योग्य कलाकार नहीं बन पाते है।

वस्तुतः आज संगीत का स्तर गिर रहा है। आज का विद्यार्थी जीविकोपार्जन की भाग-दौड़ के कारण दिन में 10 घंटे अभ्यास करने में असमर्थ है। आज परिस्थितिवश संगीत शिक्षा प्रणाली में जो परिवर्त्तन हुआ उससे प्राचीन गुरू-शिष्य प्रणाली लुप्त होती जा रही है। प्राचीनकाल में जिस कला के माध्यम से ईश्वर की उपासना, अराधना की जाती थी मध्यकाल तक वही कला राजाओं, नवाबों के मनोरंजन का साधन बन गई और अब संगीत कार्यक्रमों में जाने वाली 70 प्रतिशत जनता मनोरंजन की दृष्टि से ही इन कार्यक्रमों में जाते है।

यद्यपि आज का विद्यार्थी अधिक कुशाग्र एवं शिक्षित है तथा प्रत्येक बात को वैज्ञानिक कसौटी पर कसकर ही ग्रहण करते है, किन्तु संगीत क्षेत्र में कलाकार बनने के लिए कोरे वैज्ञानिक सिद्धान्त ही काफी नहीं है। वैसे तो किसी भी कार्य के पीछे उसमें निहित भावना का बहुत महत्त्व होता है और संगीत तो भावना प्रधान, भक्ति प्रधान और मधुर भावनाओं की कला है। बुद्धित्व की प्रधानता से भावना का हनन अवश्य होगा। विज्ञान के इस चमत्कार से संगीत सिर्फ कसरत बन जाएगा क्योंकि पहले लोग विद्यार्जन करते थे ज्ञान के लिए और अब करते है नौकरी के लिए। चूँकि शिक्षा का मूल्यांकन अब डिग्री के आधार पर हो रहा है, अतः विद्या का अब वह महत्त्व नहीं रह गया है। महत्त्व प्रमाण-पत्रों का है, ज्ञान तो पुस्तक के पन्नों तक ही सिमट कर रह गया है।

संगीत शिक्षण पद्धति को मजबूत बनाने के लिए विद्यार्थियों में अनुशासन व नियमितता होना अति आवश्यक है। संगीत के आन्तरिक सौन्दर्य की समझ पैदा करने वाली बातों पर जोर देकर छात्रों को शिक्षा देनी चाहिए। संगीत सभाओं का आयोजन कर छात्रों को अपनी कला प्रदर्शन करने का अवसर दिया जाना चाहिए, साथ ही उनकी कला-प्रदर्शन का आंकलन भी होना चाहिए। इससे छात्रों को अपनी गलतियों को सुधारने का मौका मिलता है। इसके अतिरिक्त सभी उच्च शिक्षण-संस्थाओं में सांस्कृतिक गतिविधियों के ऐसे केन्द्र होने चाहिए, जिसमें छात्र-छात्राओं की पूरी भागीदारी हो। इससे उनमें आत्मविश्वास बढ़ेगा और उनकी प्रतिभा में निखार आएगा। आधुनिक इलैक्ट्रानिक उपकरणों (टीवी, टेपरिकॉर्डर, ऑडियो-वीडियो कैसेट, सीडी आदि) की सहायता से भी उच्च शिक्षण संस्थाओं की गुणवत्ता में सुधार लाया जा सकता है।

(1) संगीत पत्रिका (हाथरस उ. प्र.) सितम्बर 2006 पृ. - 9
(2) संगीत पत्रिका दिसम्बर 2007 पृ. 35-37
(3) संगोत पत्रिका अप्रैल 1996 पृ. - 9

मानव जीवन में संगीत शिक्षा का महत्व

मनु प्रकाश मौय

प्राचीन कालीन संगीत का इतिहास- संगीत की दृष्टि से इस काल खण्ड को प्राग्वैदिक काल से 13वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक माना जा सकता है। इस कालखण्ड को 2 भागों में विभाजित किया जा सकता है-

1. अति प्राचीनकाल (प्रारम्भ से लेकर भरत के पूर्व तक),
2. प्राचीनकाल (भरत से लेकर शारंगदेव तक)।

अति प्राचीनकाल के अन्तर्गत, सिन्धु सभ्यता, वैदिक संगीत विशेषतया सामवेद का संगीत, ब्राह्मणों में संगीत विषयक सामग्री प्रतिशाख्य और शिक्षा में संगीत का उल्लिखित रुप मिलता है। वैदिककाल में सामगान तथा गांधर्व दो धाराओं का प्रचलन था जो बाद में मार्गी तथा देशी संगीत के नाम से प्रचलित हुई। वैदिक संगीत के अन्तर्गत तीन मुख्य स्वर (उदात्त, अनुदात्त और स्वरित) जो आगे चलकर सामवेद के उत्तर काल में सात स्वरों तक विकसित हो गया था।

प्राचीनकालीन संगीत का व्यवस्थित रुप भरत कृत नाट्यशास्त्र में उल्लिखित है। इस काल में प्रबन्ध का विस्तृत रुप प्राप्त होता है। साथ ही ग्राम मूर्च्छना प्रणाली और जाति गान का भी प्रचार हुआ जिसमें कुल 18 जातियाँ (7 शुद्ध और 11 संसर्गजा) थीं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से स्पष्ट होता है कि उस काल में संगीत तथा नाट्य को राजाश्रय प्राप्त था। राज्य की ओर से संस्थाओं का प्रबन्ध किया गया था, जिसमें गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य नृत्त वैशिक आदि की शिक्षा दी जाती थी। इन संस्थाओं में गणिका, दासी तथा नटा के अतिरिक्त गणिकाओं के वंशज तथा संगीत व्यवसाय करने के इच्छुक अन्य विद्यार्थियों को भी प्रवेश दिया जाता था।

मध्य युगीन संगीत का इतिहासः- संगीत की दृष्टि से इस युग को 13वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी (संगीत रत्नाकर के बाद) तक माना जा सकता है। मध्य युग में राग वर्गीकरण प्रमुख रुप से मेल पद्धति, राग-रागिनी पद्धति और राग रागांग पद्धति के अन्तर्गत किया गया। दक्षिण में विद्यारण्य (1336) ने तत्कालीन 50 रागों को समान स्वरों के आधार पर विभाजित किया। उत्तर काल में महाराणा कुम्भा कृत संगीत राज नामक विशाल ग्रन्थ की रचना हुई। इसी काल में पं. अहोबल, श्रीनिवास एवं हृदय नारायण देव ने वीणा के 36 इंच लंबे तार पर शुद्ध अथवा विकृत स्वरों की स्थापना करके संगीत जगत में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस काल में चिश्ती परंपरा के सूफी सन्तों, जिनका प्रभाव तत्कालीन सुल्तानों एवं बादशाहों पर पूर्ण रुप से था, द्वारा धर्म-प्रचार संगीत के माध्यम से किया गया। उन दिनों बादशाहों एवं रसों के मनोरंजनार्थ हिन्दुस्तानी दास-दासियों को संगीत शिक्षा दी जाती थी। मुसलमान शासकों ने जगह-जगह पर अपने धर्म एवं संस्कृति के प्रचारार्थ मस्जिदें, मदरसे, खानकाहों (सूफी मठ) की स्थापना कराई जो शैक्षणिक संस्थाओं के रुप में भी कार्य करती थीं। इसी बीच ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर (1486-1516) हुए संगीत के अध्येताओं के लिए संगीतशाला खोलने को श्रेय इन्हीं को जाता है। उत्तरी भारत में संगीत जहाँ संस्कृत के विद्वानों से दूर विलासिता की तरफ चला गया था वहीं दक्षिण में संगीत संस्कृत के विद्वानों से विभूषित एवं देवालयों में पूज्यनीय विषय बना रहा।

शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, बी.एच.यू., वाराणसी

आधुनिक युगीन संगीत का इतिहासः- संगीत की दृष्टि से सन् 1801 से आज तक का युग आधुनिक युग माना जा सकता है। इस युग में यूरोपीय टेम्पर्ड स्केल वाले वाद्य (हारमोनियम) का विकास हुआ जिससे श्रुति व्यवस्था भंग हो गई। इस युग में सौरेन्द्र मोहन टैगोर द्वारा संगीत संबन्धी अनेक ग्रंथों की रचना की गई। इसके अतिरिक्त मुहम्मद रज़ा, कृष्णानन्द व्यास, मुहम्मद करम इमाम एवं सादिक अली द्वारा क्रमशः नगमाते आसफी, संगीत कल्पद्रुम, मआदुनुल मौसिकी एवं सारमाय-ए-इशरत नामक ग्रन्थ की रचना भी इसी युग में हुई।

इसी बीच संगीत के दो महान उद्धारकों, पं. विष्णुदिगम्बर पलुस्कर तथा पं. विष्णुनारायण भातखण्डे, द्वारा अनेक संगीत विद्यालयों की स्थापना की गई जिससे भारतीय संगीत सुव्यवस्थित एवं सर्वजन सुलभ हो सका। इन विद्यालयों में बालक-बालिकाओं को भारतीय संगीत की समुचित शिक्षा दी जाने लगी। पलुस्कर जी द्वारा 1901 में गांधर्व महाविद्यालय (लाहौर) तथा भातखण्डे जी द्वारा 1918 में माधव संगीत विद्यालय (ग्वालियर) एवं 1924 में भातखण्डे संगीत महाविद्यालय (लखनऊ) की स्थापना की गई। वहीं 1953 में संगीत नाटक अकादमी का भी गठन हुआ। देश के सभी प्रदेश एवं केन्द्र शासित सरकारों द्वारा अपने-अपने राज्यों के शिक्षण संस्थानों में संगीत को हाईस्कूल एवं इण्टरमीडिएट स्तर पर एक विषय के रुप में मान्यता दी गई। धीरे-धीरे संगीत को विश्वविद्यालय स्तर पर भी एक विषय के रुप में मान्यता दिया गया।

संगीत शिक्षण प्रणाली :-

भारत में वेदों के समय से ही संगीत शिक्षा गुरु मुख से दी जाती थी। इसे घरानेदार या व्यक्तिगत शिक्षा प्रणाली कहते हैं। इस पद्धति में गुरु अपने घराने के नियमों, कायदों, परम्पराओं, अनुशासन, व्यवहार व आचरण के अनुकूल पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही संगीत शिक्षा अपने प्रमुख व सुयोग्य शिष्यों को देता है। शिष्य अपनी मेहनत व लगन से धैर्य, संयम व अपने गुरु के प्रति आस्था रखते हुए गुरु द्वारा प्रदान की हुई। शिक्षा स्वयं में आत्मसात करता है। उन दिनों आधुनिक सुविधा-सम्पन्न संस्थाएँ नहीं थी। अतः शिष्य को कठोर अनुशासन में रह कर गुरु के समक्ष बैठ कर उसी के द्वारा बताए गए मार्ग के अनुसार कठोर साधना करनी पड़ती थी। गुरु शिष्य की समझ व योग्यता शक्ति के अनुसार ही उसे शिक्षा देता था तथा समय-समय पर उसकी परीक्षा भी लेता था। घरानेदार शिक्षा प्रणाली में गुरुजन किसी व्यक्ति को अपने शिष्य के रुप में स्वीकार करने से पूर्व उसकी कठोर परीक्षा लिया करते थें। परीक्षा में सफलता प्राप्त करने पर ही उन्हें गुरु से संगीत शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त होता था। उन दिनों संगीत शिक्षा प्राप्त करना दुर्लभ होता था। शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक विद्यार्थी को सर्वप्रथम गुरु के घर का सारा काम-काज करना पड़ता था, तत्पश्चात् जो समय शेष बचता था उसमें भी गुरु के मन के अनुकूल ही विद्यार्थी की संगीत सीखने की इच्छापूर्ति होती थी। आम जनता के लिए संगीत शिक्षा दुलर्भ हो गई थी। जिन परिवारों में घरानेदार शिक्षा पद्धति विद्यमान थी उसमें केवल अपने पुत्र-पुत्रियों को ही शिक्षा दी जाती थी।

इसी बीच संगीत के दो महाजन पं. विष्णुदिगम्बर पलुस्कर एवं पं. विष्णुनारायण भातखण्डे के अथक परिश्रम से अनेक विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई, जिससे संगीत शिक्षा आम जनता को भी सरलता से प्राप्त होने लगा तथा देश में संगीत का प्रसार होने लगा।

सामूहिक शिक्षण प्रणाली के अन्तर्गत आज संगीत शिक्षा संगीत विद्यालयों, महाविद्यालयों व विश्वविद्यालयों में सम्पन्न हो रही है। जिससे कम समय व कम कीमत में आम जनता को भी संगीत शिक्षा सुगमता से प्राप्त हो जा रही है। इस शिक्षा प्रणाली के माध्यम से एक साथ अनेक विद्यार्थी कुशल शिक्षक से संगीत शिक्षा का लाभ प्राप्त करते हैं। माध्यमिक विद्यालयों से स्नातकोत्तर स्तर तक के पाठ्यक्रमों में रागों को सीमित कर दिया गया है, जिसमें ख्याल के साथ-साथ ध्रुपद, धमार, ठुमरी, दादरा, सादरा आदि गेय विधाओं का संकलन रहता है। यहाँ विद्यार्थियों की योग्यता को जाँचने के लिए समय-समय पर परिक्षाएँ भी होती रहती हैं।

संगीत शिक्षा का महत्व :-

संगीत शिक्षा का मानव जीवन के विकास में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। संगीत शिक्षा द्वारा ही

मनुष्य में सद्गुणों का विकास होता है। आजादी की लड़ाई में भी स्वतन्त्रता सेनानियों के मन में राष्ट्रीयता की भावना के प्रति जोश जागृत करने में और भारत को स्वतन्त्र कराने में भी संगीत का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। संगीत शिक्षा द्वारा मानव में विश्वबन्धुत्व, मानवता, प्रेम, आपसी सद्भाव एवं वसुधैव कुटुम्बकम की भावना का उदय होता है। मेगडगल ने मनुष्य के अन्दर 14 मूल प्रवृत्तियों स्वीकार की हैं, जैसे- पलायन, काम प्रवृत्ति, आत्म गौरव, जिज्ञासा, रचनावृत्ति आदि। इनमें से काम प्रवृत्ति को महत्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि यही मनुष्य के व्यवहारों का आधार है और संगीत शिक्षा द्वारा ही मनुष्यों की पाशविक प्रवृत्तियों का तिरस्कार कर साहचर्य की सहायता तथा सद्भावना में तृप्ति की अनुभूति सम्भव है। मनुष्य मात्र में भावात्मक, क्रियात्मक एवं ज्ञानात्मक इस तरह के त्रिविध पहलू होते हैं। इन्हीं त्रिविध दिशाओं में मनुष्य का जीवन विकसित होता है। संगीत द्वारा ही इन तीनों पक्षों में संतुलन स्थापित होता है। संगीत शिक्षा का आध्यात्मिक और धार्मिक जीवन से भी बहुत गहरा सम्बन्ध है। विश्व के समस्त धर्मों में संगीत किसी न किसी रुप में अवश्य प्रयुक्त होता है। जहाँ महात्माओं, संतजनों के प्रवचन हों वहाँ संगीत का प्रयोग अवश्य होता है। भारतीय संस्कृति के विकास एवं राष्ट्रोन्नति में भी संगीत शिक्षा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

सूफी इनायत खाँ संगीत शिक्षा का महत्व बताते हुए कहते हैं "संगीत कलाओं में सूक्ष्मतम होने के कारण समाज में बैर भावना और मतभेदों को खत्म कर आत्मा को आत्मा से जोड़ता है।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "संगीत कला का कार्य व्यक्ति और समाज को परस्पर समीप लाना है।" संगीत शिक्षा से मानवीय गुणों का विकास होता है। पं. भीमसेन जोशी जी के अनुसार, "संगीत शिक्षा सभी धर्म सम्प्रदाय के लोगों में भेदभाव की भावना दूर कर राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का महत्वपूर्ण उपादान है।" डॉ. महेश नारायण सक्सेना संगीत शिक्षा के संबंध में विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं, "संगीत एक उच्च ललित कला है, जो संस्कृति का प्रमुख अंग है। राष्ट्रीय चेतना की प्रतिष्ठा में उसका असंदिग्ध योगदान है। विश्व भाषा होने के नाते संगीत राष्ट्र की भावात्मक एकता की स्थापना में तो महत्वपूर्ण भूमिका निभाती ही है साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी यह विश्व परिवार की भावना का प्रबल पोषक तत्व है। अतः किसी न किसी रुप में किसी न किसी सीमा तक देश के प्रत्येक बच्चे और नागरिक को संगीत की शिक्षा दी जानी बहुत आवश्यक है।" संगीत केवल रंजन का ही साधन नहीं बल्कि यह जीवन शक्ति की वृद्धि तथा ऐन्द्रिय सुख में आत्मा को आनन्द देने का भी एकमात्र साधन है। संगीत द्वारा मानसिकता, मन में शुद्धता तथा आचार-विचार में सद्भावना का विकास होता है। संगीत शिक्षा का महत्व व्यक्तिगत के साथ-साथ सामूहिक रुप से भी है। समूहगान, समूहनृत्य, वाद्यवृन्द से उत्पन्न आनन्द मानव-हृदय में परस्पर सहयोग व प्रेम की भावना को उजागर करता है। साथ ही संगीत शिक्षा प्राचीन संस्कृति व सभ्यता की सुरक्षा कर आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणादायी भी बनता है। चिकित्सा के क्षेत्र में भी संगीत शिक्षा बहुत ही महत्वपूर्ण है। वैज्ञानिक पद्धति द्वारा संगीत के माध्यम से ही अनेक मानसिक व्याधियों का इलाज किया जाता है। इसके अतिरिक्त संगीत शिक्षा द्वारा स्मृति, कल्पना और रचना शिक्षा का विकास होता है तथा बच्चों में नैतिकता एवं अनुशासन की भावना जागृत किया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. नेट संगीत-डॉ. तेज सिंह टाक
2. संगीत निबन्ध संग्रह-हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव
3. संगीत मैनुअल-डॉ. मृत्युंजय शर्मा एवं रामनारायण त्रिपाठी
4. हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की शिक्षा प्रणाली-डॉ. सुरेश गोपाल श्रीखण्डे
5. संगीत की संस्थागत शिक्षण प्रणाली-अमरेशचन्द्र चौबे
6. संगीत की उच्चस्तरीय शिक्षण प्रणाली-डॉ. पुष्पेन्द्र शर्मा
7. संगीत का योगदान मानव जीवन के विकास में-डॉ. उमाशंकर शर्मा
8. हिन्दुस्तानी संगीत : परिवर्तनशीलता-असित कुमार बनर्जी

वाक्तत्व और संगीत

निधि श्रीवास्तव

वाकतत्व वेद का सर्व प्रमुख प्रतिपाद है। वहां यह एक देवता तथा शक्ति के रूप में है। इसे ब्राम्ही, भाषा, गीतः, वाणी और सरस्वती इन पर्याय शब्दों से भी कहा गया है। अव्यक्त पुरूष (आत्मा) वाणी के अर्थात वाक शक्ति के द्वारा ही व्यक्त होता है। शक्ति तथा शक्तिमान (आत्मा तथा वाणी) इनका अविनाभाव सम्बन्ध रहता है। दाहकत्व जैसे अग्नि के बिना नहीं रहता, उसी प्रकार वाणी आत्मा को छोड़कर नहीं रहती है। वैदिक वाक् ही वैदिक शब्द तत्व का परम श्रेष्ठ स्तर है, जो आगम धारा में परावाक् नाम से विख्यात हुआ है। वही प्रकट होने के क्रम में पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी का रूप लेता हुआ लोक में अवतरित होता है।

वाणी का परा स्वरूप अव्यक्त तथा सूक्ष्म होता है। वाक् का स्थूल अव्यक्ततम रूप शब्दार्थमय, वर्णात्मक होता है। ओंकार एवेदं सर्वा वाक्- ओंकार को सब प्रकार की वाणी का मूल स्त्रोत कहा गया है। ओंकार में यह शक्ति अव्यक्त रूप में रहती है। उसके सभी प्रकार ओंकार या प्रणव में समाविष्ट हैं। वैदिक आर्यों ने वाणी के महत्व को अनेक सूक्तों तथा ऋचाओं के द्वारा व्यक्त किया है। वाणी के अव्यक्त और व्यक्त दोनों रूपों का ज्ञान उन्हें था तथा उन्हें यह भी ज्ञान था कि वाणी किस रूप में मंगलमयी होती है। दैवी तथा मानुषी ये वाणी के दो प्रकार कहे गए हैं,वैदिक ऋचाओं की वाणी दैवी है तथा सामान्य लोगों की वाणी मानुषी है।

महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य में कहा है कि अक्षर समाम्नाय ही वाक् है। वही ब्रहम राशि है। उसके ज्ञान से ही सर्व वेदों के पुण्य फल की प्राप्ति होती है। वृहदारण्यक में वाणी को धेनु बताकर एक रूपक प्रदर्शित किया गया है। वाणी ही धेनु है यह समझकर उपासना करनी चाहिए। शतपथ, गोपथ और ताण्ड्यादि ब्राम्हणों में तथा मार्कण्डेय पुराण में भी वाणी को धेनु का रूपक दिया गया है। आचार्य अभिनवगुप्त कहते है कि चित्त वाक् में परिणत होता है, तभी सूचना का विधान होता है।

मन ने वाक् द्वारा चित्त को सूचना दी और मन ने इन्द्रियों के द्वारा वस्तु(विषय) का ज्ञान प्राप्त किया। स्पर्श से या बोलने से, मन से सूचना वाक् द्वारा चित्त को प्राप्त होती है तथा इस प्रकार अपान से व्यान द्वारा प्राण को सूचना प्राप्त होती है। आह्वनीय अग्नि से जठराग्नि अर्थात दक्षिणाग्नि के द्वारा गार्हपत्य अग्नि को सूचना हुई। पुनः चित्त द्वारा मन को उत्तर सूचना आई। प्राण से उदान द्वारा समान को सूचना आई, और गार्हपत्य अग्नि से दक्षिणाग्नि द्वारा आह्वनीय अग्नि को उत्तर सूचना पहुँची। वस्तुतः मुख्य प्राण चित्त और मन के मध्य सम्बन्ध वाक् से ही होता है। जिव्हामूल, हृदय, कण्ठ, मूर्धा, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु आदि आठ स्थानों में आश्रित तथा अग्नि देवता से अधिष्ठित वर्णों को अभिव्यक्त करने वाली इन्द्रिय तथा उससे अभिव्यक्त होने वाला शब्द भी वाक् कहा जाता है।

अतः प्राण वाक् और मन के द्वारा ही रचना अभिव्यक्ति होती है। रचना काल के अभाव में सम्भव नहीं है और ना ही वाक् के बिना ही सम्भव है। प्राण भी नितान्त आवश्यक तत्व है,तथा मन से ही वाणी की प्रवृत्ति होती है। अतः सृष्टि की प्रवृत्ति में यही त्रिक अनिवार्य रूप से अपेक्षित हैं। संगीत में वाक् का स्वरूप वाद्यों पर स्पष्ट दृष्टिगत होता है। गान तो प्राण का ही चमत्कार है, तथा संगीत शास्त्रों

शोध छात्रा, विश्वविद्यालय संगीत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

में अवधान की जो महिमा है वह मन के कारण ही है। काल यानी ताल के बिना गीत, वाद्य कुछ भी पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता है।

वाक् के चार भेद हैं -परा, पश्यन्ति, मध्यमा तथा वैकरी। ये प्रकार योग तन्त्र और व्याकरण दर्शन में प्रतिपादित है।

परा- इसका स्थान नाभी में स्थित है। शब्द साधना में विस्फोट की प्रथम अवस्था को परा कहा गया है। परा वाक् स्थान या भण्डार को बताती है। काश्मीर शैवागम की परा रहस्य- स्वरूपा है, वह चितिस्वरूपिणि है, नित्य है तथा वस्तुतः वही महासत्ता है। शक्ति और शक्तिमान में अभेद- दृष्टि से वाक् और शिव भी अभिन्न हैं। आगमों में अनाहत ाब्द से जिस महान विश्वव्यापी शब्द व्यापार का बोध होता है, वही तन्मयी परा वाक् है। सम्पूर्ण वांगमय शब्दमय है तथा वही विश्व है। शब्दरूपात्मा विश्वयथाक्रम से परा में अविकसित, पश्यन्ति में विकासोन्मुख, मध्यमा में विकसित होता हुआ तथा वैखरी में अलग-अलग परामर्श के रूप में विकास को प्राप्त होता है। भर्तृहरि का वाक्दर्शन स्थूल से सुक्ष्म की ओर गया है और अन्तः शक्तिरूवरूप प्रतिभा या महासत्ता पर आधारित है, किन्तु शैवागम का वागूदर्शन शिव शक्ति पर केन्द्रित है। यही इन दोनों में वस्तुतः भेद है।

पश्यन्ति- यह केवल स्पन्दन मात्र है। यह वाणी की अवस्था, किसी भी विशेष अर्थ को सूचित नहीं करती। इसका स्थान मूलाधार से लेकर मणिपुर चक्र तक रहता है। इसी स्थान में इसका मन से संयोग होता है। पश्यन्ति चला और अचला दोनों है। टीकाकार लाभ. ाम के अनुसार पश्यन्ति चला इसलिए है क्योंकि रूप, रस आदि विषय में लीन बुद्धि साधारण व्यक्ति को वाक् की भांति दिखाई पड़ती है। वह अचला है क्योंकि वह अपने स्वरूप में निस्पन्द है। प्रतिलब्धा, आवृत्ता, समाधाना आदि अनेक भेद वाली पश्यन्ति है। परन्तु अपने मूल रूप में वह क्रमरहित है, स्वप्रकाश है और संविद्रूप है। पश्यन्ति में किसी प्रकार का विभाग नहीं होता है, वह स्वप्रकाश एवं नित्य है। वाक् के स्थूल भेदों से संपृक्त होने पर भी उसमें कोई विकार नहीं होता, वह अमूर्तकला है।

मध्यमा-इसका स्थान कण्ठ है। प्रकृति के आरम्भ में मध्यमा वाणी ही प्रकट होती है। उस समय उसका कोई बाह्य अर्थ नहीं रहता है। किसी भी वस्तु की धारणा निमार्ण करने वाली वह मानसिक गति रूप होती है, जो अध्याात्म और अधिदेव रूपा है तथा जो देवताओं की ईश्वरी अर्थात् प्रेरणात्मिका शक्ति है। यह हमारे भीतर मध्यमा शक्ति के रूप में स्थित है। वह दिव्य भाव को प्रकाशित करने वाली तथा देवताओं को आनन्दमग्न करने वाली है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार शब्द का जो शब्द स्वरूप और क्रमिक रूप है वह मध्यमा अवस्था में ही स्फुटित होता है। विमर्श शक्ति जब अन्तःकरण को प्रेरित करती है तो वह शक्ति मध्यमा वाक् कहलाती है। चिन्तन प्रधान होने के कारण मध्यमा को चिन्तन शब्द भी कहते हैं। ज्ञान शक्ति , इच्छा और क्रिया के मध्य होती है। अतः मध्य शक्ति के प्रतीक वाक् को मध्यमा कहते हैं।

वैखरी- इसका स्थान जिह्वा है। यह स्थूल है तथा क्रिया शक्ति स्वरूपा है। इसके दो रूप सघोष तथा अघोष हैं। इस वाणी के द्वारा हम लोग शब्दोच्चार करते हैं, तथा उससे ही अन्य लोगों को अर्थ की प्रतीति होती है। उपर्युक्त चारों वाणियों का समन्वय इस प्रकार है-अव्यक्त स्थिति से शब्द का जो उत्थान होता है वह नाभि से ही होता है, तथा हृदय में वह (शब्द) व्यक्त रूप से विकास को प्राप्त करता है एवं वही शब्द कण्ठ में ध्वनि रूप हो जाता है। यही आगे चलकर जिह्वा की उपाधि से वह वर्ण रूप बन जाता है। जीवमात्र के शब्दोचारण की क्रिया इसी क्रम से चलती रहती है। शब्द साधना में वाणी का रहस्य दस प्रकार से बताया गया है कि वाक् सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध रहती है। किसी भी अर्थ को ग्रहण करने में मन दो प्रकार से काम करता है, उसका एक अंग सूक्ष्म शब्द से एकाकार होता है तथा दूसरा अंश बाह्य वस्तु के रूप को ग्रहण करता है। इसी को सूक्ष्म अर्थ कहते हैं। सूक्ष्म शब्द तथा सूक्ष्म अर्थ, अर्थात् ग्राहक और ग्राह्य दो रूपों में मन की ही अभिव्यक्ति होती है। सूक्ष्म शब्द ग्राहक तथा सूक्ष्म अर्थ ग्राह्य होता है। ये दोनों सूक्ष्म शरीर के ही अधीन होते हैं। अतः भौतिक शरीर में मन ही ज्ञान

रूप है। मन का रूप जब तक वाणी नहीं लेती तब तक किसी भी पदार्थ का बोध नहीं होता है। इसलिए ज्ञानार्जन के प्रत्येक क्षेत्र में मन के अवधान पर विशेष बल दिया जाता है। मन दर्पण स्वरूप है। बिम्बानुसार ही प्रतिबिम्ब होता है। इसलिए भारतीय संस्कृति में संस्कार,आचार-विचार, दृष्टादृष्ट फल की इतनी विधिवत मीमांसा की गयी है। वैखरी संज्ञा वर्णों के उच्चारण से सम्बद्ध है। विखर शब्द का निर्वचन आचार्य अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में इस प्रकार किया है-"विखर शरीरं तत्र भवा तत्पर्यन्तचेष्टासंपादिकेत्यर्थः।" विखर अर्थात शरीर में होने वाली चेष्टा की सम्पादिका यह वैखरी वाणी होती है। यह वैखरी वाणी स्वयंवेद्य तथा परसंवेद्य दोनों है। यह सभी प्रकार के अभिव्यक्त शब्दों का प्रतीक है। यह व्यापार रूप और कार्यरूप दोनों है। मन काल का ही रूप है, किन्तु वह नियंत्रित काल है। इसलिए वैखरी वाणी से अभिव्यक्त ज्ञान को निश्चित और स्थिर अर्थ प्रदान करता है, किन्तु उसी मनसूआकाश में यानी लहर के आकार की जो नाद की व्यक्तता है। वह निश्चित अर्थ प्रदान नहीं करती है। तात्पर्य यह है कि अर्थ की दृष्टि से रूप रेखा निश्चित न होने के कारण व्यापकता लचीलापन और व्यक्ति सापेक्षता रहती है। पंचभूतात्मक सम्पूर्ण जगत के मूल में अव्यय स्वरूप पुरूष की तीन स्थितियां अथवा तीन कलाएं ही मन, प्राण, वाक् स्वरूप से सम्पूर्ण प्रपंच के मूल तत्व कहलायी हैं। 'सोडयमात्मा मनोमयः प्राणमयो वांगमयः' आदि अनेक प्रकार से अनेक स्थलों पर कहा गया है।

प्राण, मन एवं वाक् तत्व ये तीनों ही परस्पर सम्बद्ध हैं। अपनी-अपनी स्वरूपाभिव्यक्ति हेतु तीनों को ही एक दूसरे की अपेक्षा है क्योंकि, सृष्टि तो संघात का ही परिणाम है। इन तीनों के सम्बन्ध की कल्पना हम इस प्रकार भी कर सकते है कि नानानामरूपात्मक जगत उस एक ब्रह्म की शून्य के दर्पण में प्रतिबिम्बित छवि है जो गोचर है। ब्रह्म अग्नि रूप है तथा जलगोचर भी है।

वाकृतत्व सृष्टि सौन्दर्य को स्थायी बनाता है तथा जगत् को व्यवस्थित रखता है। अनुभूति मन के उस पात्र की वाष्प है, जिसमें तरल पदार्थ भरा है और जिसके नीचे भौतिक तापों की अग्नि निरंतर जलती रहती है। वाकृतत्व आयुर्वेद की वह नली है, जो उस वाष्प को निकालती रहती है। अनुभूतियों का वाष्प वाकृतत्व की नली से निकास पाता रहता है तथा नाना-नामरूपात्मक जगत् में नाना-नाम-रूप होकर छा जाता है। यही वाकृतत्व आग्नेय तत्व के कारण आगे बढ़कर नाद ब्रहम के रूप में प्रतिष्ठित होता है।

वह प्राणतत्व जो संगीत का मूलाधार है, सृष्टि को वह स्पन्दन प्रदान करता है। वह स्पन्दन व्यर्थ सा हो जाएगा यदि वह मुखरित ना हो सके। उसे मुखरित करने का प्राणतत्व को जीवन्त माधुर्य प्रदान करने का श्रेय वाकृतत्व को जाता है।

संदर्भ

1- शर्मा, मृत्युंजय, संगीत मैनुअल, एच.जी. पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

2- शरण, पं. भगवत, संगीत निबन्ध मंजरी, प्रकाशक रविशंकर शर्मा, रामपुरी खुर्जा, प्रथम संस्करण 1993।

3- मुसलगांवकर, डॉ. विमला, भारतीय संगीतशास्त्र का दर्शनपरक अनुशीलन, संगीत रिसर्च एकेडमी कलकत्ता हेतु विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक, वाराणसी, प्रथम संस्करण जुलाई 1995।

4- शर्मा, प्रो. स्वतंत्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत, अनुभव पब्लिकेशन हाउस, प्रथम संस्करण 2010।

5- महाजन, डॉ. अनुपम, भारतीय शास्त्रीय संगीत एवं सौन्दर्यशास्त्र, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, प्रथम संस्करण 1993।

"विविध संगीतज्ञों के मतानुसार भारतीय संगीत में रियाज प्रणाली एवं उसकी उपयोगिता"

पूजा मिश्रा

व्यवहारिक और शास्त्रीय, यह संगीत के दो पक्ष हैं जिन्हें लेकर ही संगीत पूर्ण है। व्यवहारिक संगीत, साधना है और इस साधना को सार्थक, सफल करने के लिए शास्त्र का प्रयोजन है। 'संगीत' यानी गायन, वादन और नृत्य, इन तीनों ही विधाओं में गुरुओं ने रियाज को अत्यन्त आवश्यक बताया है। जैसा कि उक्त है :-

"विद्या याद किये बिना, बिसरत इहिं उनमान
बिगर जात बिन खबरतें, डोली कैसी पान।।"

- वृन्द (वृन्द सतसई)

बिना याद किये विद्या इस प्रकार भूल जाती है, जैसे बिना देखभाल किए डोली (पनवाड़ी) का पान सड़ जाता है। अतः कलाओं में अभ्यास का अपना विशेष महत्व है। इसी प्रकार संगीत में अभ्यास के महत्व से सभी सहमत हैं।

अभ्यास को उर्दू में 'रियाज' कहते हैं। अभ्यास का तात्पर्य प्रायः किसी कार्य की पुनरावृत्ति से होता है जो उस कार्य को सीखने के उद्देश्य से किया जाता है। 'रियाज' के पर्यायवाची अनेक शब्दों में 'साधना' और साधकम् भी है, जो कि बृहद् रूप से बोल-चाल की भाषा में आदि काल से भारतवर्ष में प्रचलित है। अभ्यास-रियाज-साधन-साधना- Practice- Training इत्यादि शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं जिनका अर्थ व प्रयोजन संगीत के प्रशिक्षार्थी द्वारा संगीत के सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रयोग की गई प्रणाली (विधि, तरीके) से है।

"उस्ताद अलाउद्दीन खाँ" ने कहा था- "संगीत ही मेरी जाति, धर्म है; स्वर सर्वशक्तिमयी माँ की देन है; संगीत-साधना ईश्वर साधना है; सुर ही जीवन है। शुद्ध संयमित मन से संगीत की साधना करो।"

पाश्चात्य विद्वान Shoemaand ने अभ्यास के विषय में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये है :-

Drill is continued repetition of any learning process, with a view to practically permanent retention, or automatic response. It is through that retention, or automatic response, is attained and drill means essentially repetition".

रियाज के सन्दर्भ में कहा गया है- अच्छे रियाज का काल दही मथने के समान है, जिस प्रकार दही के मथने से मक्खन मिलता है, उसी तरह रियाज से विश्वास, पकड़, मजबूती और सिद्धि मिलती है। सूझ-बूझ बढ़ने लगती है। 'सूझ' का अर्थ है, नई बातों का दिमाग में अचानक रोशन हो जाना और 'बूझ' का अर्थ है सूझ के नतीजों को समझना। किसी महफिल में रियाज नहीं पेश किया जाता है बल्कि रियाज से निकला हुआ मक्खन पेश किया जाता है, जिसे निचोड़ कहा जा सकता है। जिस प्रकार पकते हुए चावल के एक दाने से उसके कच्चे-पक्के होने की तुरन्त पहचान होती है। ठीक उसी प्रकार संगीतज्ञ अपनी कला की प्रस्तुति के आरम्भिक चरण में ही अपने रियाज का परिचय दे

शोध छात्रा, विश्वविद्यालय संगीत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

देता है। ऐसे कलाकार श्रोताओं-दर्शकों पर अमिट प्रभाव-सुर, लय, ताल, पदाघातों, भाव-भंगिमाओं, गायकी-नायकी आदि के माध्यम से छोड़ सम्मोहित कर लेते हैं।

'आचार्य शुक्राचार्य' के अनुसार :-

"सर्व विद्यास्वनभ्यासो जराकारी कलासुच" ।।

- (शुक्रनीति)

अर्थात् सम्पूर्ण विद्याओं व कलाओं में अभ्यास न करना जरा (शैथिल्य) करने वाला होता है। अतः समस्त विद्याओं व कलाओं में अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है।

अतः त्रुटिरहित अभ्यास के लिए निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखना अति आवश्यक है:-

1. अभ्यास के लिए सर्वप्रथम यह बात आवश्यक है कि अभ्यास करते समय आनन्द की अनुभूति होनी चाहिए।
2. अभ्यास में रुचि का होना बहुत आवश्यक है। रुचि के अभाव में बेसुरा व बेताला होने का भी डर रहता है।
3. नवीन विषय वस्तु का प्रारम्भ में प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए।
4. विषय-वस्तु को भली भांति सीखने के पश्चात् कभी-कभी उसकी पुनरावृत्ति भी करते रहना चाहिए अन्यथा नवीन विषय वस्तु सीखने के साथ पुराने गीतों, रागों, तालों को भूलने का भय बना रहता है।
5. घर पर संगीत अभ्यास करने के लिए प्रातःकाल का समय सर्वथा उपयुक्त रहता है क्योंकि इस समय वातावरण शान्त रहता है। अतः इस समय दत्त चित्त और एकाग्र होकर अभ्यास किया जा सकता है।
6. संगीत के समस्त उपकरणों की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखना चाहिए।
7. सही आसन में ही बैठकर अभ्यास करना चाहिए।
8. प्रारम्भ में अभ्यास मध्य लय में करना चाहिए तत्पचात् द्रुत व विलम्बित लय में करना चाहिए।
9. गति उतनी ही रखनी चाहिए जिससे संगीत की शुद्धता बनी रहे।
10. अभ्यास में क्रमिकता होनी चाहिए अर्थात् प्रारम्भ में सरल विषय वस्तु तथा धीरे-धीरे बढ़ते हुए जटिल विषय वस्तु का अभ्यास करना चाहिए।
11. अभ्यास करते समय समस्त ध्यान विषय वस्तु पर ही केन्द्रित होना चाहिए क्योंकि ध्यान के अभाव में अभ्यास त्रुटिपूर्ण होने की संभावना बनी रहती है।

अभ्यास के स्वरूप को पाश्चात्य विद्वान कुछ इस प्रकार वर्णित करते है:-

"Mere repetition without regard to the degree of attention or motivation to the degree of understanding of what is to be learned or to the degree to which the learner is read by reason of maturity or adequate appereceptive background is not very efficient".

Mehl, Mills and Douglass

विविध संगीतकारों-चिन्तकों के विचारों से साधना, अभ्यास का तरीका यही है कि प्रशिक्षार्थी, साधन स्वर, लय और शब्द, वस्तुतः समग्र कला स्वरूप, को अंतर में अनुभव कर अभ्यास, साधना करे। भारतीय संगीत में अभ्यास के स्वरूप एवं उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में कुछ भारतीय संगीतज्ञों के विचार निम्नवत है :-

'पण्डित आरोलकर' के मतानुसार :-

ग्वालियर घराने के वयोवृद्ध गायक स्व **'पं. शरदचन्द्र आरोलकर'** का दृष्टिकोण संगीत साधना के प्रति वेदान्तिक है। उनके अनुसार संगीत साधना के 'सरगम' और गीत की शिक्षा साथ-साथ होनी चाहिए। मात्र 'सरगम' में आनंद नहीं। धुन कर्णगोचर हो जाने से कान उसे पकड़ लेते हैं। सीधी सरगम से लय बनती है और धुन सामने आ जाती है। गिनती व ताली के साथ गाने से लय पक्की होती है और अभ्यास में आनन्द भी मिलने लगता है। रागों में सरगम का अभ्यास किया जाता है, किन्तु रागों के नाम बताना जरूरी नहीं, छोटे अलंकार- सारेग, रेगम,

सरगम, मन्द्र- के अभ्यास से स्वरों की पहचान हो जाती है। इस अवस्था में हारमोनियम सहायक है। इसके साथ ही कान तैयार हो जाते हैं। तब राग यमन और भैरवी में छोटी 'चीज़' दी जाती है। इस प्रकार शिक्षार्थी को धुन की पहचान हो जाती है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है; इसमें जबरदस्ती नहीं। लय के साथ धुन की पहचान के बाद रागों के नाम, आरोह-अवरोह और 10-12 बन्दिशें दी जाती हैं। इस प्रक्रिया से लय के साथ चलन का अभ्यास हो जाता है। इसमें शब्दों के उच्चार पर विशेष ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। तीनों मिलकर ही 'आर्ट फॉर्म' निर्मित होता है और इसी सम्पूर्ण स्वरूप को आत्मसात् कर अभ्यास किया जाता है। इस क्रिया में गाना, सुनना और ताल के साथ उसे गुनगुनाना सहायक है। इस स्थिति के बाद तबले का ठेका समझाकर ताल और ठेके का सम्बन्ध बताया जाता है। सरगम और ताल का मिलाप भी समझना होता है, ताकि किसी मात्रा से गाने के लिए कहने पर शिक्षार्थी उसे उठा सके। चीज का मुखड़ा बताने के साथ ही उसे यह भी ज्ञान कराया जाता है कि लय बदलने पर कैसे बढ़ना है।"

आरोलकर का सिद्धान्त था कि "इस अभ्यास के बाद राग यमन और भैरवी की शिक्षा दी जाती है और 'आ'कार में आलाप, बहलावे की शिक्षा दी जाती है। ग्रह-न्यास का ज्ञान भी इसी दौरान कराया जाता है। यहाँ लेखन नहीं है, बल्कि चीज़ का मुखड़ा लेकर आलाप जोड़ने की बात है, जिसे शिक्षार्थी को स्वयं करना होता है। वस्तुतः यहीं से सृजन क्षमता जाग्रत करने की प्रक्रिया आरम्भ होती है। मनन-चिन्तन से इस मार्ग पर चलकर सृजन करने से भावपूर्ण स्वरूप निर्मित होता है। इसके पश्चात् फिरत; संकीर्ण, विविधांगी तानों की शिक्षा दी जाती है। 'आ'कार के अभ्यास के साथ आलाप दिमाग में रखकर बोल गूँथने, बोलों को ढंग से पूरा करने का अभ्यास होता है। वस्तुतः यह आलाप ही है। यह कष्टसाध्य है, किन्तु यही नींव है। इसी के अभ्यास पर अधिक समय दिया जाता है, ताकि आगे बढ़ने में आसानी हो। ऐसे दो-चार बड़े खयाल दिए जाते हैं, जिनमें ध्रुपद-जैसी खड़ी चाल है। बाद में 'आर्ट फॉर्म' के लिए अलंकारों का महत्व है। अब तक मात्रा का बन्धन रहा, पर अब यह बन्धन टूटता है। वस्तुतः 'रेखा का बन्धन' टूटना ही चाहिए।

'प्रो.वी.आर.देवधर' के मतानुसार :- ग्वालियर घराने के गायक स्व. **'प्रो. वी. आर. देवधर'** ने बताया कि छात्र को संगीत की शिक्षा देने के पूर्व यह देखा जाता है कि उसमें संगीत के संस्कार हैं या नहीं। "छात्रों में संगीत कला के प्रति निष्ठा जाग्रत करना आवश्यक है। प्रारम्भ में स्वर-ज्ञान कराने के उद्देश्य से 'सा' से 'नि' तक स्वरों के स्थान और अन्तराल समझाये जाते हैं और स्वर पहचानने का अभ्यास कराया जाता है। अलंकारों का हजार बार अभ्यास करना आवश्यक है। स्वर की स्थिरता, गले की तैयारी और लय की समझ के लिए इस प्रकार का अभ्यास आवश्यक है। फिर तबले के साथ ध्रुवपद-धमार की शिक्षा दी जाती है, ताकि स्वर पर टिकाव एवं लय के वैविध्य का ज्ञान को सके। इसके पश्चात् खयाल सिखाया जाता है। पहले यमन और भैरव सिखाया जाता है और सीधे रागों का चलन गले में आ जाने पर सन्तों की बन्दिशें दी जाती हैं।"

प्रो. देवधर की मान्यता रही कि 'सरगम' की पहचान हो जाने पर 'आ'कार स्वतः आ जाते हैं। उनका कहना है कि "हमारी प्राचीन गायन प्रणाली 'ध्रुपद शैली' का अभ्यास, गायन का पुष्ट आधार तैयार करता है और स्वर-लय का एक्का ज्ञान करा देता है। वस्तुतः गायक बनने के लिए गुरू का सान्निध्य आवश्यक है; इसी से एक दृष्टि मिलती है। वैसे, प्रशिक्षार्थी के रक्त में स्वर-लय का प्रवाह मुख्य है; फिर भी गुरू-सान्निध्य से जिस विराट् स्वरूप का दर्शन होता है, वही मुख्य है। प्रो. देवधर का मत रहा कि "बन्दिश का अपना सौन्दर्य है और उसके स्वरूप और चलन तथा स्वर-प्रवाह को आत्मसात् कर उसका निरन्तर अभ्यास प्रधान है।"

'श्रीमती किशोरी आमोणकर' के मतानुसार :-

जयपुर-अतरौली घराने की गान-तपस्विनी श्रीमती मोघूबाई कुर्डीकर की सुपुत्री एवं शिष्या गान-सरस्वती **'श्रीमती किशोरी आमोणकर'** का संगीत केप्रति दृष्टिकोंण आध्यात्मिक है।

गायिका श्रीमती किशोरी आमोणकर ने कहा कि "संगीत सीखना है तो स्वर और लय का अंदाज आत्मसात् करना होगा। यह भी समझना होगा कि लय में स्वर कहां है और स्वर में लय कहाँ है। स्वर में लय है, लय में स्वर है, हर ताल में स्वर है। स्वर सँभालकर गाना-बजाना ही ठीक है; इसी से रस की निष्पत्ति होती है।

श्रीमती किशोरी आमोणकर ने कहा कि "यह गुरूमुखी विद्या है और रागों की नहीं, बल्कि स्वर की शिक्षा दी जाती है। स्वर का नाम नहीं बताया जाता, 'आ'कार में ही गाना होता है, गुरू का अनुकरण किया जाता है। मूल स्वर 'सा' लगता है या नहीं, इसी का बार-बार अभ्यास करना होगा। स्वर पहचानने का महत्व है। स्वरों में निहित प्रवाह को आत्मसात् करना होगा, 'सरगम' स्वतः आ जायेगी। इसी के साथ श्रुतियों का आभास भी मिल जाता है। यदि बाईस श्रुतियां लगती हैं तो गाओ। स्वर पहचानने के बाद अलंकारों की शिक्षा दी जाती है। स्वर लय पहचानने से आगे का रास्ता खुलता है। आवाज तैयार हो जाने पर अलंकार-तानों आदि की तैयारी की जाती है, तब राग स्वतः आ जाता है। इसमें स्वर-प्रवाह को आत्मसात् करना आवश्यक है। शुद्ध एवं कोमल स्वरों के मिश्रण से तैयार सरल स्वर-संगतियों का अभ्यास हितकर है।

"बंदिश के साहित्य का भी अध्ययन करना चाहिये। उसमें प्रयुक्त शब्दों का ज्ञान होना चाहिए। उनका उच्चारण भी स्पष्ट एवं भावयुक्त हो, ताकि रसिकों के साथ तादात्म्य स्थापित हो सके, वे उनके अंतर को छू सकें।

अलंकार, स्थायी, अंतरे आदि की शिक्षा विभिन्न तालों में हो; तभी स्वरों के प्रयोग, स्वर-प्रवाह का ज्ञान कराया जाये और साथ ही सौन्दर्य तत्व का भी। इसी दृष्टि से किया गया अभ्यास इस कला के स्वरूप को निखारने में सहायक है।

पं. गोविन्दप्रसाद जयपुरवाले के मतानुसार :-

गुणी गन्धर्व पं. लक्ष्मण प्रसाद जयपुरवाले के सुपुत्र एवं शिष्य स्व. **'पं. गोविन्द प्रसाद जयपुरवाले'** की मान्यता रही कि आवाज प्रकृति की देन है, किन्तु उसका परिष्कृत रूप गुरू की शिक्षा और सही मार्गदर्शन से उभरता है। शिक्षा के सम्बन्ध में उन्होंने बताया कि "आरम्भ में श्वास भरने की शिक्षा दी जाती है और उसे प्रत्येक स्वर पर रूकने की विधि बताई जाती है और यह भी सिखाया जाता है कि स्वर पर कितना रूका जाता है। प्रत्येक स्वर पर एक श्वास में कम-से-कम पन्द्रह सेकेण्ड ठहराव हो; और फिर उस अवधि को बढ़ाया जाता है। अभ्यासार्थी के लिए यह आवश्यक है कि ढाई सप्तक तक एक जैसी आवाज से सहज संचरण करे। अभ्यास 'सरगम' और 'आ'कार, दोनों में अनिवार्य है। प्रशिक्षार्थी को इसका भी मार्गदर्शन कराया जाता है कि स्वर के आधार पर श्वास किस प्रकार लेनी और छोड़नी है। स्वर और लय ठीक समझ में आ सके, इसी दृष्टि से शिक्षा दी जाती है और उसी के अनुसार प्रशिक्षण दिया जाता है। उसी के अनुरूप अलग-अलग तालों में अलंकार दिये जाते हैं। स्वर-ज्ञान के लिए अलंकार दस ठाठों का आधार लेकर दिए जाते हैं। इस पद्धति से बारह स्वरों का रियाज हो जाताहै और दस ठाठों का ज्ञान भी। मुख्यतः छह तालें- एक ताल, झपताल, रूपक कहरवा, दादरा और त्रिताल-ली जाती है।"

कुँवर श्याम घराने के गुणी गायक पं. लक्ष्मण प्रसाद की गायन-शिक्षा बताते हुए पं. गोविन्द प्रसाद ने बताया कि "शिक्षा राग बिलावल से शुरू होती है और इसमें पहले मध्य लय में और बाद में द्रुत में शिक्षा दी जाती है। इसी में तानों का रियाज करवाया जाता है। इसके पश्चात् विलम्बित की शिक्षा आरम्भ होती है। इसी के अन्तर्गत, मात्राएँ भरने और बोल-आलाप का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके पश्चात् कण लेने, बारीक क्रियाओं, मीड़, गमक, मुरकी, सपाट आदि का अभ्यास कराया जाता है। यह सध जाने पर लय के दर्जे समझाए जाते हैं और खयाल गायकी का विशद् रूप बताकर समझाया जाता है। सम्पूर्ण राग की छवि इस पूरी प्रक्रिया से उभरती है। इस अभ्यास से ही शिक्षार्थी में सृजनात्मक क्षमता जाग्रत होती है और उपज का काम करने के लिए वह स्वतः प्रेरित होता है, गुरू के मार्गदर्शन पर। शिक्षार्थी के लिए आवश्यक है कि वह तानपूरा मिलाए और गायन में गुरू का अनुसरण करे। इस

निष्ठापूर्ण प्रवृत्ति से ही सृजनात्मक प्रवृत्ति जाग्रत होती है। रियाज आरम्भ में आधा घण्टा, फिर पौन घण्टा और फिर नियमित रूप से डेढ़ घण्टा होना चाहिए। अलंकारों का रियाज भी आधा अथवा एक घण्टा नियमित होना चाहिए। निरन्तर बारह घण्टे रियाज से गला फट जाता है। वस्तुतः इस उदात्त कला के लिए बौद्धिक विकास तथा दृष्टि मिलने का महत्व है, और साथ ही सौन्दर्य तत्व का भी।"

स्व. पं. गोविन्द प्रसाद ने अभ्यास के सिद्धान्त के नियम बनाए, जो इस प्रकार है:

ठहराव= सा रे ग म प ध नि सां। एक-एक स्वर पर पाँच से दस मिनट तक-दस-पन्द्रह सेकेण्ड की ठहराव-क्रिया। आरम्भ में मन्द्र के पंचम तक और तार के गांधार तक।

=सारे, साग, साग, साप, साध, सानि, सासां। सांनि, सांध, सांप, सांम, सांग, सांरे, सांसा।

=सारेरेरे, सागगग, साममम, सापपप, साध धध, सानिनिनि (अंतिम दो स्वर 'आ' कार में)।

=सांनि, सांनि, सांध, सांध, सांप, सांम, सांम, सांग, सांग, सांर, सारे, सांसा।

=साप, रेध, गनि, मसां। सांम, निग, धरे, पसा।

=सारे गम प, सा प; रेग मंप ध, रे ध; आदि।

=सा सां नि ध प म ग रे सा

रे सां नि ध प म ग रे सा

ग सां नि ध प म ग रे सा

म सां नि ध प म ग रे सा

प सां नि ध प म ग रे सा

ध सां नि ध प म ग रे सा

नि सां नि ध प म ग रे सा

सां सां नि ध प म ग रे सा

मीड़-गसा, मरे, पग, धम, निप, सांध, सासा, सांसा।

सां. . ., सां नि ध नि सां, सां नि ध प ध नि सां, सां नि ध प म प ध नि सां, सां नि ध प म ग मं प ध नि सां, सां नि ध प म ग रे ग म प ध नि सां, सां नि ध प म ग रे सा रे ग म प ध नि सां।

ठाठ

बिलावल- सा रे ग म प ध नि सां

कल्याण- सा रे ग मं प ध नि सां

खमाज- सा रे ग म प ध नि सां

काफी- सा रे ग म प ध नि सां

आसावरी- सा रे ग म प ध नि सां

भैरवी- सा रे ग म प ध नि सां

भैरव- सा र ग म प ध नि सां

पूर्वी- सा र ग मं प ध नि सां

तोड़ी- सा रे ग म प ध नि सां

मारवा- सा रे ग मं प ध नि सां

इनका अभ्यास इस प्रकार होगा:

आरोह में बिलावल, अवरोह में कल्याण

आरोह में कल्याण, अवरोह में खमाज

आरोह में खमाज, अवरोह में काफी

आरोह में काफी, अवरोह में आसावरी

आरोह में आसावारी, अवरोह में भैरवी

आरोह में भैरवी, अवरोह मे भैरव

आरोह में भैरव, अवरोह में पूर्वी

आरोह में पूर्वी, अवरोह में तोड़ी

आरोह में तोड़ी, अवरोह में मारवा

ताल का अभ्यास ताली देकरः

दादरा ताल में पलटाः सा ग .ए रे म .ए ग प, .ए म ध .ए प नि .ए ध सां .।

कहरवा ताल में पलटाः सा ग म ग, रे म म म, ग प प प, म ध ध ध, प नि नि नि, ध सां सां सां।

रूपक ताल में पलटाः सा रे ग। सा सा। रे सा।। रे ग म। रे रे । ग रे।

झपताल में पलटा : सा रे। ग म प। म ग। ग रे सा।

एकताल में पलटा : सा रे । ग रे। ग म। रे ग । म ग। रे सा।

तीन ताल में पलटाः सा रे ग म । म ग रे सा

इसमें ताली उसी प्रकार रहेगी, पर पलटों की लय बदलेगीः

सा. -: विलम्बित

सा. रे. :बराबर

सा. रेग : आड़ी या तिगुन

सारे गम : दुगुन

सारे गमप : सवाई

सारेग मपध : ड्योढ़ी

सारेग मपधनिः पौने दुगुनी

सारेगम पधनिसां : चौगुन

सारेगम पधनिसारेंः संकीर्ण

पं. गोविन्द प्रसाद की मान्यता रही कि "ठाठों के अभ्यास के समान ही अलंकारों और ताली के साथ तालों के निरन्तर अभ्यास से शिक्षार्थी का सांगीतिक आधार पुष्ट होता है और वह किसी का गायन सुनकर छन्द के अनुसार स्वरलिपि लिख सकता है। गायन-प्रस्तुति की सामर्थ्य तो जाग्रत होती है। इस प्रकार का पाठ्यक्रम छह माह का है, फिर भी यह छात्र की निष्ठा, लगन एवं साधना पर निर्भर है।"

पं. यशवन्त बुवा जोशी के मतानुसार :-

गायानाचार्य पं. यशवन्त सदाशिव पण्डित 'मिराशी बुवा' के शिष्य गायक **'पं. यशवन्त बुवा जोशी'** ने कहा कि "यह गले का गाना नहीं है, आवाज नाभि से उठनी चाहिए। इसी दृष्टि से 'आ' कार का अभ्यास ही प्रथम और मुख्य है। जहाँ तक आवाज जाती है, जैसी तारता है, 'आ' कार का अभ्यास होना चाहिए। उन्होंने कहा कि केवल 'आ' करने से आवाज फट जाती है, अतः स्थायी के साथ जो 'अ', 'आ', 'ई' आदि मिलते हैं, उससे रंग भरता है।" उन्होंनें कहा कि "आजकल आधार नहीं, स्थायी नहीं, शब्द स्पष्ट नहीं; घण्टे भर के गायन के बाद भी पता नहीं चलता कि क्या गा रहे हैं। आज तैयारी है, पर बंदिश वाले कम है। अतः बंदिश के महत्व को समझकर अभ्यास अधिक हितकर है।"

पं. यशवन्त बुवा ने कहा कि "ताल के खण्ड समझना चाहिए और लय-बाँट के साथ समुचित मेल होना चाहिए। खण्ड के वजन को सँभालना आवश्यक है। स्थायी-अन्तरा गाना ही सच्ची कसौटी है।"

उन्होंने कहा कि "खरज (मन्द्र 'सा') भरना पुरानी पद्धति है। गले के धर्म के अनुसार यह क्रिया की जाती हैं इसमें किसी प्रकार का धक्का नहीं लगना चाहिए, यानी सहज संचरण होना चाहिए। बुजुर्गों का कहना है कि तीन वर्ष तक खरज भरने से आवाज परिष्कृत हो सकती है, किन्तु खरज लगाने में जबरदस्ती नहीं करनी चाहिए। केवल 'आ' कार से मेहनत नहीं करनी चाहिए, किन्तु चीज के शब्दों के साथ अभ्यास हितकारक हैं चीज की बार-बार आवृत्ति का महत्व है। आवाज में एक

प्रकार अनुरणन होना चाहिए, प्रतिध्वनि नहीं। मन्द्र 'प' से तार 'प' तक सहज संचरण पर्याप्त है।"

पं. यशवन्त बुवा ने कहा कि "चीज का पाठ आवश्यक है। वस्तुतः होता क्या है कि सुर मालूम है, पर साहित्य याद नहीं। इसी दृष्टि से साहित्य-पाठ का महत्व है।

अभ्यास की उपयोगिता एवं महत्ता को वर्णित करते हुए जैसा कि संत कवि **'कबीरदास'** ने कहा है :-

"करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान
रसरी आवत-जात के, सिल पर पड़त निसान।।"

अर्थात् अभ्यास के फलस्वरूप साधक की गिनती 'सुजान' के रूप में होने लगती है। यह सर्वथा सत्य और याद रखने वाली बात है, अतः रियाज साधन रूपी महामंत्र है। अतः उपरोक्त विविध संगीतज्ञों के रियाज (अभ्यास, साधना) की प्रणाली के सन्दर्भ में विभिन्न मत होते हुए भी इसकी उपयोगिता सर्वमान्य है।

मुख्य शब्द-

प्रशिक्षणार्थी

साधक

समग्र

सम्यक्

मेरूखण्ड

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. मिश्र, डॉ. गीता- संगीतिका, शंकर प्रकाशन, कानपुर-208012, प्रथम संस्करण
2. बहोरे, रवीन्द्र नाथ- भारतीय संगीत विमर्श, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी नई दिल्ली-110015, प्रथम संस्करणः 2005

पत्रिकायें:-

1. संगीत- संगीत कार्यालय हाथरस 204101 (उ.प्र.), फरवरी 2007
2. संगीत कला विहार- अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल, मिरज-416410 (महा.) अक्टूबर 2013

संगीत शिक्षण एवं संगीत शिक्षण की समस्यायें

डॉ. रामशंकर

शिक्षा मानव की सर्वांगीण उन्नति का एक ऐसा आधार है, जो उसके व्यक्तित्व के विकास का कारण बनती है। 'शिक्ष' धातु विद्योपादान अर्थ में प्रयुक्त होती है। अतः शिक्षा शब्द संस्कृत की 'शास्' धातु से बना है जिसका अर्थ है शिक्षा देना, निर्देश देना, आज्ञा देना। **''शिक्ष्यते उपदिश्यते यत्र सा शिक्षा''** अर्थात् जिस माध्यम अथवा प्रणाली से शिक्षा दी जाती है उसे शिक्षा कहते हैं। शिक्षा का अंग्रजी अनुवाद 'EDUCATION' है। यह शब्द लैटिन भाषा के 'EDUCARE' से निकला है जिसका अर्थ है 'विकसित करना' अथवा 'निकालना'। सामान्य रूप से शिक्षा का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जो व्यक्ति के शरीर, मन तथा आत्मा का सर्वांगीण विकास करे, जो मनुष्य को आत्मविश्वासी व स्वार्थहीन बनाए तथा व्यक्ति के जन्मजात गुणों एवं प्रतिभा को उसके व्यक्तित्व में प्रकाशित कर सके।

'मनुस्मृति' में कहा गया है कि- 'विद्ययाम तमस्तुते' (मनुस्मृति 12.104), ज्ञान अर्जित करना 'विद्या', किसी दूसरे व्यक्ति को ज्ञान देना 'शिक्षा' वह विशिष्ट विधि जो शिक्षा देने के लिए प्रयुक्त की जाए वही 'शिक्षा प्रणाली' है। शिक्षा का अर्थ केवल पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करना नहीं वरन् स्वतंत्र विचारशीलता से युक्त व्यक्तित्व का युक्त विकास है।

शिक्षा मानद के सम्यक विकास का आधार है। सामान्य शिक्षा मानसिक विकास की दृष्टि से तथा ललित कलाओं की शिक्षा मानसिक एवं आत्मिक शक्तियों के परिष्कार की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। ललित कलाओं में लालित्य एवं परतत्वविषयक सामग्री निहित होने के कारण इन्हें स्वतंत्र कलाएं माना गया। संगीत को इन कलाओं में सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

संगीत शिक्षण प्राचीन काल से ही भारतीय शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। प्राचीन शिक्षा ग्रन्थों में इस बात के प्रचुर प्रमाण हैं कि प्राचीन काल में संगीत शिक्षण अपने चरमोत्कर्ष पर था। यह विषय राष्ट्रीय सम्मान का विषय माना जाता था। संम्भ्रांत व्यक्ति एवं विशिष्ट वर्ग भी इसमें पूरी रूचि लेते थे, संगीत शिक्षकों एवं संगीतज्ञों को राज्याश्रय प्राप्त था। उनकी आर्थिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति का बोझ राज्य वहन करता था। अतः वे पूर्ण रूप से कला के लिए समर्पित होकर उच्चतम ज्ञान प्राप्त करके शिष्य वर्ग को पूरी लगन एवं समर्पण की भावना से शिक्षा प्रदान करते थे। शिष्य वर्ग श्रद्धा, लगन, त्याग एवं जिज्ञासा से संगीत शिक्षा प्राप्त करते थे।

कालान्तर में सामान्य शिक्षा पद्धति में अन्तर आ जाने से संगीत शिक्षा पद्धति भी प्रभावित हुई। गुरूकुल व्यवस्था से निकल कर संगीत शिक्षा घरानों के रूप में विकसित हुई। यद्यपि आरम्भ में संगीत का घरानों के रूप में विकसित होना संगीत की विशिष्टताओं को सुरक्षित रखने का कारण ही था, परन्तु घरानों की संकुचित मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप संगीत शिक्षा का विषय कुछ व्यक्ति विशेष के लिए ही रह गया तथा जनसाधारण के लिए यह विषय दुर्लभ हो गया।

स्वातन्त्रयोत्तर काल में शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ संगीत शिक्षा का प्रसार भी हुआ और

असिस्टेंट प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, बी.एच.यू., वाराणसी

संगीत को पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर शिक्षा का एक विषय बनाया गया। संगीत शिक्षण एक जटिल एवं कठिन प्रक्रिया है। आज के युग में संगीत विद्यालय और विश्वविद्यालयों में अन्य विषयों की भाँति एक महत्वपूर्ण विषय है फिर भी यह विषय की अपेक्षा एक कला है वह भी पूर्ण व्यवहारिक जिसे आत्मसात् करने के लिए स्थूल माध्यम नहीं अपितु 'नाद' जैसे सूक्ष्म् माध्यम की आवश्यकता होती है। जिन्हें मात्रा अनुभूत किया जा सकता है, फिर भी भारतीय संगीत मूल रूप से कल्पना प्रधान है जिसे समझने और सीखने के लिए गुरू-शिष्य का आमने-सामने होना अति आवश्यक है।

अनुभव बताता है कि संगीत एक योग विद्या है, जिसे नित्य निरन्तर गुरू की सीना ब सीना आमने-सामने वाली तालीम की जरूरत है। तब शिष्य स्वयं इस विद्या के गुण सीख लेता है इसलिए आदिकाल से भारतीय संगीत को 'गुरूमुखी' विद्या कहा गया है। गुरू के बैठने का ढंग, स्वरोच्चार का तरीका, श्वांस भरने की क्रिया, विभिन्न स्वर-ताल और श्रुतियों के अन्दाज आदि इस कला के अभ्यास के आ ही नही सकते हैं।

यही कारण है कि भारतीय संगीत आज तक गुरू शिष्य परम्परा के रूप में मौखिक रूप से चलता आ रहा है। संगीत की इस कंठ दर कंठ की मौखिक परम्परा में यद्यपि कुछ कमियाँ हैं फिर भी इस परम्परा की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता है क्योंकि गुरू शिष्य की परम्परा ने ही संगीत के विभिन्न घरानों और सम्प्रदायों को जन्म दिया जिसमें संगीत की सच्ची तालीम दृष्टिगत् हुई। गायकों ने अपनी-अपनी तकनीक से गायकी के स्वरूप को सवाँरा, अपने शिष्यों में स्वरों का सच्चा स्वरूप कायम किया। परिणामतः भारतीय संगीत में एक अनूठा और अनोखा रूप उदय हुआ और ये अधिकांशतः घरानों के परकोटे में ही हुआ जिसमें गुरूओं ने धैर्यपूर्वक निरन्तर रियाज के द्वारा शिष्यों के भीतर संगीत की रूह को पैदा किया और सुर व लय के चमत्कार से अग्नि बुझाना एवं वर्षा करना जैसी चमत्कारपूर्ण घटनाओं को कर दिखाया। इससे स्पष्ट है कि भारतीय शास्त्रीय संगीत में मूल रूप से अभ्यास करने एवं करवाने की प्रवृत्ति मुख्य है। अभ्यास को साधना के समान कर उसे सिद्ध करके तब कलाकार को कला में महारथ हासिल होती है।

संगीत के चाहे जितने भी घराने या सम्प्रदाय रहे हों और उनकी शिक्षण विधि का चाहे जो तरीका रहा हो परन्तु नियमित अभ्यास, निरंतर रियाज करना सभी घरानों की मूल तालीम रही है। परन्तु आज के युग में जबकि संगीत का प्रचार-प्रसार प्राचीन एवं मध्यकाल की अपेक्षा कहीं अधिक है। इलेक्ट्रानिक्स एवं मीडिया उपकरणों ने संगीत में अपरिमित दिशायें खोल दी हैं। यही नहीं संगीत वर्ग-विशेष तक सीमित न रहकर आम जनता का हो चुका है इसलिए छोटी सी शिशु कक्षा से लेकर विद्यालय और विश्वविद्यालय तक इसका प्रसार हो रहा है फिर भी भारतीय संगीत की जो सच्ची तसवीस होनी चाहिए वह आज दृष्टिगत नहीं हो रही है उसके कुछ कारण हैं जो अनुमानतः निम्न हैं-

1- आज संगीत के वे घराने या सम्प्रदाय नहीं हैं जिनमें इसकी सही तालीम की व्यवस्था हो, बल्कि संगीत शिक्षण का केन्द्र विद्यालय और विश्वविद्यालय के कक्ष हैं। जहाँ पर सारिणी के अनुसार अन्य विषयों की भाँति संगीत शिक्षा के लिए भी मात्र 40-45 मिनट का समय निर्धारित होता है, उसमें भी स्नातक स्तर पर लगभग 30-35 और कहीं-कहीं 40-45 तक संगीत विद्यार्थी होते हैं। इतने कम समय में अधिक विद्यार्थियों को संगीत शिक्षा देना ही अपने में एक अहम समस्या है। संगीत एक ऐसा विाय है कि 3-4 शिष्यों को एक गुरू लगातार जब तक 3-4 घण्टे नियमित अभ्यास नहीं कराता तब तक इस कला का स्वरूप विद्यार्थी के अन्दर आ ही नही सकता। अतएव आज के संगीत शिक्षण की सर्वाधिक समस्या 'समयाभाव'।

2- नियमित रियाज की प्रवृत्ति का अभाव आज के वैज्ञानिक युग की यह प्रवृत्ति हो चुकी है कि कम से कम समय व परिश्रम से अधिक से अधिक की प्राप्ति। यही भाव आज के विद्यार्थियों का भी है। एक आध विद्यार्थी

को छोड़कर अधिकांशः विद्यार्थी चाहते हैं कि संगीत में थोड़ा बहुत गुनगुना लेने पर परीक्षा में सर्वाधिक अंक की प्राप्ति। अतएव नियमित अभ्यास की कमी भी इस विषय के शिक्षण के लिए एक समस्या है।

3- संगीत की तालीम में गुरू और शिष्य का परस्पर आत्मीय सम्बन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है जिसका आज सर्वधा अभाव है। न तो शिष्य गुरू पर श्रद्धा करता है और न ही गुरू शिष्य पर इतना लगाव रखता है। जब तक गुरू शिष्य में पिता पुत्र जैसा आत्मिक सम्बन्ध नहीं होगा तब तक इस विद्या का सही आदान-प्रदान नहीं हो पायेगा। परिणामतः संगीत की सच्ची रूह पैदा नहीं की जा सकती है।

4- संगीत को कला या योग विद्या न मानकर इसका आकलन अन्य विषयों हिन्दी, अंग्रेजी आदि की तरह किया जाता है, जो विषय की सही शिक्षा के लिए एक बड़ी अड़चन है। इसलिए स्नातक और स्नात्तकोत्तर स्तर पर विद्यार्थी इसका अध्ययन अन्य विषयों की भाँति करते हैं, परिणाम यह होता है कि एक दो विद्यार्थी को छोड़कर अधिकांश विद्यार्थीयों के अन्दर संगीत कला का सही आकार नहीं बन पाता और इसीलिए उन्हें इस कला से प्रीति नहीं होती और उनकी प्रतिभा का सही Musical development नहीं होता।

5- योग्य गुरूओं का चयन न होना भी इसकी शिक्षा नें एक समस्या है। अधिकतर सिफारिशी संगीत शिक्षकों की भर्ती के कारण भी इस कला का विकास विद्यालय और विश्वविद्यालय के स्तर पर नहीं हो पाता। जब गुरू ही योग्य नहीं होगा तो वह संगीत की स्वस्थ्य परम्परा का निर्माण कैसे कर सकता है? अतएव गुरू को शास्त्र और व्यवहारिक ज्ञान में निपुण होना चाहिए। यही नहीं परीक्षा आदि में सच्चे निर्णायकों के निर्णय का अभाव भी एक समस्या है, सही निर्णय न होने का चाहे जो भी कारण हो।

संगीत के क्षेत्र में अनुसन्धान आज के संगीत शिक्षा के क्षेत्र की गम्भीर मांग है। इसी के माध्यम से संगीत शिक्षा की कई समस्याओं का हल ढूंढने में हम समर्थ हो पायेंगे। विश्वविद्यालयों में शोधकार्य के लिए उपयुक्त वातावरण, सामग्री एवं सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिए, जिनसे स्तरीय शोधकार्यों का प्रस्तुतिकरण हो सके।

उपरोक्त सभी बिन्दु संगीत की सही तालीम में बहुत बड़ी समस्याएं हैं, जिसके कारण संगीत के गुरू और शिष्य दोनों में ही एक प्रकार का मानसिक तनाव रहता है। सही तरीका यही है कि हम सभी संगीत प्रेमियों को बहुत कुशलता व सूझबूझ से मनोवैज्ञानिक तरीके से इन समस्याओं का निराकरण करना चाहिए।

सुझाव- भारतीय संगीत का जितना अधिक विकास घरानों एवं गुरू शिष्य प्रणाली में हुआ संभवतः और कहीं नहीं हुआ, यह बात दूसरी है कि घरानों में आकर संगीत कुछ वर्ग विशिष्ट में सिमट गया था। पर इस बात से नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता कि संगीत की सच्ची रूह चौतरफा विकास घरानों एवं गुरू शिष्य प्रणाली में ही हुआ। चूंकि आज घराने कहीं नहीं रहे, फिर भी संगीत के शौकीन प्रेमियों और गुरूजनों की संख्या तो अपेक्षाकृत अधिक हो गई है अतएव विद्यालय एवं विश्वविद्यालयों को ही यदि संगीत घरानों के रूप में मानकर इस कला की सही तालीम बच्चों को दी जाए तो इसमें सन्देह नहीं कि संगीत की यह धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहेगी अतः संगीत के शिक्षण में ही हमें सुधार करना आवश्यक है।

1- संगीत गुरू व अध्यापकों का चयन बड़ी सूझबूझ से होना चाहिए, उसे अपनी कला में निष्णात् तथा पारखी होना चाहिए। साथ ही उनकी प्रवृत्ति स्वतः परिश्रम करने व करवाने की होनी चाहिए तभी वह शिष्यों के साथ परिश्रम करवा सकता है।

2- गुरू व शिष्य में परस्पर सौहार्द भाव आवश्यक है। गुरू को भी निष्पक्ष होना चाहिए तथा

जो विद्यार्थी वास्तव में इस कला के प्रति श्रद्धा-भाव तथा स्नेह रखते हों उन्हें अपनी कला प्रतिभा को निखारने का पूरा-पूरा अवसर मिलना चाहिए।

3- स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर पर संगीत विद्यार्थियों का सही चयन करने के बाद ही इस विषय को देना चाहिए।

4- विद्यालय और विश्वविद्यालय से सम्बन्धित अधिकारियों का ध्यान भी पूर्ण रूप से संगीत शिक्षकों की समस्याओं पर जाना चाहिए, उनको आर्थिक रूप से सहायता करना तथा उनके निर्णय का सहृदयता से स्वागत करना चाहिए जिससे संगीत गुरूजन भी अपने में विश्वसनीय एवं सबल हो सके। अपनी सही मान्यताओं तथा विचारों को समझा सकें और नियमित होकर अपना समय व शक्ति इस विद्या के विकास में लगा सकें।

5- विश्वविद्यालय की समय सारिणी के अनुसार 40-45 मिनट के समय में इस विद्या को गुरू द्वारा अपने शिष्यों के कंठ व दिमाग में उतारना सम्भव नहीं है अतएव विद्यालय तथा विश्वविद्यालय के समय के अतिरिक्त इस विषय के लिए और अधिक समय देना आवश्यक है जिससे विद्यालय एवं विश्वविद्यालय भी एक घराने के रूप में प्रतिष्ठित होकर अधिक से अधिक शैलियों एवं संगीत कलाकारों को जन्म दे सकें, जो संगीत कला के विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है।

अतः संगीत शिक्षा को व्यवस्थित रूप देने के लिए शैक्षणिक सिद्धान्तों, प्रविधियों एवं प्रणालियों का निर्धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। विद्वानों द्वारा सामान्य शिक्षा के सन्दर्भ में जिन प्रविधियों तथा प्रणालियों का निर्धारण किया गया है वह सम्भवतः संगीत के दृष्टिकोंण में निर्मित नहीं की गई परन्तु आधुनिक सन्दर्भ में जब संगीत को अन्य विषयों के समान ही मान्यता प्राप्त है तथा वह एक उपयोगी विषय के रूप में स्थापित किया गया है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि संगीत के क्रियात्मक तथा रंजनात्मक पक्ष की सीमा को ध्यान में रखते हुए तथा सामूहिक शिक्षण व वैयक्तिक शिक्षण के गुणों का सामन्जस्य स्थापित करते हुए उपयुक्त शैक्षणिक प्राविधियों व प्रणालियों का प्रयोग संगीत शिक्षण के सन्दर्भ में किया जाए। संगीत के विषद् विश्लेषण की दृष्टि से, बहुमुखी विकास की दृष्टि से तथा संगीत शिक्षार्थियों के कला कौशल का पूर्ण प्रयोग करने की दृष्टि से, सांस्कृतिक धरोहर को और उन्नत बनाने की दृष्टि, संगीत को राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्य विषयों के समान सारगर्भित बनाने की दृष्टि से इन नवीन शैक्षणिक प्राविधियों की अनुकूलता निश्चित रूप से अपेक्षित है।

संगीत के क्षेत्र में अनुसंधान आज के संगीत शिक्षा के क्षेत्र की गम्भीर मांग है। इसी के माध्यम से संगीत शिक्षा की कई समस्याओं का हल ढूंढने में हम समर्थ हो पायेंगे। विश्वविद्यालयों में शोधकार्य के लिए उपयुक्त वातावरण, सामग्री एवं सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिए, जिनसे स्तरीय शोधकार्य का प्रस्तुतिकरण हो सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1- भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर, डॉ. मधुबाला सक्सेना, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़

2- संगीत एवं शोध प्रविधि, डॉ. मनोरमा शर्मा

3- संगीत मासिक पत्रिका, संगीत कार्यालय हाथरस

4- पं. रामाश्रय झां जी से चर्चा से प्राप्त प्रसंग

वर्तमान समय में उच्च शिक्षा संस्थानों की स्थिति

डॉ. जतिंदर कौर

संगीत एक कोमल कला है। संगीत कला भारतीय संस्कृति की आत्मा है। भारतीय संगीत के उद्भव एवं आदि काल से ही संगीत इसका एक अभिन्न अंग रहा है। वर्तमान समय की व्यस्त, तनाव-युक्त एवं प्रतियोगी सामाजिक परिस्थितियों में संगीत ही एक ऐसी कला है जो मानव के आहत मन एवं आत्मा को क्षण भर के लिए ही सही शान्ति एवं सुख प्रदान करती है। आधुनिक समय में संगीत को साधना के साथ-साथ एक संस्थागत शैक्षणिक विषय का रूप दे दिया गया है। संगीत की शिक्षा का शैक्षिण, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक महत्व है।

संगीत का संस्थागत शिक्षण दो प्रकार की संस्थाओं के माध्यम से होता है- एक तो केवल संगीत की शिक्षा देने वाली और दूसरी अन्य विषयों के साथ संगीत की शिक्षा देने वाली संस्थाएं। वर्तमान समय में उच्च शिक्षा संस्थानों की स्थिति कुछ ज्यादा अच्छी नहीं है। हमारी शिक्षण प्रणाली में अनेकों ऐसी समस्याएं है जो संगीत के विकास में बाधक सिद्ध हो रही है। हमारे सन्त फकीरों ने अपने प्रयासों द्वारा इसे पुनः मोक्ष प्राप्ति का साधन बनाया। विद्वानों ने इसे एक ऐच्छिक विषय के रूप में लगवा कर हम पर जो कृपा की है अगर हम इसकी रक्षा नहीं करेंगे तो यह संगीत केवल मनोरंजन का साधन ही बन कर रहा जाएगा।

आज का युग वैज्ञानिक युग है। हर इन्सान विज्ञान की दौड़ में आगे बढ़ता नजर आ रहा है। वहां संगीत भी किसी से पीछे नहीं रहा। आज संगीत मानव की जरूरत बन गया है। परन्तु इसकी साधना म वो बात कम होती जा रही है जो पहले थी। अगर हम अपनी शिक्षण संस्थाओं पर ही नजर डाले तो समस्याएं ही समस्याएं नजर आएगी।

संगीत शिक्षा के उत्तरदायीं मुख्य रूप से शिक्षक एवं गौण रुप से शासक वर्ग तथा अभिभावक है। संगीत शिक्षक (संगीत शिक्षा प्राप्त करने के बाद) साधना की ओर से उदासीन हो जाते हैं। उनका उद्देश्य केवल धनोपार्जन व मान पद प्राप्त करना ही रहता है। यह संगीत शिक्षक की बड़ी भूल है। अच्छी शिक्षा देने का ढंग भी सभी व्यक्तियों को नही आता। शिक्षक के कुछ गुण स्वाभाविक होते हैं कुछ अर्जित किए जाते है।

एक तरफ तो शिक्षक खुद साधना से दूर भागता है दूसरी ओर उसे दुनिया भर के संगीत का ज्ञाता समझ लिया जाता है। जबकि संगीत में भी अनेक क्षेत्र प्रकार एवं शैलियां होती है। जैसे भारतीय संगीत एवं पश्चिमी संगीत। भारतीय संगीत के भी अलग-अलग क्षेत्र है। उत्तरी एवं दक्षिणी इनके तीन प्रकार है गायन वादन और नृत्य इनके भी तीन तीन उपप्रकार है शास्त्रीय संगीत सरल संगीत एवं लोक संगीत। इन उपप्रकारों की शैलियां अलग-अलग घराना अनुसार थोडे बहुत फर्क के साथ गाई एवं बजाई जाती है यह सारा कुछ एक योजना बद्ध ढ़ंग से राग और लय में होता है। फिर बताइये क्या यह कला विज्ञान क्षेत्र से आसान या अनविकसित है?

क्या कभी किसी संस्था प्रमुख ने किसी फिजिक्स वाले शिक्षक का केमिस्ट्री पढ़ाने का आदेश दिया है। संगीत के शिक्षकों के साथ ये जोर जबरदस्ती क्यों?

एसोसिऐट प्रोफेसर, संगीत गायन विभाग, खालसा कालेज फोर वूमैन, अमृतसर

संगीत के शिक्षक से संगीत सम्बन्धी हर एक तरह का आइटम तैयार करवाने के लिए कहा ही नहीं जाता बल्कि जोर भी डाला जाता है और हमारे संगीत शिक्षक दुखी होकर कई सालों तक अपने काम में जुटे रहते हैं और हमेशा काम के बोझ तले दबे रहते है। जिस कारण वो असली काम विद्यार्थियों को पाठ्यक्रम पूरा करवाने का पीछे छोड़ देते हैं। इसी कारण अध्यापकों ने अपने बच्चों को संगीत की शिक्षा देने की बजाए साईंस या अन्य विषय पढ़ाना शुरू कर दिया है। हमारे स्कूल कॉलेजों में संगीत के विद्यार्थियों की गिनती कम होती जा रही है। यह बहुत निराशाजनक स्थिति है। यही कारण है कि प्रवीण संगीत अध्यापकों की कमी महसूस हो रही है। यही कारण है कि अनेक विद्यालयों के संगीत विभागों की हालत बहुत खराब चल रही है। यह बड़े दुख का विषय है।

संगीत शिक्षकों का प्रशिक्षण अनिवार्य आवश्यकता है। इसी पर वर्तमान संगीत शिक्षा प्रणाली की सफलता निर्भर करती है। अभी ऐसे शिक्षकों की जरूरत है जो योग्य, लचीले, सृजनशील जिज्ञासा वृत्ति से मुक्त खुले विचारों वाले हों, जिनमें अभिन्न संगीत पद्धतियों का ज्ञान और उत्सुकता हो, जो निरन्तर सीखने की वृति रखते है। जिनमें अन्य कलाओं और विषयों का इतना ज्ञान हो जिससे वे उनके साथ संगीत का सम्बन्ध स्थापित करके नए आयामों को जन्म दे सकें और जो नए विचारों को ग्रहण करने और उपयोग करने के लिए सदा तत्पर रहते हो।

संगीत शिक्षा को जन सुलभ बनाने के प्रयत्न के फलस्वरूप विद्यार्थियों की संख्या के अनुपात में योग्य शिक्षकों की कमी आज भी अनुभव की जा रही है। पं. भातखण्डे ने समकालीन शिक्षा प्रणाली का वर्णन करते हुए कहा है कि हमारा आधुनिक संगीत अशिक्षित जनों के हाथ में है। भले ही इस बात को 70-80 वर्षों के लगभग हो गए हैं परन्तु संगीत की वह स्थिति आज भी किसी न किसी अंश में जरूर विद्यमान है। कुछ प्रतिभावान व्यक्ति ऐसे भी हैं जिनको उचित स्थान न मिल पाने के कारण संगीत की हानि हो रही है जबकि कुछ ऐसे व्यक्तियों को उच्च स्थान प्राप्त है जो इसके काबिल नहीं है। अतः इस प्रकार की अनियमितताएं विभिन्न समस्याओं के जन्म का कारण बनती है। इनका निराकरण संगीत के उज्जवल भविष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

पाठ्यक्रम

यदि पाठ्यक्रम सम्बन्धी समस्याओं का अवलोकन किया जाए तो ज्ञात होता है कि उच्चतर माध्यमिक स्तर से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक पाठ्यक्रमों में विभिन्न अनियमितताएं व्याप्त है। एकल गायन वादन से सम्बन्धित जो पाठ्यक्रम संगीत शिक्षण संस्थाओं में चल रहे हैं वे अनेक समस्याओं के जन्म का कारण बन रहे हैं। जैसे राग तथा ताल आदि की संख्या पर अधिक बल होने के कारण अपर्याप्त और सीमित समय में ही पाठ्यक्रम से पूरा करना पड़ता है।

पाठ्यक्रम बनाते समय छात्रों की रुचि उनका स्तर एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम छात्रों की बौद्धिक क्षमता के अनुरूप ही बनाना चाहिए। क्रियात्मक पाठ्यक्रमों का विभिन्न स्वरों के अनुरूप क्रिया व सिद्धान्त के क्रमबद्ध और सन्तुलित पाठ्यक्रमों के रूप में पुनर्गठन होना आवश्यक है। आज का संगीत विद्यार्थी पाठ्यक्रम के बोझ तले दबता जा रहा है।

शास्त्रीय एवं क्रियात्मक पक्ष की अधिकता तथा भावात्मक पक्ष की कमी के कारण संगीत नीरस हो गया है जो संगीत की सबसे बड़ी कमी है।

योग्य विद्यार्थियों का चयन

भारत में अनेक विश्व विद्यालय है तथा उनमें प्रवेश देने के नियम व वांछित योग्यता भी अलग-अलग है। कुछ विश्वविद्यालयों में यह प्रावधान है कि कोई भी विद्यार्थी बिना किसी पूर्ण संगीत शिक्षण के संगीत विषय को अन्य विषयों के समान ही ऐच्छिक विषय के रूप में चुन सकता है और कुछ विश्वविद्यालयों में उच्चतर व माध्यमिक कक्षाओं में संगीत की योग्यता सिद्ध करने के पश्चात् ही स्नातक स्तर पर संगीत विषय लेने की अनुमति होती है।

पूर्ण प्रशिक्षण के बिना विद्यार्था को संगीत विषय लेने की अनुमति देना उचित नहीं है। कुछ विश्वविद्यालयों में तो स्नातक स्तर पर संगीत विषय का पढ़े जाने पर भी स्नातकोतर स्तर पर दाखिला दे दिया जाता है और कहीं संख्या पूरी करने के लिए जबरदस्ती अयोग्य विद्यार्थियों का चयन कर लिया जाता है। कभी स्वयं ही विद्यार्थी इसे एक आसान और ज्यादा अंक दिलवाने वाला विषय समझ कर ले लेते है। कहीं अयोग्य शिक्षक और कहीं अयोग्य विद्यार्थियों के कारण संगीत का पूर्ण विकास नही हो पा रहा है। संगीत संस्थाओं या विद्यालयों में संगीत के विद्यार्थियों की संख्या निश्चित होनी चाहिए ताकि शिक्षण सुगम और सरल ढंग से चलता रहे। छात्रों के साथ-साथ संगीत शिक्षकों को भी संख्या निश्चित होनी चाहिए। छात्रों को केवल उपाधि प्राप्त करने के लिए अध्ययन नहीं करना चाहिए बल्कि विषय का गहन अध्ययन करके अपने विषय ज्ञान में वृद्धि करना परम उद्देश्य होना चाहिए।

हमारे शिक्षण संस्थाओं में हमें पूरी सुविधाएं भी उपलब्ध नहीं करवाई जाती। कुछ संस्थाओं में तो अच्छे साज भी नहीं होते और कुछ संस्थाओं में तबला वादक भी नहीं होते। शिक्षक वेचारा अकेला ही बच्चों को सिखाता रहता है और जब कोई प्रोग्राम या युवक मेला होता है तो कुछ पैसे खर्च करके एक तबले वाला आयोजित कर दिया जाता है। हमारी संस्थाओं को चाहिए कि वो इस ओर ध्यान दें। गायन वादन एवं नृत्य के अलग-अलग कक्ष एवं अलग-अलग शिक्षक होने चाहिए पूरी तरह से वाद्यों का आयोजन होना चाहिए।

संगीत मुख्यतः क्रियात्मक विषय है, अतः इसकी शिक्षा व्यक्तिगत गुणों पर आधारित होती है। संगीत एक रंजक कला है जो केवल गुरुमुख से ही प्राप्त होती है। अतः इस विद्या को प्राप्त करना अति दुर्लभ होता है। ईश्वर का अनुग्रह होने पर ही संगीत कला प्राप्त होती है। ईश्वर की कृपा के साथ ही साथ गुरू कृपा का होना भी अति आवश्यक है वहीं शिष्य सौभाग्यशाली है जिसे दोनों का अनुग्रह प्राप्त हो जाए।

प्रत्येक कला के विकास अथवा होने वाले परिवर्तन की पृष्ठभूमि में राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कारण होते है। संगीत के प्रत्येक अध्यापक को जब इन कारणों का ज्ञान होगा और जब वह इन्हें स्पष्ट कर सकेगा, तभी अन्य अध्यापकों की दृष्टि में उसका वास्तविक सम्मान होगा।

किसी भी विषय को बढ़ाने से पूर्व व पढ़ाते समय विषय के महत्व, उपयोगिता तथा सौन्दर्य से परिपूर्ण विज्ञ होना चाहिए। मानव जीवन व शिक्षा का सम्बन्ध तथा मानव जीवन का संगीत से सम्बन्ध क्या है। इस विषय पर विचार करना होगा। यह कहना अतिश्योक्ति न होगा कि संगीत ही जीवन है या जीवन ही संगीत है।

आधुनिक काल में कुछ कारणों के रहते संस्थागत शिक्षा प्रणाली अपने विद्यार्थी को उच्च से उच्चतर डिग्रियां को प्रदान कर देती है परन्तु उसको सही मायने में शिक्षा प्रदान करने में सफल नहीं होती। परिणामस्वरूप में डिग्रीधारी शिष्यों की नियुक्ति एक अध्यापक के रूप में होने पर ये विद्यार्थी को अपने आधे अधूरे ज्ञान से ही संतुष्ट करने की कोशिश करते है।

यह जरूरी नहीं कि एक अच्छा कलाकार या संगीतज्ञ एक अच्छा शिक्षक भी हो। अतः एक कलाकार में शिक्षक के गुणों का परीक्षण करके ही उसको शिक्षण का कार्य प्रदान करना चाहिए। एक कुशल शिक्षक को क्रियात्मक एवं शास्त्र दोनों पक्षों पर समान अधिकार होना चाहिए। एक प्रशिक्षणहीन शिक्षक विद्यार्थियों का सही दिशा निर्देशन करने में सक्षम नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त उचित वेतन न मिलना भी शिक्षक के लिए एक समस्या है, जब तक शिक्षक की अपनी उचित इच्छाएं पूर्ण नहीं होगी तब तक वह सही शिक्षण देने में असमर्थ होगा। कम अनुभवी शिक्षक को पाठ्यक्रम का सही ज्ञान नहीं होता। परिणामस्वरूप छात्रों को विषय सम्बन्धी अनेक समस्याओं का साभना करना पड़ रहा है।

इतना ही नहीं आज भी विद्यार्थियों के लिए उचित पाठ्य सामग्री उपलब्ध नहीं है जो पुस्तकें या

सामग्री उपलब्ध है उनमें से अधिकांश या तो विद्वानों के स्तर की हैं या अप्रामाणिक। इसलिए केन्द्रीय पाठ्यक्रम से सम्बन्धित पाठ्यपुस्तकों का निर्माण अति आवश्यक है। कहने को तो हजारों शोध कार्य हो चुके है परन्तु प्रारंभिक विद्यार्थियों के बुद्धि एवं ज्ञान को सामने रखकर कुछ दिखाई नहीं देता।

मूल्यांकन पद्धति

इन सबसे ऊपर विद्यार्थियों की परीक्षाओं का तरीका कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता। बहुत थोड़े समय में तीन चार राग सिखा कर उनकी परीक्षा लेना अपने आप में एक समस्या है। विद्यार्थियों के ज्ञान की मूल्यांकन विधि अथवा परीक्षा के लिए जिस पद्धति का प्रयोग किया जा रहा है वह पर्याप्त नहीं है।

कुल मिलाकर देखा जाए तो वर्तमान समय में उच्च शिक्षण संस्थानों की स्थिति सोचनीय ही है। हमें इनकी समस्याओं को दूर करना पड़ेगा। अच्छे शिक्षक अच्छे विद्यार्थी अच्छे वाद्य यन्त्र, अच्छे मूल्यांकन विधि शिक्षकों को अच्छा वेतन अच्छे पाठ्यक्रम बनाने पड़ेंगे तभी हम संगीत शिक्षण परम्परा को उच्च स्तर पर स्थापित कर सकते हैं। इन सभी बातों की ओर ध्यान रखकर किया जाने वाला शिक्षण कार्य संगीत, संगीत शिक्षार्थी, संगीत शिक्षक तथा संगीत के शिक्षण को उज्ज्वल भविष्य की ओर अग्रसर करेगा।

मानव शरीर एवं संगीत के प्रति उसकी प्रतिक्रिया

स्तुति श्रीवास्तव

मनुष्य प्राचीन समय से ही अपनी प्रसन्नता प्रकट करने के हेतु संगीत का उपयोग करता रहा है एवं संगीत से उसका लगाव तो सर्वविदित ही है। पं. शारंगदेव ने अपने ग्रंथ संगीत रत्नाकर में लिखा है कि जिस बालक को अभी विषयों का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ और जो केवल पालना में सोना जानता है वह भी गीत के अमृत को प्राप्त करके अपना रूदन समाप्त कर देता है और प्रफुल्लित हो जाता है। शारंगदेव ने संगीत रत्नाकर ग्रन्थ के स्वराध्याय में स्वरों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए विभिन्न स्वरों से सम्बन्धित स्नायुओं, चक्रां और शारीरिक अंगों का विवरण दिया है। स्वरों की उत्पत्ति से स्नायुओं का सम्बन्ध होता है वैज्ञानिकों ने इस तथ्यों को स्वीकार किया है, कि विभिन्न स्वरों के उच्चारण से शरीर अंगों का व्यायाम होता है। संगीत से केवल आनन्दानुभूति हीं नहीं होती बल्कि ध्वनिया मानसिक स्थितियों की भी सूचक होती है साथ ही ये हमारे मनोभावों को भी प्रभावित करती है। संगीत का हृदय और बुद्धि को संतुलित रखने में विशेष योगदान रहा है।

जब मनुष्य मानसिक एवं शारीरिक व्यथाओं से ग्रस्त होकर थक जाता है तो मन की उद्विग्नता को शांत कर पुनः सशक्त बनाने की क्षमता एकमात्र संगीत में ही है। सामवेद में रोगों के निवारण के लिए राग गायन का विधान मिलता है।

संगीत के सात स्वरों की संरचना मनुष्य के शरीर की सात प्राकृतियों से की जा सकती है।

मानव शरीर विचार, भाव, भावना व क्रिया-प्रतिक्रिया को सदैव ही भीतर के स्थूल कंपन व बाह्य तरंगीय ध्वनि स ग्रहण करता है। मानव शरीर में ध्वनि उत्पन्न कर, उसे स्वर, शब्द अथवा भाव देने के लिए विभिन्न अंगों का सहयोग होता है और अंगों के इसी सहयोग के माध्यम से हम शरीर पर होने वाले सांगीतिक प्रभावों को भली भॉति व बड़ी आसानी से समझ सकते हैं। हमारा मानव शरीर पूर्णरूप से संगीत में लीन नहीं होते हुए भी संगीत के प्रति अपनी प्रतिक्रिया अवश्य दर्शाता है जो कि शारीरिक क्रियाओं के द्वारा ज्ञात होता है। जैसे-सिर का हिलना, ऊंगलियों का लयानुसार चलना, पैरों का थपथपाना, मांसपेशियों में संकुचन तथा शिथिलता इत्यादि प्रतिक्रियाएं संगीत के श्रवण से ही होती है अर्थात् संगीत में इतनी शक्ति होती है कि वह हम मनुष्यों को अपनी ओर आकर्षित कर हम पर अपना प्रभाव अवश्य डालता है।

मनुष्य के शारीरिक तंत्र पर संगीत के प्रभाव के दार्शनिक एवं वैज्ञानिक आधार को चर्चा की है। मनुष्य के प्रमुख शारीरिक तन्त्र निम्नलिखित है-

1. चलन तंत्र, 2. रक्त वाहिका तंत्र, 3. पाचन तंत्र, 4. तंत्रिका तंत्र, 5. मूत्र एवं जनन तंत्र, 6. उत्सर्जन तंत्र, 7. श्वसन तंत्र

चलन तंत्रः- इस तंत्र के अन्तर्गत वे सभी अवयव शामिल हैं जो कि शरीर की गतिशीलता से सम्बन्धित होते हैं। कंकाल तंत्र The Skeletal System इसमें आस्थियां, उपस्थियां तथा कुछ कलाएं अथवा झिल्लियां होती है। संधि तंत्र The articuracy system यह संधियों अथवा जोड़ों से सम्बन्धित होता है। पेशी तंत्र इसमें पेशियों प्रावरणियां (Fasic)

शोध छात्रा, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

और कण्डरा आवरण (Tendon Sheath) सम्मिलित होते हैं।

रक्तवाहिका तंत्रः- शरीर के हर ऊतक कोशिका के भीतर उपापचय क्रिया होती रहती है इसके फलस्वरूप ही मनुष्य को ऊर्जा प्राप्त होती है। शरीर की इन कोशिकाओं को भोज्य पदार्थों आक्सीजन को पहुँचाने तथा उत्सर्जी पदार्थों को वहाँ से हटाकर उत्सर्जी अंगों तक लाने और तीव्र उपापचयी क्रिया के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए विकसित जंतुओं में एक बहुत ही उच्च कोटि का परिसंचरण तंत्र पाया जाता है। जो दो भागों 1. रूधिर परिसंचरण तंत्र, 2. लसिका परिसंचरण तंत्र का बना होता है।

परिसंचरण का मुख्य साधन रक्त है हृदय की पंप क्रिया द्वारा यह सारे शरीर में प्रवाहित होता है और फेफड़े से आक्सीजन लाता है तथा ऊतको से कार्बन डायोक्साइड एकत्रित करता है। इसके माध्यम से भोजन पहले यकृत में आता है और वहाँ से सामान्य संचरण में मिल जाता है। अपशिष्ट (Waste product) वृक्क तथा गुर्दो तक इस तंत्र द्वारा ही पहुँचते है। यह तंत्र शरीर का एक महत्वपूर्ण अंग है जो कि अपने स्वयं के कार्य के साथ-साथ अन्य तंत्रों को भी कार्य प्रणाली के लिए अपना योगदान देता है।

पाचन तंत्रः-

इस तंत्र के नाम से ही विदित होता है इस तंत्र का सम्बन्ध मनुष्य द्वारा ग्रहण किये गए आहार का शरीर में पाचन होकर उसके महत्वपूर्ण भाग को शरीर के लिए जमाकर लेना और अपशिष्ट पदार्थों को शरीर से उत्सर्जित करने के लिए सहायता करना है।

श्वसन तंत्रः-

यह उन अंगों से बना होता है जो कि मनुष्य को श्वास लेने की क्रिया से सम्बन्धित होते है। वायु से आक्सीजन रक्त में आता है और वहां से ऊतकों में पहुँचता है। ऊतकों से कार्बनडाईआक्साइड रक्त द्वारा रद्दी पदार्थ के रूप में फेफड़ों तक लाई जाती है। जहाँ से वह निःश्वसित वायु (Expired air) में बाहर निकल जाती है। इस तंत्र के अन्तर्गत श्वसन से सम्बन्धित अंग जैसे नासिका श्वसन नालिका से लेकर फेफड़ों तक के छोटे बड़े अंग शामिल है।

तंत्रिका तंत्रः-

मानव शरीर के सबसे महत्वपूर्ण तथा जटिल इस तंत्र को भी मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया गया है।

(क) केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र (The Central nervous system) तंत्रिका तंत्र का वह भाग है जो सम्पूर्ण शरीर तथा स्वयं तंत्रिका तंत्र पर नियंत्रण रखता है और शरीर के मुख्य अक्ष पर स्थित होता है। यह दो भागों मस्तिष्क तथा मेरूरज्जु का बना होता है।

(ख) परिसरीय तंत्रिका तंत्र (The peripheral nervous system) परिसरीय तंत्रिका तंत्र जिसमें मस्तिष्क और सुषुम्ना से निकलने वाली तंत्रिकाएं होती हैं। मस्तिष्क से निकलने वाली कपाल तंत्रिकाएं (Geainail nervous) तथा मेरू-रज्जू से निकलने वाली तंत्रिकाओं को मेरूरज्जू तंत्रिकाएं (a spinal nervous) कहते हैं।

(ग) स्थानीय या स्वायत्त तंत्रिका तंत्र (The autonomic nervous system) तंत्रिका तंत्र का वह भाग है जिस पर मस्तिष्क तथा मेरूरज्जु का नियंत्रण नहीं के समान होता है। एवचालित तंत्रिका तंत्र में अनुकम्पी (Sympathetic) और परानुकम्पी (Parasy Synpathetic) तंत्रिकाएं होती है। इसे अनैच्छित (Invotuntary) तंत्रिका तंत्र भी कहते हैं।

मूत्र एवं जनन तंत्रः-

इसमें मूत्र तंत्र एवं जनन तंत्र के अंग सम्मिलित होते है। कार्बनडाईआक्साइड के अतिरिक्त शरीर के अन्य अपशिष्ट उत्पादों के निष्कासन गुर्दो अथवा वृक्कों द्वारा होता है। इस तंत्र के अन्तर्गत मूत्र निर्माण से लेकर उसे शरीर के बाहर उत्सर्जित करने मे सहायक समस्त अंग शामिल हैं। जिनमें गुर्दे, मूत्राशय आदि प्रमुख है।

उत्सर्जन तंत्रः-

इस तंत्र के अन्तर्गत वे समस्त अंग शामिल हैं जो कि उत्सर्जन का कार्य करते है। शरीर में स्थित अपशिष्ट पदार्थों या उपापचय क्रिया के दौरान बनने वाले ऐसे पदार्थ जो कि शरीर के लिए उपयोगी नहीं होते। उन्हें शरीर से बाहर निकालते हैं। उदाहरण के लिए फेफड़े कार्बन डाई आक्साइड निकालते है। मूत्र तंत्र यूरिया को निकालते हैं, आँतें शरीर के कई अघुलनशील अपशिष्ट पदार्थों को मल के रूप में बाहर निकालते हैं।

यहा हम मनुष्य के श्वसन तंत्र पर संगीत के प्रभाव की कुछ चर्चा करेगें। मनुष्य शरीर के लिए आवश्यक तथा अनावश्यक वायु (गैस) का आदान-प्रदान एक बहुत ही विकसित तथा विशिष्ट तंत्र के द्वारा होती है जिसे श्वसन तंत्र कहा गया है। श्वसन अंगों का वर्णन करते हुए चिकित्सा शास्त्रों में वर्णित हैं कि शरीर के जो अंग गैसों के विनिमय अर्थात O_2 तथा CO_2 के आदान प्रदान में किसी भी प्रकार सहायता करते हैं, उसको श्वसनांग (Respiratory Organ) कहते हैं।

शरीर के अन्य तंत्रों की तरह ही संगीत मनुष्य के श्वसन तंत्र को भी प्रभावित करता है। यह तंत्र संगीत के द्वारा दो तरह से प्रभावित होता है। प्रथम संगीत में गायन तथा सुषिर वाद्यों का श्वसन तंत्र पर सीधा प्रभाव होता है। इनका श्वसन अंगों से सीधा सम्बन्ध रहता है इसके अतिरिक्त नृत्य में तो शारीरिक व्यायाम अन्य सभी सांगीतिक विधाओं से अधिक होता है जिसके कारण श्वसन तंत्र पर इसका दबाव गायन आदि की तुलना में अधिक होता है और पूरी श्वसन क्रिया ही प्रभावित होती है।

संगीत अप्रत्यक्ष रूप से विशेषकर मस्तिष्क पर अपने प्रभाव के द्वारा श्वसन तंत्र तथा श्वसन प्रक्रिया को प्रभावित करता है। श्वसन की गति वैसे तो तंत्रिका तंत्र द्वारा नियंत्रित होती है लेकिन मुख्य रूप से यह रासायनिक प्रक्रिया द्वारा नियंत्रित होती है। जब रक्त में कार्बनडाइआक्साइड की मात्रा बढ़ने लगती है तो रक्त की प्रकृति भी बदलने लगती है। इस रसायनिक परिवर्तन का प्रभाव श्वसन प्रक्रिया में पड़ता है।

इस तरह शरीर मे पैदा होने वाली कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा के अनुसार ही श्वसन कम ज्यादा होता है। गायन, वादन अथवा नृत्य करने पर चूँकि पेशियों में आक्सीजन की खपत बढ़ जाती है एवं कार्बन डाइआक्साइड की उत्पत्ति में वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप श्वसन की गति भी बढ़ जाती है।

इसी प्रकार संगीत अपने प्रभाव से मानसिक तनाव कम करता है साथ ही अन्तः स्त्रावी ग्रन्थियों पर प्रभाव के कारण शरीर की चयापचय दर को भी प्रभावित करता है।

संगीत के प्रभाव के आकर मानव विशेष व्यवहारों का प्रदर्शन करता है।

इसके अतिरिक्त वैज्ञानिकों ने शोध कार्यों के अन्तर्गत पाया कि संगीत मानसिक, शारीरिक परिवर्तन तो करता ही है, साथ ही साथ यह शरीर में स्थित पदार्थों पर रासायनिक परिवर्तन भी करता है।

संगीत मानव जीवन के भीतर उपस्थित समस्त तत्वों को गति देने के साथ-साथ तारतम्य भी प्रदान करता है। शरीर में उपस्थित करोड़ो कोशिकाओं व नाड़ी तंत्र को तरंगीय अनुभूति और फिर गति देने में संगीत महत्वपूर्ण है। संगीत या ध्वनि को ही मानव ने सर्वप्रथम अपने शरीर के बाह्य व भीतरी तंत्रिका तंत्र में भोगा इसके पश्चात उसने कभी स्वतः तो कभी विचार के पश्चात् प्रतिक्रिया प्रकट की।

वास्तव में संगीत में समस्त अंगों एवं तंत्रों को प्रभावित करने की शक्ति है। सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि संगीत का मानव शरीर पर प्रभाव सकारात्मक रूप में पड़ता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. श्रीवास्तव, हरिचन्द्र, संगीत निबन्ध संग्रह, संगीत सदन प्रकाशन (इलाहाबाद) संस्करण-2003।
2. शर्मा प्रो. स्वतंत्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत,
3. वर्मा डॉ. सतीश, संगीत चिकित्सा (एक शास्त्रीय अध्ययन) राधा पब्लिकेशन्स, संस्करण-2004।

उच्च शिक्षण संस्थानो में शास्त्रीय संगीत शिक्षा पद्धति का स्वरूप

एकता मेहता

भारत में अन्य विद्याओ एवं कलाओं की ही भांति संगीत की शिक्षण परम्परा भी गुरूकुल पद्धति से चली आ रही है। प्राचीन समय में संगीत का शिक्षण व्यक्तिगत रूप से होता था जिसको गुरुकुल पद्धति नाम दिया गया। संगीत वास्तव में गुरुमुख विद्या है। जिसे बिना गुरु के प्राप्त करना असम्भव होता है। वैसे देखा जाय तो जितनी भी कलाएँ एवं विद्याएँ हैं सभी में गुरु की विशेष आवश्यकता होती है कलाओं एवं विद्याओं के ज्ञान हेतु अध्ययन के साथ-साथ विशेष गुरु प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है इस परम्परा में संगीत की प्रतिभा योग्यता और लगन से युक्त तथा कलाकार बनने का लक्ष्य रखने वाले व्यक्ति संगीत की शिक्षा प्राप्त करते है। संगीत सीखने के लिए गुरु श्रद्धा, परिश्रम और साधना तीनों का होना नितान्त आवश्यक होता था। जो आज भी संगीत शिक्षण में महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल में संगीत की गुरुकुल पद्धति से ही घराने का रूप विकसित हुआ संगीत शिक्षण की चर्चा करते समय हम यदि घरानो की चर्चा न करे तो यह अधूरी ही रह जायेगी घराना पद्धति गुरुकुल का विकसित रुप है। मध्यकाल में संगीत यद्यपि शिक्षा के क्षेत्र में सहायक रूप में इतना प्रचलित नहीं था। पं. पलुस्कर जी ने सन् 1901 की 5 मई को लाहौर में गंधर्व महाविद्यालय की नींव डाली। अपनी तरह का भारत में यह पहला विद्यालय या संगीत की संस्था थी, जो बाद में एक विराट वृक्ष की भांति बढ़ता गया। संगीत-शिक्षा को प्राप्त कर विद्यार्थी केवल गायक ही नहीं अपितु अच्छा गायक, अच्छा शिक्षक, प्रशासक तथा शास्त्रकार बने यह पं. भातखण्डे जी की कामना थी। और इसी दृष्टि से वे प्रयत्नशील भी रहे उनके पश्चात् उनसे प्रभावित संगीत प्रेमी भी इस दिशा में प्रयत्नशील रहे। उनके अनंत परिश्रमों तथा इच्छा के फलस्वरूप ही भारत में सर्वप्रथम ''बड़ौदा विश्वविद्यालय'' में संगीत का समावेश हुआ भातखण्डे जी ने घरानों के संकुचित दायरों से बाहर निकाला और कई सांगीतिक महाविद्यालयों की स्थापना की जिसमें जन साधारण को भी संगीत सीखने में सुलभता प्राप्त हुई। लखनऊ में ''मैरिस म्यूजिक कॉलेज'' स्थापित किया जिसका नाम अब ''भातखण्डे यूनिवर्सिटी ऑफ म्यूजिक'' है। ''माधव संगीत महाविद्यालय'' (ग्वालियर) की भी स्थापना इन्होंने की इसके फलस्वरूप उच्च शिक्षा के क्षेत्र में ''काशी हिन्दू विश्वविद्यालय'' में पं. ओंकारनाथ ठाकुर जी ने अत्यधिक प्रयत्नो से ''कॉलेज ऑफ म्युजिक एण्ड फाइन आर्टस'' यह विभाग शुरु किया और उसे स्थायी रूप प्रदान किया।

वर्तमान समय में संगीत शिक्षण कार्य मूल रूप से दो प्रकार से चल रहा है। पहला एक ऐसे शिक्षण संस्थान जो सिर्फ संगीत का शिक्षण-प्रशिक्षण देते है। दूसरे ऐसे शिक्षण संस्थान जो संगीत का शिक्षण-प्रशिक्षण अन्य विषय के साथ देते है। प्रथम के अन्तर्गत संगीत के विश्वविद्यालय जैसे ''भातखण्डे संगीत विश्वविद्यालय'' लखनऊ ''खैरागढ़ में इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय'' खैरागढ़ संगीत के महाविद्यालय जैसे गान्धर्व मण्डल नई दिल्ली प्रयाग संगीत समिति इलाहाबाद, भातखण्डे विद्यापीठ,

शोध छात्रा, संगीत एवं मंच कला संकाय, बी.एच.यू., वाराणसी

लखनऊ एवं अन्य द्वितीय प्रकार के शिक्षण में सामान्य विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालय में अन्य विषयों के साथ संगीत एक विषय के रूप में होता है संगीत का अलग से संकाय तथा उस संकाय में संगीत के गायन वादन एवं नृत्य विभाग आदि होते है। जबकि महाविद्यालयों में इसका रूप इतना वृहद नहीं होता है। संगीत को विश्वविद्यालय में स्थान प्राप्त हो जाने से अन्य सभी विषयों के समान ही संगीत में भी विश्वविद्यालयों द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम कक्षाएँ, परीक्षाएँ तथा उपाधियाँ इत्यादि बातो को महत्व प्राप्त हुआ।

संगीत शिक्षा के लिए विश्वविद्यालयों में सर्वप्रथम प्रवेश परीक्षा प्रणाली के द्वारा प्रवेश दिया जाता है। स्नातक स्नातकोत्तर तथा अन्य उपाधियों के लिए पाठ्यक्रम बनाये जाते है जिनके अनुसार परीक्षा होने के पश्चात अंक प्राप्ति के बाद प्रवेश दिया जाता है। प्रवेशोपरांत सभी विद्यार्थियों की शिक्षा एक साथ होने के कारण तथा उपाधि प्राप्त करने हेतु अन्य विषयों के समान ही संगीत में भी श्रेणियाँ वर्ग या कक्षाओं के अनुसार पाठ्यक्रम को एक निश्चित स्वरुप देने की आवश्यकता निर्माण हुई। सामूहिक शिक्षा व्यवस्था में बुद्धिमान और साधारण दोनों ही प्रकार के विद्यार्थियों को साथ लेकर चल सकें इस प्रकार का पाठ्यक्रम बनाया जाता है। विशेष कक्षा या उपाधि परीक्षा तक विशिष्ट निर्धारित ज्ञान को देने हेतु निश्चित पाठ्यक्रम का निर्धारण होने लगा। स्नातक स्नातकोत्तर तथा एम.फिल की उपाधि प्राप्त विद्यार्थियों से इस निश्चित किए गए पाठ्यक्रम में निपुणता प्राप्त करने की अपेक्षा की जाती है। शिक्षा के सभी उद्देश्यों की पूर्ति कर सकने वाली सामग्री का यथोचित समावेश क्रमबद्धता से करना तथा ज्ञान की सीढ़ी दर सीढ़ी वृद्धिगत कर ज्ञानोपार्जन में सुसत्रता लाना इन्हीं दो उद्देश्यों के कारण या इन्हीं दृष्टिकोणों से महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम बनाए जाते है। संगीत शिक्षण को पूर्ण रुप प्रदान के लिए पाठ्यक्रम में सैद्धान्तिक और क्रियात्मक दोनों पक्षों को लिया जाता है। सैद्धान्तिक पक्ष के पाठ्यक्रम में सौन्दर्य शास्त्र, ध्वनि शास्त्र, निबन्ध, संगीत का इतिहास, तालो का इतिहास इत्यादि तथा क्रियात्मक पक्ष में ख्याल, ध्रुपद, धमार सम्पूर्ण गायकी, तराने, टप्पा, रागमाला, रागसागर इत्यादि सम्मिलित किए गए। विश्वविद्यालयों में संगीत संगोष्ठियों एवं कार्यशाला का भी नियमित आयोजन किया जाता है। जिसमें विद्यार्थी तथा शिक्षक गायन वादन प्रस्तुत करते है और संगीत के किसी प्रश्न सम्बन्धी या शास्त्र विषयक चर्चा भी करते है जिससे विद्यार्थियों को सतत् सुनने सुनाने का तथा स्वयं को जांचने परखने का अवसर मिलता है। किसी भी विषय के शिक्षण द्वारा बालक या शिष्य के व्यवहार में कुछ परिवर्तन अपेक्षित होता है। यह परिवर्तन निर्दिष्ट उद्देश्य के पूरक है। अथवा विद्यार्थी अपने अभिष्ट लक्ष्यों को प्राप्त कर रहा है या नहीं अथवा निर्धारित लक्ष्य के मार्ग में उसकी प्रगति की गति क्या है यह सब पता लगाने की दृष्टि से आधुनिक काल में परीक्षा शैक्षणिक प्रक्रिया का ही एक अभिन्न अंग हो गया है इसीलिए शिक्षक को मूल्यांकन एवं परीक्षा के कार्यक्रम पर पूरा ध्यान देना चाहिए। परीक्षा का अर्थ ही किसी वस्तु को जांचना या परखना है। किसी भी वस्तु को तोलना या नापना निरीक्षण करना अथवा मूल्यांकन करना सभी अर्थ परीक्षा में समाविष्ट हैं। विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों की संगीत परीक्षा प्रणाली को दो भागों में बाँटा गया है पहला क्रियात्मक तथा दूसरा सैद्धान्तिक या लिखित इन्हीं दो भागों में परीक्षा सम्पन्न होती है। क्रियात्मक परीक्षा के एक भाग में विद्यार्थी की रूचि के अनुसार गायन-वादन का प्रदर्शन होता है। इसे ही मंच प्रदर्शन भी कहते है। क्रियात्मक परीक्षा के दूसरे भाग में क्रियात्मक भाग के पाठ्यक्रम के आधार पर ही परीक्षक द्वारा प्रश्न पूछे जाते हैं। इसे ही गायन-वादन की मौखिक परीक्षा भी कहते हैं। सैद्धान्तिक पक्ष के लिखित प्रश्न पत्र में संगीत शास्त्र के प्राचीन और अर्वाचीन तकनीकी दृष्टिकोण पर तथा इतिहास सम्बन्धी तथा सौन्दर्यशास्त्र, रसशास्त्र इत्यादि विभिन्न पहलुओं पर आधारित प्रश्नों का उत्तर लिखित रूप मे देना होता है। वर्ष के अन्त में या वर्ष में एक बार परीक्षा होती है। जिससे विद्यार्थियों को उनकी योग्यता के अनुसार उच्च कक्षा में जाने के लिए उपाधि प्रदान की जाती है।

संगीत को एक शैक्षणिक दर्जा प्राप्त हो जाने से संगीत के क्षेत्र में एक अनोखी क्रांति आ गई और इससे संगीत का समूचा क्षेत्र लाभान्वित हुआ। संगीत के उपाधिकारी व्यक्ति को अन्य शिक्षित व्यक्तियों के समाज में समान आदर भाव से देखा जाने लगा। महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में संगीत शिक्षा प्रारम्भ होने के बाद स्नातक तथा स्नातकोत्तर परीक्षाओं का पाठ्यक्रम प्रारम्भ हुआ। इसके परिणाम स्वरूप जो विद्यार्थी नियमित विद्याभ्यास के अतिरिक्त अन्य समय नहीं देना पड़ा, अर्थात् महाविद्यालयों में संगीत को एक विषय के रूप में लेने के बाद संगीत सीखना और उपाधि प्राप्त करना ये जीवन के दो हेतु एक साथ साध्य होने लगे। वर्तमान में उनके विश्वविद्यालयों में संगीत को अन्य विषयों के समकक्ष स्थान मिलने के कारण संगीत प्रेमी शिक्षार्थियों को संगीत शिक्षा हेतु दूर-दूर तक नहीं भटकना पड़ा। समाज के सभी वर्गों को संगीत शिक्षा सरलता से उपलब्ध होने लगी। विश्वविद्यालयीन संगीत शिक्षा उपाधि युक्त हो जाने के कारण उपाधि प्राप्त नई पीढ़ी को नियुक्तियों की सुविधा होने लगी। संगीत में संशोधनात्मक प्रवृत्ति को भी बढ़ावा मिलने लगा। क्योंकि विश्वविद्यालयों में शिक्षा में डॉक्टर ऑफ फिलॉसॉफी अर्थात् पी.एच.डी. को एक महत्वपूर्ण तथा उच्च स्तरीय आवश्यक उपाधि के रूप में विश्वविद्यालय लगा है। उपरोक्त सभी लाभ संगीत के क्षेत्र को प्राप्त होने के कारण ही प्रतीक्षित संगीतज्ञ को समाज में समुचित प्रतिष्ठा और गौरव प्राप्त होने लगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की शिक्षा प्रणाली-डॉ. सुरेश गोपाल श्रीखण्डे।
2. शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता में सांगीतिक संस्थाओ का महत्व-डॉ. भावना रानी
3. सौन्दर्य, रस एवं संगीत-प्रो. स्वतन्त्र शर्मा
4. भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर-डॉ. मधुबाला सक्सेना

प्राचीनकालीन इतिहास में संगीत

शेषनाथ मिश्रा

मनुष्य अपने को व्यक्त करना चाहता है, यह उसकी जन्मजात प्रवृति है। दूसरी प्रवृति जो मनुष्य में आरंभ से ही है, वह है अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए अनेक वस्तुओं का निर्माण करना। ये दोनों प्रवृतियां आपस में बहुत घनिष्ट संबंध रखती हैं। जब मनुष्य को किसी चीज की आवश्यकता होती है, तो वह सर्वप्रथम वस्तु की कल्पना करता है। कल्पना करना भी अपनी इच्छा को या इच्छा की वस्तु को, चाहे मन में ही हो, किसी तरह व्यक्त करना ही है। वह अपने से व्यक्त करता है कि उसे किस वस्तु की आवश्यकता है। इतने से ही काम चल जाता और कल्पना करने से ही वस्तु मिल जाता तो मनुष्य के लिए दूसरों को व्यक्त करने की आवश्यकता शायद न पड़ती। कल्पना करने पर मनुष्य चाहता है कि उसको साकार रूप में देखें। वह इच्छा ही नहीं करता बल्कि इच्छित वस्तु को, अपनी कल्पना में आयी हुई वस्तु को प्राप्त करना भी चाहता है। मनुष्य अकेले बिना किसी की सहायता के अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त कर लेता तो भी उसे अपने को दूसरे से व्यक्त करने की आवश्यकता न पड़ती। पर मनुष्य हार नहीं खाता है। वह देखता है कि अकेले अपनी इच्छित वस्तु को प्राप्त करने में असमर्थ हैं उसे दूसरे व्यक्तियों का सहयोग भी चाहिए। इसी आधार पर समाज का निर्माण हुआ। मनुष्य ने अपने को दूसरे से व्यक्त करना आरंभ किया।

अपने को व्यक्त करने के लिए साधन की आवश्यकता हुई। मनुष्य इस बात की चेष्टा करने लगा। कल्पना की, इशारों से उसने अपने को व्यक्त किया। इशारों के द्वारा जब मनुष्य अपने को व्यक्त करने लगा और उसमें सफलता मिली तो उसको लोगों ने याद करना और अनुकरण करना आरंभ किया और एक-दूसरे पर निश्चित इशारों से प्रयोग होने लगा। प्रत्येक इच्छा धीरे-धीरे इशारों से प्रकट की जाने लगी। इशारों का एक विज्ञान बन गया, भाषा बन गयी। इस प्रकार, अपने को व्यक्त करने की चेष्टा में मनुष्य ने अनेक कलाओं का निर्माण किया।

मनुष्य की अभिव्यक्ति में संगीत रचना अति प्राचीन है। बालक पैदा होते ही मुंह से स्वर निकालता है और मुद्राएं बनाता है अपनी अभिव्यक्ति के लिए और इसमें सफलता भी पाता हैं परंतु इससे वह आरंभ में साफ-साफ अपनी सब इच्छाओं को व्यक्त नहीं कर पाता। जैसे-जैसे बालक बढ़ता है वह इशारों, मुद्राओं तथा स्वरों और शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग करता जाता है। जब बालक पैदा होता है, तब वह उस वक्त कोई भाषा नहीं बोलता, उसे किसी भाषा का ज्ञान नहीं होता, वह सिर्फ रोता है। स्वर का ज्ञान उसे नहीं होता। रोना-हंसना भी तो संगीत की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है। बालक रोने एवं हंसने के द्वारा ही अपनी रूष्टता एवं प्रफुल्लता को प्रकट करता है। यहां प्रश्न उठता है कि क्या बालक को संगीत आता है? संगीत उसको आता नहीं, किन्तु संगीत का उपकरण तो उसके पास है, जो कि सदैव क्रियाशील रहते हैं। स्वर का ज्ञान बालक को होता है इसलिए वह इसके द्वारा अपनी भूख-प्यास की अभिव्यक्ति किया करता है। वास्तव में स्वर ही संगीत है, चाहे उसकी जो भी अवस्था हो।

इसी प्रकार आदिम-संगीत कला का कलात्मक माध्यम समाज की स्थिति का द्योतक हैं इतना ही नहीं आदिम-संगीत तो तत्कालीन समाज की सही-सही

असिस्टेंट प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास विभाग, रामलखन सिंह यादव कॉलेज, पटना

अनुकृति है। बालक द्वारा उत्पन्न संगीत तो बहुत कुछ अपने ही आनंद तक सीमित रहता है किन्तु आदिम संगीत के साथ सामाजिक तथ्य के ताने-बाने जुड़े रहते हैं। आदिम मनुष्य के नाचने, गाने में उसके समाज की तत्कालीन आवश्यकता प्रतिबिम्बित होती है।

पूर्व पाषाण काल के मनुष्यों का गाना भी स्वर पर ही आधारित था। जब किसी शिकार को ये लोग मार लिया करते थे तो यह लोग स्वर के टेढ़े मेढ़े आलाप भरकर अपने आनंद की अभिव्यक्ति करते थे। इनके गाने में शब्द नहीं होता था क्योंकि भाषा का जन्म इस युग में नहीं हो पाया था। यह लोग विभिन्न स्वरों के द्वारा ही अपने आंतरिक हर्ष एवं विषाद को अभिव्यक्त किया करते थे।

पूर्व पाषाणकालीन समाज में आनंद-प्रमोद प्रायः संगीत के माध्यम से ही किया जाता था। शिकार को जाते वक्त ये लोग संगीत का प्रयोग किया करते थे तथा मछली पकड़ते समय भी ये लोग गाना गाते थे।

उत्तर पाषाणकाल में लोगों में सामाजिक भावना उदय हो चुकी थी इसलिए सामूहिक संगीत का जन्म इस युग में हो गया था। ये लोग युद्ध में भी संगीत का प्रयोग करने लग गए थे। महिलायें काम करते वक्त एक प्रकार का मीठा स्वर निकालती थीं, और इसी प्रकार पुरूष वर्ग भी काम करते वक्त अपने स्वर का आलाप विभिन्न ढंग से करते थे। पुरूष वर्ग कार्य करते हुए गाना गाता था, जैसे-मिट्टी के बर्तन बनाते वक्त। ऐसा आभास होता है कि काम करने की प्रेरणा भी स्वरों के द्वारा ही मिलती थी। समाज का महिला वर्ग भी संगीत में भाग लिया करता था। अतः इस काल में किसी भी सामाजिक कार्य के संचालान में स्वर को विशेष महत्व दिया गया है।

वैदिक कालीन समाज के निर्देशक वेद ने भी संगीत के महत्व को स्वीकारा और इसे एकता में सहायक माना। इसलिए तो ऋग्वेद की ऋचाओं को स्वरात्मक करके एक वेद का निर्माण कर उसे 'सामवेद' नाम दे दिया। वैदिक कालीन समाज के सामाजिक संगठन का मूलाधार परिवार था। प्रत्येक परिवार मे संगीत का उत्कृष्ट स्थान था, परिवार में संगीत का आयोजन परिवार की अधिष्ठात्री नारी-गृहलक्ष्मी ही करती थी। सुबह-शाम प्रत्येक परिवार में ईश्वर उपासना होती थी। प्रातःकाल काम शुरू करने से पूर्व घर की सब नारियां, बूढ़े बच्चे सब एक स्थान पर एकत्रित होकर अपने इष्टदेव की आराधना किया करते थे। उनका गाना-बजाना ताल-स्वर में होता था। ऋग्वेद काल का प्रत्येक गृह संगीत का सुंदर केन्द्र बना हुआ था।

इस काल में समाज में सार्वजनिक रूप से संगीत के प्रदर्शन होते थे पर बहुत कम। चूंकि इस काल में ग्रामों की शास्त्र की रचना का काम वर्ग-विभक्त समाज में सदैव उच्च वर्गों के हाथ में रहा। उस जमाने में ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों का गठबंधन अपने हितों की रक्षा करता था। क्षत्रिय राजनीति को देखते थे तो ब्राह्मण ज्ञान क्षेत्र को। संगीत ज्ञान का विकास समाज में उच्च वर्ग ने किया। वैदिक ऋचाओं के उच्चारण और गायन के विधि-विधानों का निर्णय भी समाज में उच्च स्थान प्राप्त ब्राह्मणों ने ही किया। इस काल में संगीत की बागडोर मुख्य रूप से ब्राह्मणों के हाथ में थी। यहीं से मार्ग संगीत का प्रारंभ हुआ। जैसा कि शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे ने अपनी पुस्तक में लिखा है-"सामवेद भारतीय संगीत कला का प्राचीनतम निदर्शन है। इसका स्रोत तत्कालीन लोकसंगीत ही रहा है। तथापि यज्ञ योग जैसे धार्मिक समारोहों से तथा समाज के उच्च वर्ग से सम्बद्ध होने के कारण उसमें संस्कार तथा नियमबद्धता की मात्रा बढ़ गयी और उसे शिष्ट सम्मत मार्ग-संगीत का स्वरूप प्राप्त हुआ।

संगीत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अंतर्गत यह प्रश्न उठता है कि स्त्रियों के साथ संगीत का कैसा संबंध था? गायन, वादन एवं नृत्य में स्त्रियां भाग लेती थीं या नहीं, उन्हें सम्मान दिया गया अथवा नहीं? उत्तर स्पष्ट है कि इस काल में पुरूष-गायक-वादकों के अतिरिक्त स्त्रियों का संगीत में स्वाभाविक रूचि एवं योग्यता के कारण पर्याप्त सहयोग था। यज्ञ के अवसर पर जब गायन वादन होता था, यजमानों की स्त्रियां भी सामान्य रूप से भाग लेती थी। अतः समाज में अन्य वर्गों की भांति एक वर्ग संगीतज्ञों का भी निर्मित हो रहा था। स्त्रियां नृत्य भी करती थी। नृत्य से भी उनका विशेष प्रेम था। संगीत के सार्वजनिक आयोजनों में नर्तकियां खुलकर भाग लिया करती थीं, उन्हें किसी किस्म की हिचक

नहीं थी, क्योंकि समाज में गायकों, वादकों एवं नर्तकियों का उच्च स्थान था। संगीतज्ञों को समाज उच्च दृष्टि से देखता था।

उनका सामाजिक मान-सम्मान किया जाता था। लोकसंगीत के कलाकारों का भी समाज में मान-सम्मान किया जाता था।

वैदिक कालीन समाज में एक वर-वधू महोत्सव होता था, जो समन कहलाता था। समन एक प्रकार का सांगीतिक मेला था, जहां आमोद के लिए नारियां जाती थी। 'समन' ने समाज के अंदर संगीतमय वातावरण को खूब फैलाया। 'समन' के अंदर नारियां कई प्रकार के नृत्य प्रदर्शित किया करती थीं। पुरूष वर्ग कंठ संगीत का सुंदर ढंग से प्रदर्शन करते थे।

पौराणिक काल में समाज के अंदर संगीत की स्थिति मानव जीवन के लिए आदरणीय थी। यद्यपि इस काल में समाज के अंदर उच्छश्रृंखलता बढ़ती जा रही थी, लेकिन फिर भी समाज के अंदर संगीतकारों का जीवन संतुलित रूप से ही था। वैदिक कालीन सामाजिक उत्सव 'समन' ने इस काल में 'समज्जा' का रूप ले लिया। 'भाष्य' में कहा गया है कि जिसमें जन समुदाय इकट्ठा हो वह उत्सव 'समज्जा' कहलाता था। इसे समाज भी कहा जाता था। अशोक के अभिलेखों में 'समाज' नामक उत्सव का ही उल्लेख है। महाभारत में भी विस्तार से 'समाज' नामक क्रीड़ोत्सवों का उल्लेख है। अतः समज्जा या समाज महाजनपद युग के नागरिक जीवन की बहुत बड़ी विशेषता थी। 'समाज' में सम्मिलित होनेवाले लोग सामाजी कहलाते थे। इस काल में समाज में संगीतज्ञों की संख्या बढ़ रही थी। संगीतज्ञ अशिक्षित नहीं होते थे। तत्कालीन समाज में संगीत की प्रतियोगिताएं भी हुआ करती थीं। आम जनता इसका आनंद बड़ी तन्मयता के साथ लिया करती थी। जैसे मेले में रथों या गाड़ियों की दौड़ हुआ करती थी। गाड़ियों में बैल की जोड़ी जोती जाती थी, उनकी गरदनों में ऐसी घंटियों बांधी जाती थीं कि बैलों के दौड़ने पर घंटियों से बड़े ही सुरीले संगीत का प्रस्फुरण होता था। जिस गाड़ी के बैल अधिक मंत्रमुग्धक संगीत का प्रस्फुरण करने में सफल होते, उनको पुरस्कार दिया जाता था। इन दौड़ प्रतियोगिता से समाज में संगीत का चाव बढ़ रहा था। दूर-दूर से लोग आकर इनमें शामिल होते थे।

इस समय समाज में अनेक छोटे-छोटे वर्ग बन गए थे। हर वर्ग अपने संगीत-विकास को छिपा कर रखने की कोशिश करता था। परंतु यह संकीर्ण प्रवृति समाज के अंदर अधिक मात्रा में नहीं फैलने पायी। समाज में संगीत का मनोरंजक पहलू मानव वर्ग में विकसित होता जा रहा था।

सूत्र तथा जातक साहित्य से भी हमें तत्कालीन समाज में संगीत की स्थिति का पता चलता है। सूत्र साहित्य संगीत के धार्मिक पक्ष का, तो जातक साहित्य संगीत के सामाजिक पक्ष का दिग्दर्शन कराते हैं।

समाज में संगीत के ज्ञाता आचार्य भी होते थे, जो संगीत की शिक्षा देते थे। 'वीणागणगिन' संज्ञा इसी तथ्य की पुष्टि करती है। संगीत को सामाजिक एवं व्यक्तिगत मनोरंजन के एक प्रमुख तत्व के रूप में, इस काल में देखा जा सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि उच्च वर्गो में भी संगीत का प्रचार था। इससे यह मानना असंभव नहीं है कि इस समय संगीत के बड़े-बड़े विद्वान कलाकार भी समाज में रहे होंगे।

समाज के सहयोग से उस समय संगीत की प्रतियोगिता भी हुआ करती थी, इसका संकेत हमें जातक साहित्य में प्राप्त होता है। हां, उस समय गुरू-शिष्य के मध्य प्रतियोगिता को उचित नहीं समझा जाता था।

उस समय समाज में संगीत के सार्वजनिक आयोजन भी हुआ करते थे। जो समज्ज एवं महासमज्ज के रूप में जातकों में प्राप्त होते हैं। इस सामाजिक उत्सव पर अन्य मनोरंजन के साथ-साथ गायन, वादन एवं नृत्य- नाट्यादि भी होते थे। इस समज्जों का उल्लेख मौर्य सम्राट अशोक के अभिलेखों से भी प्राप्त होते हैं। कभी - कभी उनमें अतिशय अभद्रता भी हो जाती थी। इसी से संभवतः अशोक ने उसका निषेध कराया था।

इस काल में 'सामगायन' यज्ञ के अलावा अन्य सामाजिक अवसरों पर भी गाया जाता था। विवाह के अवसर पर भी वर के वधू सहित गृहप्रवेश करते समय "वाम देव्य' नामक साम के गायन का उल्लेख आता है।

इस समय संगीत का संबंध पुरूषों के साथ-साथ स्त्रियों से भी घनिष्ठ रूप से था। साम गायन जैसे धार्मिक अवसर तथा अन्य यज्ञ एवं धार्मिक संस्कारों

के अवसर से लेकर सामाजिक अवसरों तक में स्त्रियों का सहयोग था। सूत्र-साहित्य समाज के धार्मिक पक्ष का अवलोकन कराता है। अतः उससे यह सूचना मिलती है कि महाव्रत यज्ञ इत्यादि के अवसर पर सामगायक पुरुषों के साथ उनकी स्त्रियां भी गायन तथा तदनुकूल वादन करती थीं। विवाह इत्यादि धार्मिक संस्कारों के अवसर पर भी स्त्रियां तथा कन्या स्वयं संगीत में सहयोग देती थी। दास-दासियां भी यज्ञ के अवसर पर उदुंबशीर्ष नृत्य तथा गाथाओं का गायन करती थी।

इस काल में संगीत न केवल राजाओं एवं संभ्रान्त कुलीनों के जीवन का अंग था, अपितु साधारण जनता भी गायन, वादन एवं नृत्य में रुचि लेती थी। गरीब से गरीब ईंधन एकत्र करनेवाली लड़की भी अपना कार्य गायन के साथ करती थीं।

वर्णित तथ्यों के माध्यम से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आठवीं सदी से चौथी सदी ई. पू. के काल में समाज में संगीत कला का पर्याप्त प्रचार था। अतः इस काल में संगीत समाज के प्रत्येक क्षेत्र तथा प्रत्येक वर्ग में प्रचलित था।

पाणिनी की अष्टाध्यायी संगीत के सामाजिक पक्ष पर प्रकाश नहीं डालती क्योंकि यह व्याकरण संबंधी ग्रंथ है। किन्तु इस ग्रंथ के अध्ययन से अंतरतापा यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि संगीत का समाज में इतना अधिक प्रचार बढ़ गया था कि व्याकरण शास्त्री ने भी इसका उल्लेख अपने ग्रंथ में यथास्थान किया है।

कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में भी संगीत न केवल राजनीतिक वरन् सामाजिक व्यवस्था के स्वस्थ आदर्श हेतु भी महत्वपूर्ण माना गया था। राजा के दैनिक जीवन में प्रहर सूचना के लिए मनोरंजन आदि के लिए संगीत का विधान था। संगीत समाज में जीविका का साधन भी था। समाज के ही गणिका एवं नटवर्ग की जीविका संपूर्ण रूप से संगीत पर आधारित होती थी।

गणिका एवं उनके पुत्रों को गायन-विद्या के स्थानों पर सर्वप्रथम प्रवेश दिया जाता था। गणिकाओं से संबंधित संगीत का स्वरूप अधिकांशतः जनसाधारण के स्तर का हल्का-फुल्का होता होगा। इस वर्ग से संबंधित होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में संगीत केवल उच्च वर्ग की बपौती नहीं रह गया था।

संगीतकारों को राज्य एवं समाज का प्रश्रय प्राप्त होने पर भी उन पर राज्य की ओर से कुछ नियंत्रण थे, यथा-वर्षा ऋतु में एक ही स्थान पर रहना, अधिक दान न स्वीकार करना, आदि। अन्यथा दंड का विधान था। समाज में संगीत का जहां तक मनोरंजन से संबंध है उस पर नियंत्रण नहीं था किन्तु जहां समाज को हानि की आशंका होती थीं वहां पर उचित नियंत्रण था। इस प्रकार यहां यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस समय वही संगीत विहित था जो सामाजिक व्यवस्था के लिए वांछनीय था।

महाभारतकालीन समाज में संगीत को हेय दृष्टि से नहीं देखा गया था। इसका सभी वर्गों मे प्रचार था। ब्राह्मण भी संगीत श्रवण करते थे। क्षत्रिय राजा भी संगीत से घिरा रहता था। देवता भी संगीत से सर्वदा घिरे रहते थे। पुण्य-कार्य करनेवाला व्यक्ति भी संगीत-ध्वनि से जागृत एवं निहित होता था। संगीतकार को राज अपनी कन्या देने से भी नहीं हिचकता था। किन्तु कुछ उल्लेख ऐसे भी आते हैं जहां संगीत की अवहेलना की गयी है। जैसे संगीत का व्यवसाय करनेवाले को सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं दी जाती थी। ये कार्य में निमंत्रण के योग्य नहीं समझे थे। ये संभवतः निम्न कोटि के संगीत का प्रतिनिधित्व करते थे जैसा कि आज भी सड़क पर नाच-नाचकर जीविका चलाने पर हेय दृष्टि से देखा जाता है।

अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि महाभारत काल में संगीत को समाज में पर्याप्त सम्मानित स्थान प्राप्त था। इस काल मे लौकिक संगीत की अपेक्षा सामगान की महत्ता अधिक समझी गयी थी, क्योंकि यह धार्मिक संगीत था।

रामायण काल में संगीत जीवन का अभिन्न अंग था। राजा, प्रजा, नर, नारी, वानर, राक्षस आदि सभी वर्गों में संगीत का प्रचार था। उत्सव एवं समारोहों का ही नहीं वरन् नागरिकों के दैनिक जीवन का भी यह अभिन्न अंग था। इस काल में संगीतकारों के अंतर्गत संगीत-विद्या के वे ज्ञाता आते हैं जो व्यवहार एवं सिद्धांत दोनों क्षेत्रों में

कुशल हो। लव-कुश के गुरू आचार्य बाल्मीकि ही थे। इन दोनों ही गुरू - शिष्यों को समाज सम्मान की दृष्टि से देखता था। ये शास्त्रीय संगीत या गांधर्व संगीत को प्रस्तुत करते थे। समाज में गायक, वादक, नर्तकों का एक अन्य वर्ग भी था जिन्हें यज्ञ, मनोरंजक कृत्य एवं समाज तथा गोष्ठियों में आमंत्रित किया जाता था। राजा दशरथ ने इन्हें पुत्र-प्राप्ति के अवसर पर यज्ञ में आमंत्रित किया। उपर्युक्त प्रमाणों के प्रकाश में रामायण में संगीतकारों की स्थिति सम्माननीय मानी जा सकती है। मानव के वास्तविक जीवन से संगीत इस प्रकार रामायण युग में भी जुड़ा हुआ था।

बौद्धकाल मे संगीत का विपुल प्रचार था। इसका प्रमाण संगीत संबंधी उत्सवों के उल्लेख हैं जहां नृत्य-गीत वादन होता था। समाज मे संगीत के विभिन्न उपयोग भी ज्ञात थे। यह जीविका का भी साधन था। नट, नटी, वैतालिक एवं राज्य में नियुक्त संगीतकार साधारण जनता का ही प्रतिनिधित्व करते थे, जिनकी जीविका का साधन संगीत था। आवश्यकता पड़ने पर राजा भी संगीत को जीविका के रूप में अपनाने मे नहीं हिचकता था। कुश राजा अपनी मां से यही बात कहता भी है, यथा - ''अहं अंबे नृत्य-गीत वाद्येन अन्ये हिच आत्मने वृत्ति।।'' समाज मे भिक्षुओं के लिए यद्यपि संगीत निषिद्ध था तथापि गृहस्थों के लिए कठोर नियम नहीं था। गृहस्थ संगीत आयोजन का आनंद ले सकते थे। समाज में संगीत केवल मनोरंजन का ही साधन नहीं था अपितु उसके अन्य उपयोग भी थे। बुद्ध पूजा, बुद्ध संबंधी गाथा एवं अस्थि पूजा के अवसर पर भी संगीत का उपयोग होता था। जब बुद्ध को निर्वाण प्राप्ति हो गयी थी उस समय कुशीनारा के मल्लो ने कई दिनों तक संगीत प्रस्तुत किया था एवं अंतिम संस्कार जबतक नहीं हुआ वे उनके शरीर के आस-पास नृत्य गीत-वादन करते रहे। इसका अंकन सांची की कला में किया गया है। पूजा के समय, प्रदक्षिणा करते समय संगीत का विधान था। संगीत के उक्त विपुल उल्लेखों के आधार पर यह अनुमान करना अनुचित नहीं कि संगीत की शिक्षा भी दी जाती थी। समाज में अच्छे-अच्छे कलाकार होते थे एवं प्रतियोगिताएं भी होती थीं जहां समाज के लोग उनकी कला कुशलता को देखते थे।

जैन ग्रंथों में संगीत संबंधी उल्लेखों से यह ज्ञात हो जाता है कि समाज में संगीत का अत्यधिक प्रचार हो गया था। मनोरंजन का यह प्रधान अंग बन चुका था। यही कारण था कि समाज ने जैन भिक्षुओं के लिए संगीत को निषिद्ध माना था। इस निषेध से संगीत की समाज में हेयता का अनुमान नहीं लगाना चाहिये क्योंकि इस अवस्था में निषिद्ध होने पर भी अन्य अवस्थाओं में इसका प्रयोग मान्य था। महावीर की स्तुति भी गीत-वाद्य के साथ की जाती थी। इसके अतिरिक्त संगीत संबंधी उत्सव भी होते थे जहां जनता का मनोरंजन विभिन्न साधनों के साथ ही गायन, वादन एवं नृत्य के माध्यम से किया जाता था।

इस प्रकार संगीत जीविका का भी साधन बन गया था। नृत्य के उल्लेख इसके प्रमाण समझे जा सकते हैं। वेश्या वर्ग के साथ भी यह जीविका के रूप में संबंधित था। इस प्रकार संगीत का समाज के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचार था।

भारत का नाट्यशास्त्र संगीत के सामाजिक पक्ष पर प्रकाश नहीं डालता क्योंकि यह नाट्यकला से संबंधित ग्रंथ है। किन्तु इस ग्रंथ के अध्ययन से अंततोगत्वा यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि संगीत का समाज में इतना अधिक प्रचार बढ़ गया था कि भरत ने भी इसका उल्लेख अपने ग्रंथ में यथास्थान किया है। शास्त्रीय संगीत इस काल में समाज में विकसित हो गया था जैसा इसमें उल्लिखित शास्त्रीय संज्ञाओं के उल्लेखों से स्पष्ट होता है।

अतः यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी कि संगीत कला दिनों-दिन उन्नत हो रही थी एवं धीरे-धीरे समाज के सभी पक्षों में प्रविष्ट हो रही थी। इस प्रकार प्राचीन काल में मानव के वास्तविक जीवन में संगीत इस प्रकार व्याप्त था या कहें कि इसकी वास्तविक स्थिति इस रूप में थी।

संदर्भ :-

1. शर्मा डॉ. सत्यवती, संगीत का समाजशास्त्र
2. जोशी उमेश, भारतीय संगीत का इतिहास
3. श्रीवास्तव डॉ. धर्मावती, प्राचीन भारत में संगीत

भारतीय संगीत-विद्यालयों में प्रवर्तमान अभ्यासक्रम में परिवर्तन की आवश्यकता

विश्वास विजयकुमार संत

प्राचीनकालीन भारत में अन्य विद्याओं की तरह संगीत शिक्षा भी गुरू-शिष्य परंपरा के अंतर्गत ही हुआ करती थी। शिष्य कई वर्षों तक गुरू-गृह निवासी रहता था, और गुरू से विद्या प्राप्त करता था। इस परंपरा में कोई निश्चित अभ्यासक्रम नहीं होता था; शिष्य का विकास, विशेषता, क्षमता आदि ध्यान में रखकर गुरू उसे एक-एक सोपान आगे ले जाया करते थे किसी औपचारिक अभ्यासक्रम के बिना उनको जब जो सिखाना उचित लगे, वो सीखाते थे। अभी भी कई जगह इस परंपरा से संगीत शिक्षा होती है, लेकिन मध्यकाल से भारत में संगीत विद्यालयों की स्थापना होने लगी, जिसका प्रमाण आधुनिक काल में और भी बढ गया है बढता जा रहा है। अतः अब गुरू-शिष्य परंपरा एक मात्र माध्यम नहीं रह गया है।

आधुनिक संगीत विद्यालयों में अनेक विद्यार्थी एक साथ तालीम ग्रहण करते है, तालीम के कुछ निश्चित स्तर पूर्ण करने पर प्रमाणपत्र भी दिए जाते हैं, अतः यहाँ निश्चित अभ्यासक्रम और उसके लिए निश्चित समयावधि होना आवश्यक है। यहाँ इस अभ्यासक्रम के मुताबिक संगीत-शिक्षण कार्य होता है। विभिन्न विद्यालयों में भिन्न-भिन्न अभ्यासक्रम प्रवर्तमान है। आम तौर पर देखा जाए तो कई वर्षो से इन अभ्यासक्रमों के मुताबिक बहुत बड़े पैमाने पर शिक्षण कार्य होता आ रहा है, उनसे बहुत सारे विद्यार्थी तैयार हुए है, अतः उन्हें अयोग्य तो नहीं कहा जा सकता लेकिन फिर भी उनमें कुछ छोटे-बड़े परिवर्तन की आवश्यकता भी महसूस होती है।

कई बार इनमें अभ्यासक्रमों में विषयों के अग्रताक्रम में त्रुटि महसूस हाती है। कुछ नींव के सिद्धांत है, जो शिक्षा की शुरूआत में ही विद्यार्थी को जानना चाहिए, वो अभ्यास के अगले वर्षों में पढ़ने को मिलता है। इसमें बदलाव की आवश्यकता है। क्रियात्मक शिक्षा में भी इसी बात को ध्यान में रखते हुए कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है, उदाहरण स्वरूप- जो दस थाट हमने रागोत्पत्ति के आधार माने हैं, उनकी तालीम राग-शिक्षा की शुरूआत में होनी चाहिए।

कभी-कभी विशेषतः सैद्धांतिक शास्त्रोक्त विषयों के अभ्यासक्रम में ऐसा होता है, कि किसी विषय का अभ्यास समग्रता से नहीं करवाया जाता। उसके कुछ पहलूओं को अभ्यासक्रम में शामिल किया जाता है, कुछ को छोड़ दिया जाता है। ऐसा होने पर एक अधूरापन महसूस होता है, उस विषय को पूरी तरह समझने में रूकावट आती है। अतः जो भी विषय को अभ्यासक्रम में शामिल किया जाए, उसे उसके सभी पहलूओं विषयों के साथ किया जाए, वह सराहनीय रहेगा। क्रियात्मक शिक्षा में भी यदि समान विषयों को एक साथ सिखाया जाए, तो शिक्षा ज्यादा असरकारक हो सकती है। जैसे राग शिक्षण में समप्रकृतिक रागों को, या एक राग के प्रकारों को एक साथ सिखाना।

कई बार सैद्धांतिक अभ्यासक्रम में इतने प्राचीन विषयों को शामिल किया जाता है, जिनकी प्रमाणभूत माहिती मिलना मुश्किल हो। ऐसे विषयों को प्रायः अध्यापकों के द्वारा बस 'चला दिया' जाता है, जो

संगीत एवं प्रदर्शन कला संकाय, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा

विद्यार्थिओं को समझ में भी नहीं आता और वे रट्टाबाजी करके किसी भी तरीके से परीक्षा में लिख देते हैं। यह बिल्कुल अनुचित है। अभ्यासक्रम के विषय पढ़ाने के लिए अध्यापक काबिल होने चाहिए, और यदि नहीं है तो ऐसे विषय को अभ्यासक्रम में स्थान देना उचित नहीं है ।

अभ्यासक्रम में ऐसा अवकाश अवश्य होना चाहिए जिससे विद्यार्थी की रचनात्मकता का विकास हो । उसे अपनी कलानुसार काम करने का अवकाश अपनी शिक्षा के दौरान मिलना ही चाहिए। अपने शिक्षा काल में मौलिक काम करते वक्त वह यदि गलती भी करेगा तो उसे अध्यापकों द्वारा सुधारने पर उसे सही बात का ज्ञान होगा। सैद्धांतिक विषयों में विभिन्न पेटा विषय पर सोचकर, पढ़कर, अपनी निजी कल्पना, अपने विचारों से लिखना, वक्तव्य देना आदि अभ्यासक्रम में होना बहुत जरूरी है। उसी तरह क्रियात्मक शिक्षा में विभिन्न स्वर-लय-राग-ताल-भाव में अपनी कल्पनारूचि के अनुसार विद्यार्थी स्वयं रचनाएँ करे वह भी महत्वपूर्ण है, वह भी अभ्यासक्रम में होना चाहिए।

गायन-वादन-नर्तन इन तीनों कला के समावेश से संगीत बनता है। (नर्तन के तीन आयाम है नृत्त, नृत्य एवं नाट्य। अतः नाट्य भी नर्तन का ही अंश है ।) अतः यह तीनों कला एक-दूजे से संलग्न है। इसीलिए विद्यार्थी भले ही किसी एक कला का शिक्षार्थी हो उसे संगीत के अन्य दो पहलूओं का भी प्राथमिक ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

संगीत के सभी विद्यालयों में प्रायः सिर्फ शास्त्रीय संगीत का शिक्षण मिलता है। वैसे तो शास्त्रीय संगीत ही विधिवत् सीखना-सिखाना आवश्यक है, सुगम संगीत या लोकसंगीत में तो विद्यार्थी निजी सोच से काम कर सकता है। फिर भी उसका थोड़ा सा ज्ञान उसे अपने विद्यालय में कुशल अध्यापकों के द्वारा भी मिले, तो वह सराहनीय रहेगा। इस बात को ध्यान में रखकर संगीत के अन्य प्रकारों को भी विद्यालय के अभ्यासक्रम में कुछ प्रमाण में स्थान दिया जा सकता है।

वर्तमान समय में कई बार ऐसा होता है कि विद्यार्थी अपनी शिक्षा कुछ समय तक एक विद्यालय में प्राप्त करता है, बाद में अन्य विद्यालय में जाता है । अतः सभी विद्यालयों का अभ्यासक्रम एक समान बना दिया जाए, तो सुगमता ही जाएगी ।

अभ्यासक्रम इतना बड़ा भी नहीं होना चाहिए, जिसे सिखाने के लिए समयावधि कम पड़ जाए और उसे जल्दी में पूरा करना पड़े। ऐसा होने पर विद्यार्थी का ज्ञान अधूरा रह जाता है। आवश्यक पुनरावर्तन, रियाज, गहरी तालीम नहीं होने पर उसकी शिक्षा की मजबूती कम हो जाती है, जो कतई नहीं होना चाहिए । कई बार जो कुछ पाठ्यपुस्तक में संग्रहित है वही शुद्ध शास्त्रीय और शेष अशास्त्रीय, यह एक अजीब धारणा विद्यार्थियों में पाई जाती है। पाठ्यक्रम तक सीमित रहने की प्रवृत्ति ने शोध तथा निर्माण की दिशा को अवरूद्ध सा कर दिया है, फलतः जो कुछ उच्च कोटि का सामग्री यत्र-तत्र बिखरी हुई है उसे संकलित करने का और प्रयत्न नहीं किया जा रहा है तात्पर्य यह है कि संगीत कला एक संकुचित दायरे से निकलकर दूसरे संकुचित दायरे में जा फँसी है।

पाठ्यक्रम में जो कुछ हमारे संगीत प्रवर्तक लिख गए है वही उचित है, इस हठ ने अनेक आधुनिक लेखकों को हतोत्साहित किया है और यही कारण है पाठ्यक्रम त्रुटिपूर्ण है। पाठ्यक्रमों में सरल संगीत की उपेक्षा होने से विद्यार्थी उनसे दूर ही नहीं रहता वरन् घृणा करने लगा है।

सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण बात अध्यापक और विद्यार्थी का अभिगम है। अभ्यासक्रम चाहे कितना भी सुयोग्य हो अंत में सवाल उसके प्रति के अभिगम का है। 'चल जाता है' का अभिगम कई जगह देखने को मिलता है, जो बिल्कुल ही उचित नहीं है। अभ्यासक्रम की योग्य चीजें कायम बनी रखने के साथ ही उसमें आवश्यक परिवर्तन करना, उसे गंभीरतापूर्वक अनुसरण अध्यापकों एवं विद्यार्थियों का कर्तव्य है, होना चाहिए। और जो उपयोगी चीजें अभ्यासक्रम में नहीं है, उनको भी शिक्षण में स्थान देना चाहिए, क्योंकि आखिर अभ्यासक्रम मार्ग है, साधन है, मंजिल या साध्य तो संगीत ही है।

'संगीत के प्राचीन ग्रंथकार (महर्षि भरत, मतंग मुनि, शारंगदेव) एवं उनके ग्रंथ'

डॉ. गीता जोशी

वैदिक संगीत के पश्चात् लोकानुरंजन या विभिन्न प्रदेशों की रूचि के अनुसार तत्कालीन लौकिक संगीत ने 'गांधर्व' का स्वरूप धारण किया। विद्वानों के मतानुसार यह समय ईसा पूर्व चौथी या दूसरी शती का इस समय का प्रसिद्ध ग्रन्थ नाट्य-शास्त्र है। जिसके प्रणेता महर्षि भरत है। संगीत की दृष्टि से यह ग्रन्थ इसलिए महत्वपूर्ण समझा जाता है, क्योंकि सांगीतिक इतिहास में 'नाट्यशास्त्र' ही वह प्रथम ग्रन्थ है जिसमें शास्त्रीय संगीत की पूर्ण और प्रमाणित जानकारी लिपिबद्ध रूप से प्राप्त होती है। यहीं से संगीत क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से ग्रन्थ लेखन की प्रथा आरम्भ हुई। यद्यपि भरत से पूर्व वैदिक आरण्यक आदि एवं पुराणों में संगीत विषयक सामग्री थी उसी आधार पर उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र ग्रन्थ की रचना की, उन सभी का आधार भरत कृत नाट्यशास्त्र रहा है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से यदि वैदिक काल संगीत के विकास का प्रथम चरण है तो भरत-काल को संगीत के विकास का द्वितीय 'चरण' कहा जा सकता है।

महर्षि भरत एवं उनका ग्रंथ नाट्यशास्त्र- आचार्य भरत या महर्षि भरत का समय विद्वानों के मतानुसार ईस्वी पूर्व लगभग चौथी या दूसरी शती माना गया है। इसके द्वारा लिखित ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' है जो अति प्राचीन कृति है। इस ग्रन्थ की विशेषता इसी से लगाई जा सकती है कि इस ग्रन्थ में न केवल गीत वाद्य एवं नृत्य की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है बल्कि अन्य ललित कलाओं, साहित्य और साहित्य के अवान्तर विषय जैसे- काव्य, रस, छन्द, अलंकार आदि जितना विशद और व्यवस्थित निरूपण किया गया है, उतना विश्व के किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में हजारों वर्ष पूर्व से चली आ रही संगीत, नाट्य, साहित्य तथा संस्कृति की अनेक परम्पराओं एवं शाखाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

नाट्यशास्त्र में संगीत को 'गांधर्व' के नाम से पुकारा गया है। क्योंकि यह विद्या यानि यह कला गन्धर्वों को प्रिय थी, इसलिए इसका नाम 'गान्धर्व' पड़ा। भरत के मतानुसार 'गान्धर्व' गीत तथा वाद्यों के सम्मिलित प्रयोग का नाम है तथा तंत्र वाद्य एवं अन्य ताल वाद्यों का जो आश्रयी है वह गंधर्व है।

गांधर्व का आधार लौकिक संगीत था। गांधव का विकास यद्यपि जन-रूचियों के आधार पर किया गया लेकिन इसकी विशेषता थी कि इसमें वैदिक और पौराणिक दोनों प्रकार का पालन करते हुए, सर्वथा स्वतंत्र संगीत था जिसका उद्देश्य जन-रंजन करना था।

महर्षि भरत का उद्देश्य गीत संगीत नहीं था, उनका मूल प्रतिपाद्य विषय नाटक था जिसके माध्यम से वेद के गूढ सिद्धांतों को जनता जर्नादन के कल्याण के लिए प्रदर्शित करना था जिससे लोगों का जीवन आनंदमय है। इसलिए उन्होंने प्रसंगवश संगीत की चर्चा की है। जो अपने आप में पूर्ण एवं प्रामाणिक है। अतएव 'नाट्यशास्त्र' में, कुछ विद्वानों के मतानुसार, कुल 37 अध्याय है कुछ के अनुसार 36 अध्याय है। अतएव 28 अध्याय से 33 वें अध्याय तक गायन-वादन की विस्तृत व्याख्या की गई है

प्राध्यापिका, संगीत विभाग, हरिद्वार

और नाट्यशास्त्र के चौथे व पांचव अध्याय में नृत्य की पूर्ण शास्त्रीय जानकारी मिलती है इस प्रकार 28 से 33 वें यानि 6 अध्याय गीत, वाद्य और नृत्य से संबंधित होने के कारण सीधे संगीत शास्त्र से जुड़े हुए हैं। ये अध्याय निम्नवत् है-

(1) 28 वाँ अध्याय- इस अध्याय को अतोद्य 'विधान' का नाम दिया गया है। अतोद्य से अभिप्राय वाद्यों से है अतएव इस अध्याय में स्वर एवं लय ताल सभी प्रकार के वाद्यों का विवरण है।

स्वरांश प्रधान वाद्य या आतोद्य के अंतर्गत सभी प्रकार के तंत्रवाद्यों को लिया गया है। जिसमें मानव की कंठ तंत्री को भी एक प्राकृतिक तंत्र वाद्य माना गया है और उसे गात्रवीणा, शारीरिका या शारीरि वीणा का नाम दिया गया है। इसके अलावा जितने भी मनुष्य निर्मित तंत्र वाद्यों को दारवी वीणा पर स्वर, श्रुति, मूर्च्छना आदि के स्पष्टीकरण का आधार माना गया है। इसी अध्याय में स्वर, श्रुति, स्वरों के नाम क्रमशः षडज-ऋषभ-गांधार- मध्यम-पंचम-धैवत-निषाद है। जिन्हें संगीत में स रे ग म प ध नी की संज्ञा दी गई है जो आज भी संगीत में व्यवहृत है। इसी अध्याय में 22 श्रुतियाँ है और सात स्वर माने गये हैं। भरत ने दो स्वर विकृत माने है तथा भरत के षडज और मध्यम दो ग्राम माने हैं। इन दोनों ग्रामों में श्रुति और स्वरों के पारम्परिक संबंधों को एक प्रयोग द्वारा सिद्ध किया है, उस प्रयोग का नाम 'सारणाचतुष्टयी' रखा।

भरत ने अपने स्वर ग्राम में दो संवाद माने हैं। षडज-पंचम भाव और षडज मध्यम भाव। यें संवाद क्रमशः 13 और 9 श्रुतियों के अंतर पर होने के कारण सर्वादिक प्रिय संवाद है, जिन्हें पाश्चात्य संगीत Pertect Consonance कहा जाता है। इसी अध्याय में मूर्च्छना के प्रकार, 18 जातियाँ, वादी-संवादी, अनुवादी और विवादी स्वरों की उपयोगिता तथा स्वर एवं ताल जैसे सभी प्रकार के वाद्यों की सैद्धान्तिक विवेचना की है। चारों प्रकार के वाद्यों का विवेचन ही आगे चलकर वाद्य वर्गीकरण के नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

29 वाँ अध्याय- यह अध्याय मुख्यतः रस सिद्धांत से संबंधित है। इसी कारण इस अध्याय का नाम 'जातियों का रस विधान' है। उस समय 'जाति गायन' ठीक उसी प्रकार होता था, जिस प्रकार जातियों के गायन का मुख्य उद्देश्य रसात्मकता को उत्पन्न करना था। इसलिए इस अध्याय में रसों का विस्तार से विवरण दिया गया है। प्रत्येक स्वर से किन-किन रसों की उत्पत्ति होती है जैसे षड़ज, रिषभ से वीर एवं रौद्र रस गंधार, निषाद से करुण, मध्यम, पंचम से हास्य एवं श्रृंगार और धैवत स्वर से वीभत्य रस। इसी अध्याय में कंठ गत स्वरों और वीणा आदि तंत्रवाद्यों पर स्वरों के अभ्यास के लिए विभिन्न अलंकारों के विवरण दिया गया है। अर्थात गायन एवं वादन में स्वरों के निकास की लाक्षणिक व्याख्या। आज पाश्चात्यसंगीत में Voice Culture अर्थात आवाज की बनावट के सिद्धांत की चर्चा की जाती है। आज से हजारों वर्ष पूर्व इस ग्रंथ में Voice Culture और तंत्रवाद्यों पर निकलने वाले (Stroke) के लिए विधिवत् जानकारी दी गयी है। आज भी संगीत में आवाज सुधारने तथा सितार, सरोद जैसे तंत्र वाद्यों पर बोल को निकालने के लिए भरत- निर्दिष्ट अलंकारों और पल्टों का अभ्यास कराया जाता है।

30 वाँ अध्याय- इस अध्याय में सुषिर 'विधानाध्याय' अर्थात फूंक के द्वारा वंशी-बांसुरी आदि सुषिरवाद्यों का विवरण है। सुषिर वाद्य वें ही वाद्य कहलाते हैं जिनमें मुंह की फूंक द्वारा स्वरोत्पत्ति की जाती है। इसके अंतर्गत वंशी, बांसुरी तथा कलैरोनेट, नागस्वरम् आदि वाद्य आते हैं। इस अध्याय में बांसुरी वादन की समस्त लाक्षणिक जानकारी दी गयी है। संपूर्ण नाट्यशास्त्र में यह अध्याय कुल 13 श्लोकों का सबसे छोटा अध्याय है। जो केवल बांसुरी या वंशी से संबंधित है।

31 वाँ अध्याय- इस अध्याय में तालों से संबंधित सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। इसलिए इसका नाम ''ताल विधानाध्याय'' है। इसमें ताल-काल-क्रिया-ताल की वृत्तियाँ-ताल की चतस्त्र, त्रिस्त्र आदि जातियाँ, लय के विलम्बित-मध्य और द्रुत प्रकार। प्राचीन मार्गी ताले-चच्चपुट, चाचपुट, षटपिता, पुत्रक आदि तालों के विवरण, जिन्हें आज

मार्गी तालों का नाम दिया जाता है। गुरू-लघु-प्लुत आदि ताल की मात्राओं का विवरण दिया गया है।

32 वाँ अध्याय - इस अध्याय में प्राचीन संगीत में प्रचलित ध्रुवा गीतों के लक्षण एवं प्रयोग का विवरण है इसलिए इस अध्याय का नाम 'ध्रुवा विधानाध्याय' है। इस अध्याय में वैदिक संगीत में प्रचलित ऋक-पाणिका गाथा तथा सप्तगीतों की चर्चा है।

33 वाँ अध्याय- भरतकाल में वाद्यों को आतोद्य कहा जाता था। अतएव जितने भी अवनद्ध या ताल वाद्य है उनके संबंध में पूरी-पूरी जानकारी 33 वें अध्याय से प्राप्त होती है। अतएव इस अध्याय का 'अवनद्धातोद्य विधान' है। सभी प्रकार के ताल वाद्यों के आकार-प्रकार, बनावट, उनके प्रयोग की विधि एवं उनके स्वरूप पर पर्याप्त सामग्री इस अध्याय में प्राप्त होती है। इसी अध्याय से ज्ञात होता है कि उस समय अवनद्ध वाद्यों के 100 प्रकार प्रचलित थे "शतसंख्या प्रकीर्तिता" इसके अलावा भिन्न-भिन्न अवसर पर भिन्न-भिन्न वाद्यों के प्रयोग के विधान बताए गए है।

नाट्यशास्त्र के संगीत संबंधित अध्यायों में प्राप्त संगीत विषयक सैद्धान्तिक जानकारी से सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि महर्षि भरत एक त्रिकालदर्शी चिन्तक एवं तत्वदर्शी मनीषी थे। उनके अस्तित्व एवं उनके कार्यों के लिए एक मात्र 'नाट्यशास्त्र' अकेली ऐसी कृति है जो उन्हें गान्धर्व या भारतीय शास्त्रीय संगीत के आदि आचार्य एवं प्रामाणिक संगीत-ग्रंथकार के रूप में प्रतिष्ठित कर देती है। उनके बाद से अब तक संगीत का कोई भी ऐसा ग्रंथकार नहीं है जिसने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भरत - निर्दिष्ट संगीत बोधक सिद्धांतों को न अपनाया हो। वर्तमान संगीत में जो कुछ भी गाना-बजाना हो रहा है वह वास्तव में महर्षि भरत की ही देन है। इसलिए भरत काल को संगीत के विकास का 'द्वितीय चरण' कहा जाता है।

मतंग मुनि कृत ग्रंथ बृहद्देशीः- संगीत शास्त्र के इतिहास में महर्षि भरत के पश्चात् मतंग मुनि की उपाधि दी गई, ऐसा विद्वानों का मत है। संगीत शास्त्र के इतिहास में महर्षि भरत के पश्चात् मतंग मुनि का नाम आता है। विद्वानों के अनुसार इनके समय की अलग-अलग गणना का अनुमान लगाया गया है। इस ग्रंथ के निश्चित रूप से कई अध्याय रहे हैं। किन्तु लिपिबद्ध रूप न होने के कारण केवल अंतिम अध्याय प्राप्त होता है। जिसे छठा अध्याय भी कहा गया है।

1. इस ग्रंथ के ग्रंथकार मतंग मुनि चित्रा नामक वीणा के वादक थे। इसके अलावा किन्नरी नामक वीणा के अविष्कारक थे। किन्नरी वीणा वह वीणा थी जिसमें पर्दे लगे रहते थे। मतंग से पूर्व वीणाएँ बिना पर्दे के हुआ करती थी। सर्वप्रथम वीणा पर पर्दे लगाने की प्रथा का आरम्भ मतंग मुनि ने किया। आज भी तंत्र वाद्य सितार आदि पर पर्दे लगाने की विधि मतंग की किन्नरी वीणा के अनुसरण पर किया जाता है। तंत्रवाद्यों के क्षेत्र में मतंग मुनि द्वारा किया गया यह कार्य (वीणाओं पर पर्दे बांधने की प्रथा) एक क्रान्तिकारी कदम था।

2. इनके ग्रंथ में इनके पूर्व आचार्य, काश्यप, नन्दी, कोहल, दत्तिल, दुर्गशक्ति, याष्टिक, विश्ववासु, शार्दूल और विशाखिल आदि की चर्चा की गई है।

3. इस ग्रंथ की एक और विशेषता यह भी है कि सर्वप्रथम इसी ग्रंथ में आधुनिक प्रचलित 'राग' शब्द का न केवल प्रयोग मिलता है बल्कि राग की पारिभाषित रूप से व्याख्या भी की गई है। 'यौडसौध्यनि विशेषस्तु स्वरवर्ण विभूषित स राग कथितों बुधै' अर्थात स्वर और वर्ण से युक्त वह ध्वनि विशेष या स्वरावलि जो मन को आनंद दे, राग कहलाती है। आज भी 'राग' इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। उनके मतानुसार जातियों से ही रागों की उत्पत्ति हुई। जातियों के दस लक्षण ग्रह-अंश-न्यास आदि के भी विवरण मिलते हैं।

4. इनके ग्रंथ से आभास होता है कि जाति गायन भरत के समय पूर्ण विकास पर था कुछ नवीन राग भी प्रचलित हुए।

5. इनके मत से जातियों के पांच भेद में जिन्हें क्रमशः क्रम से शुद्धा, भिन्ना, बेसरा, गौडी और साधारण कहा जाता था। लेकिन मतंग ने जातियों

के सात भेद माने है- शुद्धा, भिन्ना, गौडी, साधारणी राग-जाति, भाषा-जाति और विभाषा-जाति। इनके आठ-आठ भेद थे।

6. मतंग ने 'देशी संगीत' का भी विवरण दिया है। देशी संगीत को महिला, बालक राजा आदि अपनी-अपनी इच्छा से और अपनी-अपनी बोली में गाते थे। यही देशी संगीत राग का लोकसंगीत कहा जा सकता है। उन्होंने देशी-संगीत की व्याख्या भी दी है- 'देशे-देश प्रवृतोडसौ ध्वनिर्देशीति संज्ञति' अर्थात् देश-देश की विभिन्न प्रवृत्तियों के अनुसार गाई जाने वाली ध्वनि या संगीत देशी संगीत कहलाता है।

7. भरत की तरह इस ग्रंथ में श्रुति, स्वर, उनकी व्याख्या, नाद, नाद की उत्पत्ति, अलंकार, गीतियाँ ग्राम, मूर्च्छना जाति गायन आदि के विवरण है।

8. इस ग्रंथ की एक विशेषता राग और उसकी व्याख्या है। दूसरी विशेषता 'किन्नरी वीणा' का निर्माणा किन्नरी वीणा ही एक ऐसी वीणा थी जिस पर पर्दे लगाए गए थे। यही प्रर्दा आजकल सितार आदि तंत्रवाद्यों पर भी प्रचलित है। किन्नरी वीणा पर चौदह पर्दे और अठारह पर्दे भी थे। किन्नरी पर तीन तार होते थे। आचार्य बृहस्पति के मतानुसार आधुनिक सभी तंत्री वाद्य किन्नरी वीणा के ही विकसित रूप हैं।

12. उन्होंने नाद यानि संगीत उपयोगी ध्वनि का विस्तार से विवरण दिया है। उनके मतानुसार गीत, वाद्य तथा नृत्य सभी कुछ नाद पर आधारित है। यहाँ तक कि समस्त जगत 'नाद' से व्याप्त हैं-

न नादेन बिना गीत न नादेन बिना स्वर
न नादेन बिना नृतंत स्मानादात्मकं

उन्होंने नाद के पांच भेदों का उल्लेख किया है। यथा-सूक्ष्म, अति सूक्ष्म, व्यक्त, अव्यक्त और कृत्रिम। एक ग्राम या सप्तम में स्वरों की सम्वादात्मकता यानि मधुरता भरत निर्दिष्ट नौ श्रुति और तेरह श्रुतियों के अंतराल से होती है।

संगीत शास्त्र की दृष्टि से यह ग्रंथ इतना महत्वपूर्ण है कि इस ग्रंथ पर लगभग सात टीकाओं का उल्लेख मिलता है। इन टीकाओं में संस्कृत भाषा में लिखी गई दो टीकाएँ उपलब्ध है। 14 वीं शती के सिंह भूपाल कृत 'संगीत रत्नाकर-टीका' 'दूसरी 15 वीं शती के कल्लिनाथ की टीका' और सभी टीकाएँ आज अनुपलब्ध है। गीत, वाद्य तथा नृत्य इन तीन कलाओं के समुच्चय बोधक संगीत की जिस परिभाषा का आज प्रचलन है उसे पंडित शारंगदेव ने ही लिखा था यथाः-

"गीत वाद्य तथा नृत्य त्रयं संगीत मुच्यते"

गीत, वाद्य और नृत्य का पूर्ण रूप से विवेचन 'संगीत' शब्द के रूप में प्रथम बार पंडित शारंगदेव ने ही अपने ग्रंथ में दिया। 'संगीत रत्नाकर' ग्रंथ में सात अध्याय है, जो निम्नवत् है।

संगीत रत्नाकर के सात अध्याय

1. प्रथम अध्याय-स्वराध्याय- यह स्वर श्रुति आदि से संबंधित है इसीलिए इसका नाम स्वराध्याय रखा गया है। इसमें नाद के सूक्ष्म स्वरूप की विवेचना की है। नाद के आहत और अनाहत प्रकारों का विश्लेषण, मानवीय कंठ और तंत्रवादों के सिद्धांतों के आधार पर किया गया है। कंठ के गुण-धर्म के आधार पर किया गया है। कंठ के गुण-धर्म आधार पर नाद के पांच प्रकारों यथा-पुष्ट, अपुष्ट, सूक्ष्म अतिसूक्ष्म और कृत्रिम का सूक्ष्म विवरण किया गया है।

आज पाश्चात्य संगीत में नाद के पांच भेद बताए जाते हैं। बास्स, आल्टों, सोप्रेनो और फाल्सेटों 13 वीं शताब्दी में पंडित शारंगदेव ने नाद के इन पांच प्रकारों का विवरण प्रामाणिक रूप से दे दिया था।

2. इसके अतिरिक्त शारंगदेव ने सारणा-चतुष्टयी, ग्राम, मूर्च्छना, तान निरूपण, वर्ण, अलंकार, विकृत स्वरों का निरूपण किया है। शारंगदेव द्वारा बताए गए गमक, अलंकार षडज ग्राम, मध्यम ग्राम और गान्धार का उल्लेख है। षडज और मध्यम ग्रामों का विवरण है किन्तु गान्धार ग्राम स्वर्गलोक स्थित बताया है। श्रुतियों की व्याख्या करने के लिए 'श्रुति वीणा' का निर्माण किया गया है।

3. शारंगदेव के समय मध्यम-ग्राम और गान्धार ग्राम की चर्चा होने पर भी आधुनिक संगीत की भाँति केवल एक ग्राम (षडज ग्राम) का प्रयोग होता

थे। उन्हों ने उन्होंने 7 शुद्ध स्वर 12 विकृत स्वर कुल 19 स्वर माने है।

4. एक ग्राम के स्वरों में परस्पर सम्वाद तत्व को प्रधानता दी। इसीलिए उन्होंने वादी, सम्वादी, अनुवादी और विवादी चार प्रकार के स्वरों को बताया दी है। सातों स्वरों का संबंध भिन्न-भिन्न रसों से माना है। 22 श्रुतियों सात स्वरों को विभाजित का 'श्रावण चतुष्टयी' की भी व्याख्या की है।

द्वितीय अध्याय- इस अध्याय को राग-विवेकाध्याय कहा गया है। इस अध्याय में ग्राम-राग व उनके विभागों का विवरण दिया गया है। उन्होंने 264 रागों का उल्लेख किया गया है। इन सभी रागों को उन्होंने ग्राम राग, राग भाषाग, उपांग, अंतर भाग, विभाग के रूप में वर्गीकरण किया गया है। जिसे विद्वानों ने "दस विधि वर्गीकरण" कहा है।

तृतीय अध्याय- तीसरा अध्याय प्रकीर्णाध्याय कहलाता है। इस अध्याय के अंतर्गत वाग्यकारों के उत्तम मध्यम और अधम ये तीन प्रकारों के लक्षणों की व्याख्या दी गई है। इसके अतिरिक्त गायक गायकों के गुण-दोष तथा गीत आदि के गुण-दोषों के संबंध में व्याख्या है।

चतुर्थ अध्याय: चौथे अध्याय का नाम प्रबंधाध्याय है। इस अध्याय में गान के दो भेदों का निरूपण किया गया है- अनिबद्धगान और निबद्धगान। आलाप, आलिप्तगान जैसे स्वरबद्ध रचनाएँ अनिबद्धगान थी और स्वर और तालबद्ध रचनाएँ निबद्ध गान थी। यह निबद्धगान, ध्रुवपद आदि रचनाएँ थी जिस प्रकार आज ध्रुवपद, धमार, ख्याल आदि सभी निबद्धगान कहलाती है। रत्नाकर में उल्लिखित निबद्धगान ध्रुवपद के रूप में प्रचलित है। रत्नाकर के समय निबद्धगान के रूप में 'प्रबंध' गीत शैली प्रचलित थी। जिसका पूरा विवरण रत्नाकर में मिलता है। पंडित शार्ङ्गदेव ने अपने ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' में तत्कालीन प्रबंध के 75 प्रकारों का उल्लेख किया है इसके अलावा प्रबंध के 6 प्रकार के अंग जैसे स्वर, बिरुद, पद, तेनेक, पाट और ताल है। प्रबंध के 75 प्रकारों का उल्लेख किया है इसके अलावा प्रबंध के 6 प्रकार के अंग जैसे स्वर, बिरुद, पद, तेनेक, पाट और ताल है। प्रबंध में चार खण्ड यानि धातुएँ होती थी जिन्हें उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग कहा जाता था। जिस प्रकार आजकल गायन शैली के दो भाग या खण्ड होते हैं स्थायी तथा अंतरा। प्रबंध के अतिरिक्त रूपक एवं वस्तु भी निबद्धगान के अंतर्गत आती थी।

पंचम अध्याय- इस अध्याय को तालाध्याय कहा गया है इसमें तत्कालीन समस्त तालों का विवेचन मिलता है। ताल की व्याख्या विभिन्न तालों एवं परम्पराओं का विवरण। छिन्न, मार्गिक तथा देशिक, ताल के तीन मार्ग, ताल की तीन वृत्तियाँ इन सभी में महर्षि भरत का अनुकरण मिलता है। मार्गी एवं देशी तालों का विवरण भी है।

षष्ठ अध्याय- यह अध्याय तत्कालीन प्रचलित स्वर एवं ताल संबंधित वाद्यों की जानकारी देता है। इसी कारण इस अध्याय का नाम वाद्याध्याय है। इसके समस्त वाद्यों के चार वर्गीकरण मिलते हैं। तंत्री पर स्वरोत्पत्ति किये जाने वाले वाद्य मुंह की फूँक से स्वरों उत्पन्न करने वाले वाद्य, चमड़े से मढ़े हुए ताल वाद्य एवं घनवाद्य, वीणा आदि, मुंह की फूँक वाले सुषिर वाद्य जैसे वंशी आदि, तालवाद्य जैसे पुष्कर, मृदंग (तबला) आदि वाद्य। घन वाद्य जैसे मंजीरा आदि। विभिन्न वाद्यों को बजाने का तरीका या वादन विधि का निरूपण। आज भी संगीत में वाद्यों के चार वर्ग-ततवाद्य, सुषिर वाद्य, घन एवं अवनद्ध वाद्य, माने जाते हैं।

सातवाँ अध्याय- संगीत रत्नाकर के इस सातवें अध्याय में नृत्य, नाट्य और नृत्त से संबंधित चारियों एवं उनके अंग आदि का विस्तार से विवरण मिलता है।

भरत और मतंग की भाँति इन्होंने भी सात शुद्ध स्वरों को निर्धारित श्रुतियों की अंतिम श्रुति पर माना है। जैसे षडज की चार श्रुतियाँ है, अतएव षडज स्वर चौथी श्रुति पर और ऋषभ की 3 श्रुतियों पर किया है। यद्यपि इन्होंने भरत कृत नाट्यशास्त्र की वर्ण्य-विषयों की व्याख्या की है, फिर भी इस ग्रंथ में कुछ मौलिक विचार भी है जैसे जातिगायन के स्थान पर राग गायन का प्रचलन स रे ग म प ध नी इस सात स्वरों के रूप में केवल एक ही षडज ग्राम, और तीव्र मध्यम स्वर का उल्लेख।

विभिन्न प्रदेशों की रूचि के अनुसार मार्गी संगीत के साथ देशी संगीत का विवेचन 'मार्गी' देशीति तद्वैविद्य तंत्र मार्ग स उच्यते' अर्थात मार्गी और देशी, संगीत के दो प्रकार है, जिसमें मार्गी शास्त्रोक्त है, और देशी संगीत लोगों की रूचि के अनुसार। 'गीत' शब्द की व्याख्या है- ''रंजकों स्वर संदर्भो गीत नित्यमीधीयते''। इनके ग्रंथ में संगीत के विकास के लक्षण है। परवर्ती विद्वानों ने अपने संगीत ग्रंथों में 'रत्नाकर' के उद्धरणों का विवरण दिया है। 'संगीत रत्नाकार' ग्रंथ दक्षिणी तथा उत्तरी दोनों संगीत के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. संगीत मणि- डॉ. महारानी शर्मा, श्री भुवनेश्वरी प्रकाशन इलाहाबाद।
2. भारतीय संगीत कोश- मूल विमलाकांत रॉय चौधरी, अनुवाद मदनलाल व्यास, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन नई दिल्ली।
3. भारतीय संगीतज्ञ एवं संगीत ग्रंथ- डॉ. श्रद्धा मालवीय, प्रकाशन कनिष्क पब्लिशर्स, दरिया गंज नई दिल्ली-2010।
4. नाट्यशास्त्र का इतिहास- डॉ. पारसनाथ द्विवेदी, चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली-2012।
5. भारतीय संगीत का इतिहास, शरतचन्द्र परांजपे
6. नाट्यशास्त्र- भरत (मूल ग्रंथकार), शास्त्री श्री बाबूलाल शुक्ल, (सम्पादक एवं व्याख्याकार), चौखम्बा पब्लिकेशन वाराणसी।
7. भरत का संगीत सिद्धांत- बृहस्पति श्री कैलाश चन्द्रदेव, प्रकाशन, उ.प्र. हिन्दी संस्थान।

लोकगीतों का वर्गीकरण

आरती वाही

जो संगीत जनजीवन में जनसाधारण द्वारा गाया जाय वही लोक गीत है। अर्थात् लौकिक जीवन में लोक संगीत के द्वारा उत्सव इत्यादि के माध्यम से जो भी गीत प्रचलित है। वही लोक संगीत है। किसी भी प्रदेश का लोक-संगीत वहाँ की संस्कृति का अविभाज्य अंग होता है।

लोक साहित्य की सबसे प्रधान तथा लोकप्रिय विधा लोक गीत है इसे निम्नांकित छः श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है-

1. संस्कार सम्बन्धी गीत
2. ऋतु सम्बन्धी गीत
3. व्रत त्योहार सम्बन्धी गीत
4. जाति सम्बन्धी गीत
5. श्रम सम्बन्धी गीत
6. विविध गीत

1. संस्कार सम्बन्धी गीत :-

संस्कार सम्बन्धी गीत वे हैं, जो विभिन्न संस्कार के अवसर पर गाये जाते हैं। हमारे धर्मशास्त्रियों ने 16 संस्कार का विधान किया है, परन्तु लोकजीवन में केवल 6 संस्कारों का ही सम्पादन विशेष रूप से किया जाता है। जो निम्नांकित है-(1) पुत्र जन्म, (2) मुण्डन, (3) यज्ञोपवीत, (4) विवाह, (5) गवना, (6) मृत्यु।

(1) पुत्र जन्म संस्कार

जब किसी व्यक्ति के घर पुत्र का जन्म होता है, तब अनेक प्रकार के गीत गाये जाते हैं, जिसमें "पुत्रजन्म" के पूर्व गर्भिणी की दोहद तथा प्रसवपीड़ा का उल्लेख पाया जाता है। पुत्र के उत्पन्न होने के पश्चात् माता-पिता के उल्लास का वर्णन इन गीतों में बड़ी सुन्दर रीति से किया गया है।

(2) मुण्डन संस्कार

जब बालक एक, तीन, पाँच या सात वर्ष की आयु को प्राप्त करता है, तब विषम वर्ष में उसका "मुण्डन" संस्कार सम्पन्न किया जाता है। यह शुभकार्य किसी प्रसिद्ध तीर्थ स्थान में सम्पन्न होता है। ज्यादातर लोग विन्ध्यांचल मंदिर में जाकर मुण्डन संस्कार कराते हैं। यदि गाँव पर ही यह संस्कार सम्पन्न कराना होता है तो किसी नदी या सरोवर के किनारे सम्पन्न होता है। इस अवसर पर स्त्रियां जो गीत गाती हैं, उसे "मुण्डन संस्कार गीत" कहते हैं।

(3) यज्ञोपवीत संस्कार

हिन्दू समाज में जनेऊ संस्कार अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। यज्ञोपवीत संस्कार ब्राह्मण, क्षत्रीय एवं वैश्य में प्रचलित है, किन्तु विशेषकर ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के लिए। इसे उपनयन संस्कार भी कहते हैं।

(4) विवाह संस्कार

जनेऊ संस्कार के पश्चात् विवाह किया जाता है, जिसके लिए शास्त्रों में अनेक विधि-विधान वर्णित हैं।

शोध छात्रा संगीत एवं मंच कला संकाय, बी.एच.यू., वाराणसी

(5) गवना संस्कार

विवाह के पश्चात् प्रायः पहले, तीसरे या पाँचवे वर्ष में गवना करते हैं। गवना में बेटी की विदाई की जाती है तथा मिठाई आदि टोकरियों में दी जाती है।

(6) मृत्यु संस्कार

अंतिम संस्कार मृत्यु है। इस अवसर पर भी अनेक विधि विधान किये जाते हैं।

2. ऋतु सम्बन्धी गीत

ऋतु गीत के अंतर्गत निम्नलिखित पाँच प्रकार के गीत आते हैं -(1) कजली, (2) हिंडोला, (3) होली (4) चैता, (5) बारहमासा।

भादो मास की कृष्ण पक्ष तृतीया को "कजली तीज" कहा जाता है इस अवसर पर स्त्रियाँ अनेक प्रकार की गीत गाती हैं। उत्तर प्रदेश में कजली के गीत सर्वत्र गाये जाते हैं परन्तु मिर्जापुर की कजली बड़ी प्रसिद्ध मानी जाती है इस दिन मिर्जापुर में बड़ा भारी मेला लगता है, इसमें सम्मिलित होने के लिए हजारों व्यक्ति आते हैं। "हिंडोला" वे गीत हैं, जो सावन के मन भावन मास में गाये जाते हैं। बाग बगीचों में झूले पड़ जाते हैं जिन पर बैठकर स्त्रियाँ अपने कोकिल-कण्ठ से मधुर गीत गाती हुई श्रोताओं के मन को बरबस मोह लेती है। "होली" के अवसर पर जो फगुआ के गीत गाये जाते है उनमें मस्ती भरी रहती है। "चैता" के गीत बड़े ही मधुर तथा मनमोहक होते है इनके राग हृदय स्पर्शी होता है। इसे भोजपुरी में घाटों कहा जाता है। वर्ण्य-विषय प्रेम होता है। "बारहमासा" वे गीत है, जिनमें किसी विरहिणी स्त्री क वर्ष के प्रत्येक मास में अनुभूत कष्टों का हृदय द्रावक वर्णन होता है।

3. व्रत त्यौहार संबंधी गीत

भोजपुरी स्त्रियाँ वर्ष के प्रायः प्रत्येक मास में किसी न किसी व्रत का अनुष्ठान करती है, जिनमें प्रधानतया निम्न है - (1) नागपंचमी (2) बहुरा (3) गोधन (4) पिंड़िया और (5) छठी माता।

श्रावण शुक्ल पंचमी को 'नागपंचमी' के नाम से पुकारा जाता है। गाँवों में यह 'नागपचैयाँ' के नाम से प्रसिद्ध है। चूंकि इस दिन नाग अर्थात् सर्प की पूजा की जाती है। इस दिन सारे घर को गोबर से लीपकर एक कटोरे में खीर अर्थात् धान का लावा तथा दूध रखकर नागदेवता को अर्पित किया जाता है। यह पूजा प्राचीन काल से प्रचलित है। भाद्रकृष्ण चतुर्थी को 'बहुरा' जिसे बछुला भी कहते हैं। स्त्रियाँ इस व्रत को पुत्र की प्राप्ति के लिए करती है। अतः इन गीतों में माता का पुत्र के प्रति अकृत्रिम स्नेह का वर्णन मिलता है। कार्तिक शुक्ल द्वितीया को 'गोधन' का व्रत मनाया जाता है। इस दिन स्त्रियाँ गोबर से मनुष्य की आकृति बनाकर उसे मूसल से कूटती है। इस प्रक्रिया को 'गोधन कूटना' कहते है। भोजपुरी क्षेत्र की लड़कियाँ "पिड़िया" व्रत अपने भाई लिये करती है। इस अवसर पर जो गीत गाये जाते है, उनमें भाई-बहिन के प्रेम का वर्णन पाया जाता है। 'छठी माता' का व्रत पुत्र की प्राप्ति के लिए किया जाता है।

4. जाति संबंधी गीत

ये वे गीत है जिन्हें विभिन्न जाति के व्यक्ति ही विशेष रूप से गाते है। जैसे-'बिरहा' नामक गीतों को अहीर लोग ही प्रायः गाया करते हैं। इस संबंध में एक कहावत प्रचलित है कि- **कतनो अहिरा होई सुजान, बिरहा छोड़ि न गावै आन।**

एक हरिजन जाति के लोग 'पचरा' नामक गीत गाते है जिनमें किसी बीमार व्यक्ति को निरोग कर देने के लिए किसी देवी व देवता से स्तुति की जाती है।

5. श्रम संबंधी गीत

श्रम गीतों के अंतर्गत रोपनी, सोहनी, जंतसार और चरखा के गीतों को प्रधान स्थान है। खेत में धान को रोपते समय जो गीत गाये जाते है उन्हें 'रोपनी' के गीत कहते है। इसी प्रकार खेत में से व्यर्थ के पौधों को 'सोहते' या निकालते समय के गीत ' सोहनी' कहलाते है। घर में आटा पीसते समय के गीतों को 'जंतसार' कहते है तथा चरखा चलाते समय के गीत 'चरखा गीत' के नाम से प्रसिद्ध है।

6. विविध गीत

कुछ ऐसे भी लोक गीत पाये जाते है, जिनका अंतर्भाव उपर्युक्त श्रेणी विभाजन में नहीं हो सकता। वे गीत है - (1) झूमर, (2) अलचारी (3) पूर्वी (4) निर्गुण (5) भजन (6) खेल के गीत। "झूमर" वे गीत है जो पुत्रजन्म, विवाह और गवना के अवसर पर गाये जाते है। संभवतः झूम-झूम कर गाने के कारण ही इनका नाम झूमर पड़ गया है। ये गीत बड़े ही सरस तथा श्रृंगार रस से भरे हुए होते है। "अलचारी" के गीतों में विरहिणी पत्नी की लाचारी का वर्णन पाया जाता है। "पूर्वी" वे गीत है जो उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों-विशेषकर बलिया, सारन और भोजपुर में गाये जाते हैं, इन पूर्वी गीतों की लय बड़ी सुरीली तथा मनमोहक होती है। "मोरी अटरिया हो रामा, सुगना बोले हो।" "पूर्वी" गीत बड़ी मनमोहक तथा हृदयवर्जक है। 'निर्गुण' के गीतों में भगवान से भक्त की प्रार्थना निहित है। इनकी प्रथम पंक्ति 'किया हो मोरे रामा' से प्रारम्भ होती है। 'भजन' में भक्तों के हृदय का उद्‌गार दिखाई पड़ता है। इनमें राम, कृष्ण, शिव, पार्वती और गंगा की स्तुतियाँ पाई जाती है। 'खेल के गीत' वे गीत है, जिन्हें बालक विभिन्न खेलों को खेलते समय गाते रहते हैं।

ये गीत हर प्रांत के संस्कारों के अनुरूप विविध परिवेश और परिस्थितियों को भी स्पष्ट करता रहता है। समाज के किसी भी देश-विदेश और स्थान विशेष के जन समुदाय की प्रचलित परम्परा और आचार-विचार के आधार पर ही यह गीत गाया जाता है।

उत्तर प्रदेश अपने ग्रामीण जीवन व साहित्यिक दृष्टि से सम्पन्न प्रदेश है। उत्तर प्रदेश के भिन्न-भिन्न अंचलों का संगीत अपनी मनमोहक छटा से जनसाधारण को एकता के सूत्र में बाँधता है। उत्तर प्रदेश में कई प्रकार की संगीत शैलियाँ प्रसिद्ध हैं। जैसे-अवध, ब्रज, गढ़वाली, कुमाऊँ तथा भोजपुरी लोकगीत हैं। उत्तर प्रदेश को लोकसंगीत की खान कहा जाय तो अतिश्याक्ति नहीं होगी। उत्तर प्रदेश में मुख्य रूप से गाई जाने वाली लोक गीत निम्न है-

सोहर- यह गीत तब गाया जाता है जब किसी के घर पुत्र जन्म लेता है ये गीत इस प्रकार है-

स्याम बरन रघुनाथ कुण्डल काने सोहेला हो,
ललना रूनू झून बाजे पग पायल खेले कन्हा अगना हो।

सिन्दूर दान- विवाह के समय कई रस्में होती है और इन सभी रस्मों में एक रस्म है सिन्दूर दान जिसमें इस प्रकार के गीत गाये जाते हैं-

हटिया क सिन्धूरा महंग भइले बाबा,
चूनरी भईल अनमोल

गवना- विवाह के बाद पहले, तीसरे या पाँचवे वर्ष में गवना करते है इसके गीत इस प्रकार है-

बेटी चली ससुरार दुल्हन बनीके

लचारी- इसमें पत्नी के विरह के गीतों का वर्णन होता है जो इस प्रकार है-

बाजै रूनुक-झुनुक पग पैजनियाँ

यज्ञोपवित- इसे जनेऊ भी कहा जाता है इसे धारण करते समय जो गीत होते है वो इस प्रकार है-

माघ ही बरूवा तेज चले बैशखे पहुचेला हो

निर्गुण- निर्गुण के गीत इस प्रकार है-

भवरा के तोहरा संग जाई

कजली- यह गीत भादों माह में गाये जाते है इसके गीतों में भादों माह के मौसम का वर्णन होता है जो इस प्रकार है-

अरे रामा बरखा की आई बहार, बदरिया घिर-घिर आईना

चैती- ये गीत चैत माह में गाया जाता है यह गीत मधुर तथा मनमोहक होते हैं। जो इस प्रकार है-

रसे-रसे डोले बयरिया हो रामा चईत महिनवा

झूमर- ये गीत पुत्र जन्म, विवाह और गवने के अवसर पर गाये जाते है जो इस प्रकार होते है-

फूलवरिया की कैसी बहार, सुन्दर है जानकी

बारहमासा- ये गीत इस प्रकार के होते है-

पिया परदेश गईले सुनी मोर सेजरिया
आहिये जियरा लागे चाहूँ ओर अन्धियरिया

होली- इसके गीत अत्यंत उत्साह से भरे होते हैं जो इस प्रकार है-

सिर बाँधे मटुका खेलब होरी

इस प्रकार उक्त लोक गीतों में मानव जीवन की छोटी-बड़ी भावनाओं और संवेगों का अत्यंत शब्द चित्रमय अभिव्यक्ति दिखाता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ., यादव द्विजराम, लोकसाहित्य, शिल्पी प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण- 1993।
2. डॉ., मिश्र विद्यानिवास, चन्दन चौक; (उत्तर प्रदेश के लोकगीतों का संकलन), उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी, प्रथम संस्करण-1989।
3. जौहरी, सीमा, संगीतायन, राधापब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003।
4. डॉ., उपाध्याय, रविशंकर, भोजपुरी लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन, कल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2006।
5. तिवारी, हंसकुमार शर्मा एवं शर्मा राधावल्लभ, भोजपुरी: संस्कार-गीत बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण-2000।

पं॰ भीमसेन जोशी जी की सांगीतिक यात्रा

शिल्पी मित्तल

भारतीय शास्त्रीय संगीत जगत के महान कलाकार पद्मविभूषण स्व॰ पं॰ भीमसेन जोशी जी ने सिर्फ शास्त्रीय संगीत की दुनिया में ही नहीं बल्कि सुगम संगीत, भाव संगीत, मराठी संगीत, फिल्म संगीत आदि सभी क्षेत्रों में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जिसे भुलाया नहीं जा सकता। संगीत जगत में आपको बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। संगीत की साधना ही आपके जीवन का मुख्य उद्देश्य था। अतः संगीत साधना के पथ पर चलते - चलते आपने उस चरमोत्कर्ष अवस्था को प्राप्त किया। आपके द्वारा संगीत के प्रति किये संघर्ष सदैव अविस्मरणीय रहेंगे।

पं॰ भीमसेन जोशी जी का जन्म 14 फरवरी सन् 1922 को कर्नाटक के धारवाड जिले के गदग नामक गाँव में हुआ था। आपके पिता श्री गुरूराज जोशी जी शैक्षणिक क्षेत्र में शिक्षक थे। आपके पिता जी की विशेष इच्छा थी कि उनका पुत्र कला - विज्ञान, औषधि - विज्ञान या इंजीनियरिंग में उपाधिधारी बने, किन्तु संगीत के प्रति पुत्र की अटूट निष्ठा को देख गुरूराज जोशी जी ने उन्हें सांगीतिक प्रतिभा के विकास का मार्ग प्रशस्त कराने का ही निश्चय किया। आपकी माता रमाबाई कट्टी के मधुर कण्ठ से निकले भजन और लोरियों ने आपको बचपन से ही संगीत के साधना - पथ पर चलने हेतु अग्रसित किया, इसीलिये आपको संगीत की आत्मा और विराट स्वरूप की खोज बचपन से ही रही। गुरूराज जोशी जी ने सबसे पहले अपने पुत्र को कण्ठ - संगीत की शिक्षा देने के लिए किसी चन्नप्पा कुर्टकोटि को पाँच रूपये के मासिक देयधन पर रखा। चन्नप्पा जी जन्म से ही धोबी थे, व संगीतज्ञ भी। उन दिनों इतने धन का नियमित भुगतान करना बड़ी बात थी क्योंकि पं॰ गुरूराज जी एक सामान्य स्कूल - शिक्षक थे तथा परिवार के पालन का भार भी उनके कंधों पर था। कुछ मुद्रा - भुगतान कर अपने पुत्र को व्यवस्थित संगीत - शिक्षा दिलाना चाहते थे। पं॰ भीमसेन जोशी जी ने चन्नप्पा जी से सात महीने तक शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने भीमसेन जी को भैरव, भीमपलासी और हारमोनियम - वादन सिखाया। इसके पश्चात् पं॰ गुरूराज जोशी जी ने पं॰ भीमसेन जोशी जी को आगे की शिक्षा देने के लिए पं॰ यामाचार्य जी को रखा। यामाचार्य जी कई मध्ययुगीन राज्यों की राजधानी बादामी के निवासी और विद्वान धर्मगुरू, गायक एवं हारमोनियम वादक थे। उन्होंने भीमसेन जोशी जी को कण्ठसंगीत और हारमोनियम - वादन सिखाने में सहायता की।

एक दिन भीमसेन जोशी जी ने बचपन में एक दुकान पर उस्ताद अब्दुल करीम खाँ की ध्वनिमुद्रिका सुनी। जिसमें उस्ताद अब्दुल करीम खाँ की राग बसन्त का **"फगवा ब्रज देखन को चलो री "** और राग झिंझोटी की ठुमरी **"पिया बिना नहीं आवत चैन"** जैसी गायी रचनाओं को सुनकर जोशी जी इतने सम्मोहित हुए कि उन्होंने संगीत को अपने जीवन का आदर्श बना लिया और दस वर्ष की अल्पायु में संगीत प्रशिक्षण लेने हेतु घर छोड़ दिया।

शोध छात्रा संगीत एवं मंच कला संकाय, बी.एच.यू., वाराणसी

कुछ अनुभव भी नहीं था, उनके पास रूपये भी नहीं थे, फिर भी बिना टिकट रेल - यात्रा कर आप बम्बई, बीजापुर, रामपुर, दिल्ली, लखनऊ, ग्वालियर, कोलकाता, पंजाब, जालंधर आदि शहरों में संगीत शिक्षा हेतु दर - दर भटके। जब आप बीजापुर पहुँचे तो वहाँ कुछ सप्ताह बिताने के बाद आपकी मुलाकात एक संगीत प्रेमी राहगीर से हुई जो आपके गायन से बहुत प्रभावित हुए और बोले कि यदि वास्तव में आप अपनी सांगीतिक आकांक्षा पूरी करना चाहते हो तो आपको ग्वालियर जाना चाहिये। यह सुनकर भीमसेन जोशी जी के मन में उत्साह जगा और वह बीजापुर से ट्रेन द्वारा ग्वालियर के लिये चल दिये यद्यपि जोशी जी को मार्ग का कुछ पता नहीं था और वह बिना टिकट पुणे जाने वाली ट्रेन में चढ़ गये। यात्रा के दौरान उन्होंने अपने संगीत से सह - यात्रियों और टिकट - निरीक्षकों का मनोरंजन किया। फिर आप पुणे स्टेशन पर उतर गये, आपको यह भी नहीं पता था कि पुणे हिन्दुस्तानी संगीत के कई दिग्गज कलाकारों का शहर है। पुणे में किसी ने जोशी जी को मास्टर कृष्णराव फुलम्ब्रीकर का शिष्यत्व ग्रहण करने की सलाह दी। आपने मास्टर कृष्णराव से भेंट की और अनुरोध भी किया कि, "आप मुझे अपने शिष्य के रूप में स्वीकार कीजिए।" कृष्णराव जी ने भीमसेन जोशी जी से एक गीत सुनाने को कहा और वह जोशी जी की सांगीतिक प्रतिभा से प्रसन्न भी हुए, लेकिन कृष्णराव जी ने जोशी जी से सौ रूपये की मासिक फीस माँगी। इस शर्त को पूरा कर पाना आपके लिये असम्भव था। पं. भीमसेन जोशी जी निराश अवश्य हुए लेकिन उनका नैतिक बल कायम था। इसी प्रकार अनेक यात्रा कर अपनी मंजिल तक पहुँचने में उन्हें लगभग तीन महीने लगे। कहा जाता है कि जब मन में सच्ची लगन होती है तो साधना को देर सबेर गंतव्य अवश्य मिलता है। जब भीमसेन जोशी जी ग्वालियर पहुँचे तो वह सर्वप्रथम उस्ताद हाफिज अली खाँ साहब से मिले। उस्ताद हाफिज अली खाँ साहब ने आपको राग 'मारवा' और राग 'पूरिया' सिखाया। फिर आप हाफिज अली खाँ साहब की सलाह पर खड़गपुर चले गये, जहाँ आपने कुछ महीनों तक केशव मुकुंद गुडे से संगीत की तालीम ली। इसके बाद आप कलकत्ता चले गये जहाँ आपने पहाड़ी सान्याल की मदद से उस्ताद बादल खाँ के शिष्य भीष्मदेव चटर्जी से भी कुछ समय तक गायन की शिक्षा प्राप्त की। जब भीष्मदेव चटर्जी जी ने आपसे फिल्मों में काम करने को कहा तो आप नाराज होकर दिल्ली चले गये। दिल्ली में आपने उस्ताद चाँद खाँ से गायन सीखने की कोशिश की, मगर उस्ताद ने आपको नहीं सिखाया। फिर आप जालंधर चले गये, जहाँ आपने आर्य संगीत विद्यालय के संचालक भक्त मंगतराम से दो साल तक ध्रुपद - गायन की तालीम ली। जालंधर में ही आपको हरिवल्लभ संगीत सम्मेलन में पं. विनायक राव पटवर्धन का गायन सुनने को मिला। विनायक राव पटवर्धन की सलाह पर आप कुन्दगोल आ गए, जहाँ आपकी भेंट सवाई गंधर्व जी से हुई। सवाई गंधर्व जी से मिलने के बाद जोशी जी ने उनसे शिष्यत्व ग्रहण किया। सवाई गंधर्व जी ने आपको शुरू के कुछ वर्षों तक कुछ नहीं सिखाया। वह यह देखना चाहते थे कि जोशी जी को सच में संगीत में रूचि है भी या नहीं। अन्ततः जब पं. सवाई गन्धर्व जी ने पं. भीमसेन जोशी जी को सिखाना शुरू किया, तो वह सुबह चार बजे से दो घंटे मन्द्र साधना, फिर तीन घंटे राग तोड़ी का रियाज, अपराह्न चार बजे से राग मुल्तानी की शिक्षा और अंतिम बैठक में राग पूरिया का प्रशिक्षण दिया करते थे। जोशी जी ने कठिन परिश्रम करके सवाई गन्धर्व जी से सांगीतिक शिक्षा प्राप्त की। पाँच सालों तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद आप घर लौटे तो आपके पिताजी ने आपके रियाज के लिए चार संगतकारों की व्यवस्था की। आप उनके साथ रोजाना 12 - 16 घंटे रियाज किया करते थे।

पं. भीमसेन जोशी जी का पहला कार्यक्रम 21 वर्ष की अवस्था में गंगूबाई हंगल के गाँव में हुआ था। आपको गायन के पारिश्रमिक के रूप में 20 रूपये मिले। एक बार मुम्बई की एक महफिल में आपने बेगम अख्तर, रसूलन बाई बेगम और मुश्ताक हुसैन खाँ साहब को सुना तो आप फिर एक बार घर

छोड़कर उत्तर भारत की ओर निकल गए। रामपुर में आपने मुश्ताक हुसैन खाँ साहब से सीखा। फिर आप लखनऊ आ गए, जहाँ आपको बेगम अख्तर की सिफारिश पर रेडियो में 35 रूपये की माहवार पर रख लिया गया। पिता की इच्छा से 1942 में आप मुम्बई आ गये और रेडियो में 'ए' क्लास गायक की नौकरी करने लगे। गुरू सवाई गंधर्व की साठवीं वर्षगांठ पर 1946 ई॰ में पुणे में आपको गाने का अवसर मिला। जहाँ आपने राग मियाँ मल्हार का गायन प्रस्तुत किया। इस राग का श्रोताओं पर जादूई असर हुआ। यह पं॰ भीमसेन जोशी जी के भाग्योदय का वर्ष था। आपकी लोकप्रियता आकाशवाणी के कार्यक्रमों द्वारा भी बढ़ने लगी और आपको गायन - कार्यक्रम के लिए निमंत्रण भी मिलने लगे, किन्तु वास्तविक लोकप्रियता आपको अपने गुरू की साठवीं वर्षगांठ के अवसर पर पुणे में ही मिली। प्रत्येक श्रोता की यह निश्चित धारणा थी कि संगीत क्षितिज पर एक श्रेष्ठ प्रतिभा का उदय हुआ है, जिसका श्रेय पं॰ भीमसेन जोशी जी को जाता है। जोशी जी ने अपनी प्रगाढ़ मेहनत से सांगीतिक जगत में ऐसी छाप छोडी, जिसे भुलाया नहीं जा सकता। इस अदम्य, अद्‌भुत शक्ति व संगीत प्रतिभा के धनी पं॰ भीमसेन जोशी जी के प्रति, हम सभी संगीत जगत, सदैव नतमस्तक रहेंगे।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

1 किराना घराने की गायकी व बन्दिशों का मूल्यांकन। लेखक - धर्मपाल जी
2 व्यक्ति और संगीत, लेखक - मोहन नाडकर्णी
3 पं॰ भीमसेन जोशी, लेखक - वसंत पोतदार
4 संगीत कला विहार - मार्च-2011 , जून-2011
5 संगीत पत्रिका - दिसम्बर-2012 , मार्च-2013

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन : गायकी एवं शिक्षण पद्धति में 'स्वर-साधना की चुनौतियाँ'

डॉ. आरती

वैदिक साहित्य से यह ज्ञात होता है कि संगीत का सम्बन्ध सामवेद से है। भारतीय संगीत की उत्पति संगीत शास्त्रकारों ने सामगान से स्वीकार किया है। आवलायन गृह्यसूत्र में 'सा' का तात्पर्य ऋग और 'अम' का तात्पर्य स्वर है। यहीं से स्वर एवं शब्द की घनिष्ठता प्रारम्भ हुई अर्थात् सामगान में ऋगवेद के मंत्रों को ही सस्वर गाया गया।

'ओम्' से ही सामगायक गान प्रारम्भ करते हैं। अक्षररूप नादब्रह्म 'ऊँ' है। ओंकार का उच्चारित रूप घण्टे की अनुरणनयुक्त या आँसयुक्त ध्वनि के समान दीर्घकाल तक ध्वनित होने वाला तथा बिना वाणी के प्राणों द्वारा उच्चारित नाद बताया गया है। अन्य वर्णों के समान इसे क्षणिक उच्चारण से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इसके सहज उच्चारण में भी नादरूप की दीर्घता आती ही है, इसे ही सांगीतिक भाषा में 'स्वर' कहते हैं। यही कारण है कि हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन स्वर-साधना पर पूर्णतः आश्रित है।

प्राचीन समय में शास्त्रीय संगीत शिक्षण, गुरू-शिष्य परम्परा के रूप में होता था। यहाँ शिष्य अपना पूर्ण-समर्पण अपने गुरू के प्रति रखते थे। मुख्य रूप से गायकी के लिए स्वर पर विशेष महत्व दिया जाता था। यहाँ कंठ-संस्कार पर विशेष बल दिया जाता था। गुरूमुख से गाये गए स्वरों को शिष्य तब तक साधते थे, जब तक कि गुरू को संतुष्ट न कर दें। यहाँ स्वर साधना के लिए शिष्य को एक उपयुक्त आयु में गुरू से दीक्षा, या घराने युग के समय गंडा-बन्धवाने का अत्यधिक महत्व हुआ करता था। यह बाल्यावस्था में ही प्रारम्भ हुआ करता था। गुरू के निरन्तर निरीक्षण में प्रतिदिन शिष्य अपनी साधना करते थे। शिष्य को खड़ज अभ्यास तथा मन्द्र-साधना पर विशेष रूप से ध्यान देना पड़ता था। हमारा भारतीय शास्त्रीय संगीत आदि काल से ही आध्यात्म से जुड़ा हुआ है; अतः स्वर-संस्करण के लिए शिष्य को अपनी आध्यात्मिक उन्नति पर भी ध्यान देना पड़ता था।

सर्वप्रथम संगीत के विद्यार्थी स्वर को पहचानेंगे, तभी उसकी साधना या अभ्यास कर पायेंगे। हमारे भारतीय शास्त्रीय संगीत के स्वर पाश्चात्य के नैचुरल या टेम्पर्ड स्केल से बिल्कुल भिन्न है। जिस प्रकार वाद्ययन्त्र वादन में सप्तक के स्वरों में मिलाये जाने वाले वाद्ययन्त्र उपलब्ध हैं, उस प्रकार कंठ संगीत के लिए कोई भी वाद्ययन्त्र नहीं हो सकते। तात्पर्य यह है कि कंठ गायन के लिए ऐसे आधार देने वाले वाद्ययन्त्र होने चाहिए जिससे गायक के सुरीले कर्णेन्द्री अपनी गायकी के अनुरूप स्वरों को पहचान सकें। गायन के लिए आवश्यक आधार देने वाले तन्त्रीवाद्य तानपूरे के द्वारा सहायक नाद के रूप में गायक को सभी स्वर प्राप्त होते हैं, परन्तु इसके लिए उपयुक्त कर्णेन्द्री जिसे स्वर ज्ञान हो, होना परम् आवश्यक है। जब हम यह सब जानते ही है, तो क्या कारण है कि हारमोनियम जैसे पाश्चात्य स्वरों वाले वाद्य

पूर्व शोध छात्रा विश्वविद्यालय संगीत विभाग, तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

हो सुनियोजित शास्त्रीय संगीत की कक्षा में प्रवेश देते हैं। अतः हमें ज्ञात है कि शास्त्रीय संगीत के स्वर-साधना में पाश्चात्य वाद्य का कोई योगदान नहीं है। तानपूरे के तारों पर सही प्रकार से स्वर मिलाकर सप्त-स्वरों को सही प्रकार ठहराव के साथ लगाना ही स्वर-साधना कहलाता है।

स्वर-साधना के लिए मुख्य चार तत्वों पर विशेष बल दिया जाना चाहिए :-

1. उचित मार्गदर्शन
2. सही उम्र में स्वर-साधना की शुरूआत
3. उपयुक्त वाद्ययंत्र पर अभ्यास
4. निश्चित समय सीमा तक स्वर साधना से स्वर ज्ञान

नाट्यशास्त्र के 5वें अध्याय में पूर्वरंग में 'Music for the sake of music' के रूप में प्रतिष्ठित है। संगीत वहाँ नाट्य के संदर्भ में नहीं है। भरत संगीत की स्वायत्तता को प्रतिष्ठित करते है, अर्थात् संगीत देखा ज्ञान की महत्ता स्थापित की गई है। नाट्यशास्त्र में वर्णित ध्वनि विकार सिद्धान्त तथा काकू-प्रयोग भी स्वर-ज्ञान के लिए आवश्यक है। नारदीय शिक्षा में नारद ने स्वरोच्चारण के लिए कण्ठ की धुनों का वेणु तथा वेणु के साथ मिल जाना आवश्यक माना है। इस ग्रन्थ में स्वरोच्चारण के लिए अनेक गुणों का वर्णन किया गया है।

संगीत वैसे तो मानव जीवन का अभिन्न अंग है, परन्तु हमारा समाज भारतीय शास्त्रीय संगीत के आधारभूत ज्ञान से वंचित है। हमारे समाज में संगीत का संस्कार केवल उचित शिक्षा-प्राप्त गिने चुने संगीतज्ञों एवं संगीत के विद्यार्थियों तक ही सीमित है। सामान्य लोगों के लिए अन्य सभी विषयों की भाँति, संगीत भी एक विषय है; परन्तु लोग इसकी सही पहचान या बारीकियों से अनभिज्ञ हैं। इन्हीं कारणों से संगीत-सीखना, सुनना तथा प्रदर्शित करना जैसे ही क्षेत्रों में सही चुनाव नहीं कर पाते। अर्थात् संगीत सीखें तो कौन सा संगीत संगीत सुनें तो क्या सुनें, एवं प्रदर्शित करें तो कैसे?

अमेरिका के वाशिंगटन डी सी में विश्व के महान वायलिन वादक 'जोशुआ बेल' द्वारा संगीत का समाज में ग्रहणबोध और समझ को लेकर प्रयोग किया गया। इस अध्ययन में बेल, 16 करोड़ रुपए के अपने वायलिन से इतिहास की सबसे कठिन धुन बना रहे थे। ऐसा वह एक सार्वजनिक मेट्रो स्टेशन पर करीब घंटा भर तक करते रहे। इस दौरान चार-पाँच लोगों का करीब दो-तीन मिनट तक ही उनपर ध्यान जा सका, जबकि महज दो दिन पूर्व उन्होंने बोस्टन शहर में संगीय प्रस्तुति दी थी जहाँ प्रवेश टिकटों का औसत मूल्य 100 डॉलर था। इस प्रयोग का निष्कर्ष यह निकला कि आम अवसरों पर प्रतिभा की पहचान कर पाना, सुन्दरता या अच्छाई की सराहना करना तब जबकि दुनियाँ का एक श्रेष्ठ वादक बेहतरीन साज से इतिहास की कठिन धुनों में से एक बजा रहा था; तब अगर किसी के पास इतना समय नहीं था कि कुछ पल रूककर उसे सुनें तो सोचें कि हम कितनी सारी अन्य बातों से वंचित हो गए है, तथा हो रहे हैं। इसका जिम्मेदार कौन है।

आज के विश्वविद्यालयी शिक्षण पद्धति में, पुराने समय से चली आ रही गायकी पुस्तकों या पाठ्यक्रमों तक ही सीमित रह गयी है। वास्तव में गायकी एवं स्वर-साधना लुप्त हो रही है। इस बात का ज्ञान हमें तब होता है जब हम वर्ग में प्रवेश कर कक्षा को देखते सुनते हैं। हमारे शिक्षण संस्थाओं में संगीत सीखने वाले विद्यार्थियों के लिए इंटरमिडियट में संगीत विषय रखना कोई कठिन कार्य नहीं है। अर्थात् संगीत को एक विषय के रूप में कोई भी विद्यार्थी रख सकता है। इसके लिए पूर्ववर्ती किसी भी प्रकार की योग्यता निर्धारित नहीं की गयी है। अर्थात् विद्यार्थी या तो अपनी इच्छा से या अधिक अंक प्राप्त करने हेतु, अपनी स्वर-साधना किए बिना ही अचानक संगीत विषय ले-लेते हैं। यहाँ विद्यार्थियों के लिए सीधे पाठ्यक्रम के रागों तथा स्वरों को समझना एक चुनौती बन जाती है।

संस्थागत संगीत शिक्षण में विद्यार्थियों को अपने स्वरों का ज्ञान सही ढंग से प्राप्त करने में शिक्षकों का निरन्तर सहयोग प्राप्त नहीं हो पाता है। संगीत एक अत्यन्त ही गतिमान कला है। विद्यार्थियों के लिए अपनी कक्षा के समाप्त होते ही पुनः सही

प्रकार से स्वरों को साध पाना एक कठिन कार्य है। इस चुनौतीपूर्ण कार्य को वही विद्यार्थी सफलता से कर पाते हैं, जिन्हें कक्षा के समाप्त होने पर भी किसी योग्य शिक्षक का सानिध्य प्राप्त हो।

आज के शिक्षण पद्धति में ऐसे वर्ग की व्यवस्था है, जिसमें संगीत जैसे कला के लिए आवश्यक गुरूमुखी शिक्षा का पूर्णतः अभाव हो जाता है। शिक्षक का विद्यार्थियों से एक सामूहिक संबंध तो बन जाता है, परन्तु प्रत्येक विद्यार्थी का गुरू द्वारा सही स्वर ज्ञान प्राप्त कर पाना असम्भव हो जाता है। यहाँ विद्यार्थियों को विशेष चुनौतीपूर्ण ढंग से स्वरों को समझना पड़ता है। वर्ग शिक्षण में समय की भी सीमा होती है। शिक्षक अपनी पूर्ण कला के विस्तार को निश्चित समय-सीमा में बाँधकर सिखा तो देते हैं, परन्तु विद्यार्थियों को इसे धारण करना इतना सहज नहीं होता।

आज हम शास्त्रीय स्वरों के लिए उपयुक्त वाद्य तानपूरे से विमुख होकर विद्यार्थियों को हारमोनियम पर गायकी एवं स्वर-साधना करते हुए संस्थानों में पाते हैं। विभिन्न शास्त्रीय संगीत सभाओं में गायन-वादन सुनकर इन्हीं विद्यार्थियों को जब तानपूरे की महत्ता ज्ञात होती है तो उनके सामने पाश्चात्य एवं भारतीय स्वरों को समझना एवं गाना एक चुनौती बन जाती है।

संगीत शिक्षण के लिए एक महत्त्वपूर्ण वाक्य से हम सभी परिचित हैः- 'देख्या, सिख्या, परिख्या'। अर्थात् संगीत के विद्यार्थियों को संगीत सीखने के साथ-साथ, बड़े-बड़े प्रतिष्ठित गायकों को सुनना एवं स्वयं को परखना भी आवश्यक है। आज के बाजारीकरण के युग में लघु-अवधि-लाभ प्राप्त करने हेतु बाजार में सस्ते, भड़काऊ, अश्लील गीतों के साथ-साथ वैसे गीत संगीत भी उपलब्ध हैं जिनका ना तो भारतीय ना ही पाश्चात्य स्वरों से कोई सम्बन्ध है। ये गीत नाद-श्रुति-स्वर की परिकल्पना से दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं रखते। आज के शास्त्रीय संगीत के विद्यार्थियों को सामान्यतया इन्हीं गायकों को सुनने का अवसर प्राप्त होता है। ऐसे में वे स्वर-साधना में दिये गाए अपने समय को व्यर्थ पाते हैं। यहाँ संगीत शिक्षकों को विद्यार्थियों के समक्ष स्वर-साधना की आवश्यकता समझा पाना एक चुनौती बन जाती है।

आज की पीढ़ी क्षणिक आनन्द तथा द्रुत लय के विद्याओं जैसे द्रुत ख्याल, तराना, ठुमरी तक ही शास्त्रीय गायन को सीमित कर रही है। शास्त्रीय गायन की दो मुख्य विद्याओं, ख्याल एवं धुपद गायन में स्वरों पर ठहराव, गमक तथा मींड एवं लय का विशेष महत्त्व है। इन विद्याओं को व्यर्थ तथा उबाऊ समझकर उपेक्षा की जा रही है। इन सभी विद्याओं को सीखने-समझने के लिए स्वर-साधना अत्यावश्यक है। संगीत के स्वर एवं लय हमारे मस्तिष्क में सिरोटोनिन नामक हॉरमोन के स्राव को उत्तेजित करते हैं। यह स्राव हमें सुखद अनुभव कराता है तथा मधुर भावनाओं एवं धनात्मक सोच के लिए प्रेरित करता है। हमारे वेदों में भी सर्वप्रथम गद्य के रूप में ईश्वर भक्ति तथा आध्यात्म की चर्चा हुई, तत्पश्चात उसे अधिक संप्रेषणशील बनाने हेतु उन्हीं गद्यों को पदों में बाँधा गया तथा मंत्रों की रचना हुई। वेद के सभी मंत्रों को सुगमता-सरलता एवं पूर्णता से संप्रेषित करने हेतु स्वरों में निबद्ध कर भावना एवं विचारों को सर्वोत्तम रूप से संप्रेषित किया गया। विद्यार्थियों में स्वर-साधना तथा शास्त्रीय संगीत के दूरगामी मानसिक-शारीरिक-आध्यात्मिक तथा सामाजिक परिणामों से वंचित रह जाना एक चुनौती बन गई है।

आज जब हमने संगीत को अन्य विषयों की भाँति विश्वविद्यालय शिक्षण में सम्मिलित कर ही लिया है तो संगीत के विद्यार्थियों को भी अन्य विषयों की भाँति एक विशेष विशेष समूह के साथ संगीत को रखने की निबद्धता होनी चाहिए। जैसे साहित्य, संस्कृत, समाजशास्त्र।

उपर्युक्त सभी चुनौतियों का समाधान संगीत जैसे विषय, जो अन्य विषयों से पृथक है, के सीखने के लिए विद्यार्थियों को विद्यालय शिक्षण के दौरान ही संगीत संस्कार एवं स्वर-साधना से परिचित किया जाना होगा।

संगीत में स्वर-साधना का उद्देश्य समाज को एक उत्कृष्ट भारतीय स्वर-सम्यता से परिचित कराना है। यहाँ हम जिस संगीत की बात कर रहे है, वह केवल संगीत के जानकारों तक ही नहीं बल्कि पूरे समाज के लिए होनी चाहिए। उत्तम सधे हुए स्वर में प्रस्तुत संगीत श्रोता के वृति को सुसंस्कृत तथा समाज को सही दिशा-प्रदान करने वाला होता है।

विश्वविद्यालय में शास्त्रीय गायन में स्वर- साधना के लिए कुछ व्यवस्था होनी चाहिए। जैसेः सुबह स्वर-साधना के निश्चित समय में शिक्षकों का मौजूद होना, ताकि विद्यार्थियों को स्वर-साधना के सही तरीके का ज्ञान हो सके।

संगीत के विद्यार्थियों के लिए विशेष छात्रावास की व्यवस्था होनी चाहिए जहाँ स्वर-साधना के लिए निश्चित समय देना विद्यार्थियों के लिए सहज हो सके।

संस्थागत शिक्षण में शिक्षक एवं विद्यार्थियों का निश्चित अनुपात लगभग 1:5 का होना चाहिए, जिससे शिक्षकों का पूर्ण लाभ अभ्यर्थियों को प्राप्त हो सके।

शास्त्रीय गायन में तानपूरे के साथ-साथ अन्य सहयोगी वाद्ययत्रों यथा सारंगी तथा वायलिन इत्यादि के वादकों की नियुक्ति एवं वर्ण अध्ययन- अध्यापन के समय उनकी संगति अपरिहार्य है।

हमारा ध्येय स्वर-साधना से संगीत को सुरीला बनाना ही नही अपितु उस संगीत को उपयोगी बनाकर समाज में स्थापित करना भी होना चाहिए।

संदर्भ सूचीः

1. दास गुप्ता लिपिका, भारतीय संगीत शास्त्रः ग्रन्थपरम्परा एक अध्ययन, पृ. 3-5।
2. देवांगन तुलसीराम, भारतीय संगीत शास्त्रः मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ. 3-4।
3. 'नेहरंग' प्रदीप कुमार दीक्षित, सरस संगीत
4. 'हिन्दुस्तान' दैनिक, पटना, दि. 03 नवम्बर 2014, पृ0. 11, 'तेज रफ्तार में छूट न जाए खूबसूरत पल'।
5. http://sissi.hubpages.com/hub/Effect-of-Classical-Music-on-the-Brain

भारतीय शास्त्रीय संगीत एवम् उसकी शिक्षा पद्धति

शालिनी

''गीतं वाद्यं तथा नर्तनं च त्रयम् संगीत मुच्चयते।'' सैद्धांतिक रुप में भारतीय संगीत शास्त्र में आज भी यह परिभाषा इसी रुप में मान्य है। यद्यपि व्यावहारिक रुप में आज गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों बहुत कुछ स्वतंत्र हो गए हैं। अतः सम्मिलित रुप से महत्वपूर्ण होने के अतिरिक्त अपने-अपने एकान्त रुप में भी उतने ही महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। संगीत का अर्थ है ''सम्यक गीत''। यह शब्द गीत में 'सम' उपसर्ग लगाने से बना है। संगीत के तीन प्रमुख अंगों गायन, वादन तथा नृत्य में से गायन को ही प्रमुख माना गया है। गीत की प्रधानता के लिए कहा गया है- ''नृत्यं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ती च''। अर्थात नृत्य वाद्य का अनुगामी होता है। और वाद्य गीत का अनुवर्ती है यानी उसके पीछे-पीछे चलता है।

आज संगीत की शिक्षा विद्यालयों व महाविद्यालयों में संगीत के शिक्षकों द्वारा दी जाती है। इस शिक्षा पद्धति की उपलब्धियों व सीमाओं का मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक होगा कि हम संगीत-शिक्षा के पूर्वरुप अर्थात् गुरु-शिष्य परम्परा पर थोड़ी नजर डालें।

गुरु-शिष्य परम्परा के जन्म के विषय में हम विचार करें तो यह नाट्य युग में भारतीय अनुश्रुति के अनुसार वैवस्वत मन्वंतर में त्रेतायुग लगने पर देवराज इन्द्र की प्रार्थना पर भगवान ब्रह्मा ने महामुनि भरत को 'नाट्यवेद' की शिक्षा दी और मुनि भरत ने अपने पुत्रों को शिक्षित किया। इसके अतिरिक्त भगवान शंकर द्वारा आविर्भावित तांडव नृत्य को भी ब्रह्मा की प्रार्थना पर भगवान शंकर ने तंडु को बुला कर भरत को अंगहारों का प्रयोग बताने को कहा और उन्होने स्वयं भी रेचकों, अंगहारों एवम् पिण्डीबन्धों की सृष्टि कर तण्डु (नन्दिकेवर, रस सिद्धान्त के आचार्य) को सिखाया। इसके अतिरिक्त रामायण काल में भी सभी जन संगीतानुरागी हुआ करते थे। राम एवम् रावण दोनों ही साम संगीत के ज्ञाता थे। बौद्ध काल में नृत्य एवम् युद्ध कला का विशेष प्रचलन था। उसके लिए विधिवत शिक्षा दी जाती थी। जैन धर्म में भिक्षुओं में भी संगीत शिक्षा के प्रति काफी रुचि के प्रमाण प्राप्त होते हैं।

गुरु-शिष्य परम्परा से ही आगे चल कर घराना पद्धति अस्तित्व में आई जो गुरु-शिष्य परम्परा का ही एक सुव्यवस्थित एवम् संगठित रुप था। भारतीय संगीत के इतिहास में वह राजपूतों का शासनकाल था। इसी समय उत्तर भारत में घराना पद्धति का जन्म हुआ। इस युग में एक कलाकार अपनी कला अपने वंशजों को ही देता था क्योंकि उसके सामने अपने उत्तराधिकारियों की रोजी रोटी की चिन्ता थी। इस प्रकार वंशवाद से घरानावाद की नींव पड़ी। पीढ़ी दर पीढ़ी संगीत में जो निरन्तरता चली आ रही है, वह घरानेदार गायकी की ही देन है। घरानेदार गायकों को राजदरबारों में आश्रय मिलता था। घरानेदार गुरु अपने शिष्यों को अपने ही घराने की तालीम देते थे, अर्थात गुरु-शिष्य परम्परा में कोई कोर्स नहीं था, डिग्रियाँ नहीं थीं, केवल सन्तुष्टि थी। गुरु को सन्तुष्ट करना ही विद्यार्थी का लक्ष्य था। संगीत शिक्षक व शिष्यों की साधना में कोई व्यवधान नहीं पड़ता था क्योंकि वे व्यस्तता व उत्तरदायित्व से दूर रहते थे।

शोध छात्रा संगीत एवं मंच कला संकाय, बी.एच.यू., वाराणसी

यद्यपि इस शिक्षण पद्धति में अनेक कमियाँ थीं, जैसे शिष्यों को प्रत्यक्ष ज्ञान न होना, समय की बर्बादी, गुरु का अत्यधिक नियन्त्रण, घरानों की संकीर्णता आदि। बावजूद इसके परम्परा शिष्य को एक अच्छा कलाकार बनाने में सक्षम थी। इस पद्धति में संगीत सीखने के लिए उपयुक्त वातावरण, अभ्यास हेतु मार्गदर्शन व प्रस्तुतीकरण हेतु उपयुक्त स्थल स्वतः ही मिल जाते थे।

बीसवीं शताब्दी में संगीत-शिक्षण पद्धति में बहुत अधिक परिवर्तन आए। यह परिवर्तन मुख्यतः पं. विष्णुदिगम्बर, पलुस्कर व पं. विष्णु नारायण भातखण्डे जी द्वारा हुआ। इन्होंने इस पद्धति की सीमाओं को जानते हुए भी इसे स्वीकार किया, क्योंकि यह सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों की मांग थी। ये दोनों ही विद्वान जानते थे कि आने वाला युग प्रजातांत्रिक होगा और जनता का सम्बन्ध इस कला से तभी घनिष्ठ हो सकता है जब सार्वजानिक संगीत-शिक्षा का प्रचार हो। इस उद्देश्य से दोनों ही महान विभूतियों ने जगह-जगह संगीत-महाविद्यालय खोले, जिनका उद्देश्य संगीत शिक्षा देना, साथ ही डिप्लोमा व डिग्री प्रदान करना है। इसी समय से पाठ्यक्रम प्रक्रिया व उपाधि देने की प्रक्रिया संगीत-जगत में शुरु हुई। आज इस कड़ी से जुड़ती हुई संगीत-शिक्षण पद्धति संगीत महाविद्यालयों में प्रचलित है।

आज स्कूलों और कॉलेजों में संगीत ऐच्छिक विषय में रखा गया है। कुछ समय पहले यह धारणा थी कि विश्वविद्यालयी शिक्षा पूर्व परम्परा से जुड़ी हुई है परन्तु आज सभी जानते हैं कि यह शिक्षा मात्र संगीत के सामान्य रुप को अर्जित करने हेतु दी जाती है।

संगीत की शिक्षा हेतु ये दो पद्धतियाँ हैं। जिस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा में कुछ कमियाँ हैं वहीं संगीत शिक्षण की इस पद्धति में भी कुछ कमियाँ व्याप्त हैं। भातखण्डे जी ने इस पद्धति के बारे में कहा है कि" इस पद्धति द्वारा तानसेन तो नहीं किन्तु कानसेन अवश्य पैदा हो सकेंगे। क्योंकि जहाँ भी पाठ्यक्रम प्रक्रिया का सम्बन्ध रहेगा वहाँ केवल कलाकार उत्पन्न करने वाली बात जड़ नहीं पकड़ सकती। एक ही कक्षा में अलग-अलग स्तर के विद्यार्थी होते हैं। कुछ ज्यादा प्रतिभाशाली होते हैं तो कुछ अपेक्षाकृत कम। अब ऐसी स्थिति में परीक्षा-परिणाम की दृष्टि से शिक्षक को कमजोर विद्यार्थियों पर अधिक ध्यान देना पड़ता है जिससे प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को नुकसान पहुँचता है। इस पद्धति में सामूहिक संगीत की शिक्षा दी जाती है जिससे विद्यार्थी समूह में गाते बजाते हैं। ऐसी स्थिति में किसी एक विद्यार्थी की कमी निकाल पाना भी शिक्षक के समक्ष एक जटिल समस्या हो जाती है।

निष्कर्षतः संगीत शिक्षा की इन दोनों पद्धतियों में पाई जाने वाली कमियों के बावजूद हम इतना जरुर कह सकते हैं कि इन दानों पद्धतियों के माध्यम से संगीत के प्रचार-प्रसार में अत्यन्त वृद्धि हुई है। आज हर बड़े महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों में संगीत एक विषय के रुप में रखा गया है जिससे संगीत जन-साधारण में प्रचलित हो रहा है। वहीं दूसरी तरफ गुरु-शिष्य परम्परा से संगीत सीखने वाले विद्यार्थी, कलाकार देश के बड़े-बड़े मंचों तथा देश के बाहर भी अपनी शास्त्रीय संगीत का प्रचार प्रसार करने में सफल हो रहे हैं।

1. संगीत मई 2011, पृष्ठ सं. 3
2. संगीत जून 2011, पृष्ठ सं. 4,12
3. संगीत मई 2011, पृष्ठ सं. 6
4. संगीत नवम्बर 1990, पृष्ठ सं. 3
5. दत्ता, डॉ. पूनम, भारतीय संगीत शिक्षा एवम् उद्देश्य, राय पब्लिकेशन, नई दिल्ली 2005
6. ऋषितोष, डॉ. कुमार, संगीत शिक्षण के विविध आचार्य, कनिष्क पब्लिकेशन, नई दिल्ली 2010

संगीत में अभ्यास

डॉ. पुनीता वर्मा

पुरातन काल की यज्ञ परम्परा से संयुक्त जो 'सामगान' था, उसका उद्दश्य जन रंजन नहीं बल्कि विश्व की अव्यक्त संचालन की आराधना करना था। प्राचीन ऋषि-मुनियों की तपस्या, आध्यात्मिक साधना, (अभ्यास) प्राचीन जन संगीत की धुनें, ऋग्वेद की ऋचाओं का गाना देवताओं की प्रसन्नता के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य माना जाता था। सामगान की संगीत परम्परा परम तत्व के अनुसंधान में सार्थक रही है (गायन्ति यं सामगाः)।

भारतीय संगीत वेद प्रधान है, संगीतमय वेदों की ऋचाओं से सामगान का प्रथम विकास ऋषियों द्वारा किया गया, ऋषियों के तपोवनों से सामगान के स्वर सुनायी देने लगे। 'सामगायन' में स्वरों का महत्वपूर्ण स्थान है। तपस्या, साधना, स्वरों का अभ्यास इसमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीनों स्वरों के प्रयोगों का अभ्यास हुआ जो आगे चलकर सातों स्वरों का विकास माना गया। संस्कारिक और परिष्कृत होने के कारण संगीत को उच्च श्रेणी या शास्त्रीय संगीत में स्थान प्राप्त हुआ। शास्त्रीय संगीत नियमों से प्रतिबद्ध है। इसकी गायन शैलियाँ- बड़ा ख्याल, छोटा-ख्याल, ध्रुपद, धम्मार, ठुमरी, दादरा, टप्पा सभी नियमबद्ध तरीके से गाये-बजाये जाते हैं।

ऋषि-मुनि एवं संगीत गुरुओं को आदर की दृष्टि से देखते हुए संगीत का प्रचार हुआ और संगीत से संबंधित सभी विद्याओं का विकास हुआ। उनके द्वारा की गई उपासना आराधना, साधना, अभ्यास ही संगीत प्रचार का सशक्त साधन है। गीत का मूल, उद्गम स्थल कण्ठ है। एक गायक संगीतकार को कान, नाक, गला के बारे में संरचनात्मक और चिकित्सकीय ज्ञान का होना आवश्यक है। प्राचीन काल से आधुनिक युग तक विविध ऐतिहासिक सांगीतिक ग्रंथों में शरीर विज्ञान का संगीत के साथ समन्वय शास्त्रयों ने स्थापित किया है। देह तत्व या इस पिण्ड की उत्पत्ति और संगीत का श्रवण-ग्रहण कर सम्पादन और संवहन के माध्यम के रूप में शरीर विज्ञान का अध्ययन जरूरी है। संगीत के प्रमुख ग्रंन्थकार, शारंगदेव कृत 'संगीत रत्नाकार' में स्वर अध्याय का प्रारम्भ पिण्डोत्पत्ति से करते हुए सिद्ध कर दिए। गायन, वादन, नृत्य में गायन का अभ्यास संबंध कण्ठ, मुख, जिह्वा कण्ठ नलिकाए, कान और नाक विषय विशेज्ञता से अंगागी रूप से युक्त है।

साथ ही वादन (अभ्यास) के लिए बैठने के विविध आसन उंगलियों के स्वतः, सुन्दर संचालन, नृत्य, नृत्य विद्या अभ्यास में सिर, हस्त, कटि, पद विविध अंगों का संचालन इत्यादि शरीर विज्ञान से ही अंगागी रूप से संबंधित है।[1]

"हृदि मन्दो गले मध्यो मूर्ध्नि तार इति क्रमात।
द्विगुणः पूर्व पूर्वतस्मात् स्वरः स्यादुतरोत्तरः।।"

हृदय में मन्द स्वर, गले में मध्य और मस्तक में तार स्वर उत्पन्न होते हैं। षड्ज को 'आदि स्वर' माना गया है- नासा, कंठ, उर, तालु, जिह्वा और दात इन छः स्थानों से षड्ज (षट् = छः ज = पैदा होना) स्वर उत्पन्न होता है।

संस्कृत संगीत शास्त्र ग्रंथों में देह संबंधित चिंतन और सांगीतिक परिप्रेक्ष्य में देह को ही आधार मानकर सांगीतिक स्वर से निर्मित विशिष्ट स्व

तदर्थ व्याख्याता संगीत विभाग, श्री अरविन्द महिला कॉलेज, पटना

समूह या राग को देवी-देवता का देवमय स्वरूप स्त्री-पुरुष लिंग भेद में निरूपित करना मानवीय दैहिक अवस्थाओं में स्वीकृत करना है। सर्वसम्मत उल्लेखनीय है कि संगीतशास्त्रज्ञों ने गायन, वादन, नृत्य तीनों क्रियाओं के अभ्यास के लिए शरीर की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। संगीत रत्नाकर में गीत को प्रमुखता दी गई है। उसी के आधार पर वीणा सुषिर आदि वाद्यों की विवेचना की गई है उसका निर्माण किया गया है क्योंकि-

'पिण्डादुत्पद्यते नादो, नादाद्गीतंच संभवेत' कहा गया है। अन्य स्थलों पर कण्ठ की ही अनुकृति की गई है। संगीतोपनिषद सारोद्धार में त्रिविध स्वर भेदों देह स्वर को मुख्य कहा गया है, शारंगदेव ने देह से ही मुक्ति प्राप्त करने की बात कहीं है।

"प्रसाधयन्ति धीमन्तो भुक्तें भुक्तिभुपायतः"[2]

संगीत मुख्यतः क्रियात्मक विद्या है और संगीत-शास्त्र उसको व्यवस्थित करने का प्रयत्न है संगीत का सौन्दर्य शास्त्र के साथ गहरा संबंध है, सौन्दर्य, रस तथा भाव भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है, ध्वनि की सूक्ष्मता के साथ जब कलाकार की शिक्षा, प्रतिभा, व्याकरण का प्रयोग अभ्यास उचित रूप से होता है तो रस के साथ भावों का सागर उमड़ आता है जो श्रोताओं को भाव-विभोर कर देता है।

भारतीय संगीत अत्यन्त प्राचीन व सुन्दर कला है जिसका उद्देश्य ही मनोरंजन करना तथा भक्ति मूलक भाव पैदा करना है। आज जो संगीत है, उसका विकास भी अन्य ललित कलाओं के समान धीरे-धीरे हुआ है और संगीत के इस विकास क्रम का श्रेय निश्चय ही भारतीय संगीत के उन संगीतज्ञों एवं विद्वानों को है जिन्होंने प्राचीन काल से लेकर आज तक अपनी विभिन्न कृतियों रचनाओं एवं क्रियात्मक योगदानों से भारतीय संगीत को सजाया है, सँवारा है। आज भारतीय संगीत अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर छाया हुआ है। ये उन विद्वानों एवं संगीतज्ञों के सतत प्रयासों एवं अभ्यासों के कारण हो सका है।

प्राचीन ग्रंथों में लगभग एक सौ प्रकार के प्रबन्ध उपलब्ध है। उनमें से एक प्रकार था रूपक, जिसके अन्तगत 'ध्रुव' नाम के प्रबन्ध से ध्रुपद की रचना हुई, स्थूल रूप से प्रबन्ध-गीत दो भागों में विभक्त थे- निबद्ध व अनिबद्ध। आधुनिक काल में आलाप गायन के अलावा अन्य सभी गीत निबद्ध के अर्न्तगत आते है सर्व प्रथम ध्रुपद गोपाल नायक का उपलब्ध होता है, जो भीम पलासी राग और सूल ताल में निबद्ध है। स्वामी हरिदास, तानसेन, बैजू और बख्शू, चिन्तामणि के ध्रुपद अधिक प्रसिद्ध है।

ध्रुपद-गान के दो आश्रय-स्थल थेः- वैष्णव मंदिर और राजदरबार। इन दोनों जगहों पर ध्रुपद के साथ नृत्य परम्परा भी रही है। ध्रुपद केवल 'पुरुषगान' नहीं था, श्रीराणा ने उल्लेख किया है कि उनकी गुरुमाँ ध्रुपद गाकर साथ में नृत्य करती थी तो ऐसा समा बँध जाता था कि बड़े-बड़े कलाकार चकित हो जाते थे। ध्रुपद की विभिन्न शैलियों को वानी 'वाणी' कहते है। शब्द तथा स्वर के उच्चारण की विचित्रता कलाकार की कण्ठगत विशेषता, संस्कार एवं मनोधर्म पर आधारित होती है। इसी से विभिन्न गायन शैलियों का निर्माण होता है। आजकल के परिवेश में 'बानी' को हम 'घराने' कह सकते है।[3] ध्रुपद एक ऐसी गीत-शैली रही है, जिसमें शृंगार, वीर, वात्सल्य आदि सभी रसों की अभिव्यक्ति की जाती रही। राजा मान सिंह के समकालीन स्वानी हरिदास एवं अन्य भक्त संगीतकारों की रचनाओं में इन रसो का स्पष्ट चित्रण हुआ है, ये सभी गायक साहित्य एवं संगीत गायकी के आचार्य थे। भक्त, संगीतज्ञों का लक्ष्य ईश्वर-रंजन था, अपने भावपूर्ण आलापों से वह परमात्मा को रिझाते थे, जबकि दरबारी संगीतज्ञों का लक्ष्य राजाओं का रंजन करना था, विभिन्न राग-रागनियों में कलुषता प्रदर्शित, करने के उद्देश्य के कारण सभी रसों का साहित्य सभी रागों में बाँधा जाने लगा। 'तानसेन की गायकी पर मुगलकाल की कला-विषयक पच्चीकारी एवं सूक्ष्मताओं का प्रभाव पड़ा और इसी का प्रयोग उन्होंने अपनी गायन-शैली में किया, ध्रुपद में लयकारी का प्रारम्भ उन्हीं के समय से हुआ, तान तथा लयकारी गुणीजनों में उस समय लोकप्रिय थी।

स्वर, ताल और पद-तीनों का उत्कृष्ट रूप ध्रुपद शैली है। पखावज जैसे गम्भीर वाद्य का प्रयोग

इसकी भव्यता में वृद्धि करता है। इसकी अभ्यास, साधना बहुत कठिन है, लेकिन सभी प्रकार के श्रोताओं के लिए यह हृदय-रंजक होता है। इसलिए सर्वश्रेष्ठ प्राचीन गायकी ध्रुपद को श्रेष्ठ स्थान दिया गया और ध्रुपद गायक को भी श्रेष्ठ गायक कहा गया है।

ठाकुर जयदेव सिंह ने भी ध्रुपद के साथ नृत्य तथा अभिनय की पुष्टि की है। उन्होंने स्वयं ध्रुपद के साथ नृत्य होते हुये देखा है। आज कल के नये कलाकारों में आवाज की दृढ़ता, एक रूपता और स्थिरता की अत्यन्त कमी है जो ध्रुपद अभ्यास की कमी का ही परिणाम है। विद्यार्थी कलाकारों की चंचल प्रवृति को ध्रुपद-शिक्षा से पुनः संभाला जा सकता है। ध्रुपद भारतीय संगीत की परम्परा, इतिहास ज्ञान का सुदृढ़ स्तम्भ है, इसलिए ध्रुपद गायकी का प्रचार व उसके सिद्धान्तों की शिक्षा भारतीय संगीत की ही रक्षा है।

"कवि वाह्य-जगत के मूर्त्त-अमूर्त्त विषयों को लेकर काव्य की सृष्टि करता है, शब्द और अर्थ के माध्यम से कवि अपने मनोभावों का चित्र उपस्थित करता है काव्यकला-संगीत के अत्यन्त निकट है। जब विचार धारा अन्तर्मुखी हो जाती है तो उसका मन व्यक्तिगत सीमा का अतिक्रमण कर सार्वभौम हो जाता है और उसके मनोभाव संगीत द्वारा जन-साधारण के मनोभाव हो जाते हैं। इसलिए संगीतकला के काव्यों में मानव मन की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है।[4]

"अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम् ।
शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्यादवृत्तिं विलम्बिताम् ।।

अभ्यास के लिए द्रुत वृत्ति, प्रयोग के लिए मध्यमवृत्ति और शिष्यों को सिखलाने के लिए विलम्बित वृत्ति का उपयोग करना चाहिए। शीघ्रतम लय को द्रुत, द्रुतलय से द्विगुण विश्रान्ति काल को मध्यलय तथा मध्यलय से द्विगुण विश्रान्ति काल को विलम्बित लय कहते हैं।"[5]

ताल क्रिया- काल को गिनने के क्रम को क्रिया कहा गया है। ताल को आनन्दायक शक्ति क्रिया मानी गयी है, दोनों हाथों के संयोग से शब्द पैदा करना उँगलियों से गिनना ये सब क्रियाएँ है।

संगीत में संगीतज्ञ अपने साधना और अभ्यास द्वारा मनोगत भावों एवम् कल्पनाओं को स्वर, लय और ताल के माध्यम से व्यक्त करता है। संगीत के लिए केवल स्वर और ताल की आवश्यकता पड़ती है। अनिवद्ध गान में ताल की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्राचीन काल में केवल राग के स्वरों का स्वतंत्र अभ्यास, स्वर-विस्तार का प्रयोग किया जाता था, जो बड़ा ही आकर्षक, रोचक और रंजक होता था, आज भी संगीतज्ञों के द्वारा की गई स्वर-विस्तार की सुमधुर ध्वनि से चेतन-अचेतन सभी प्राणी मुग्ध हो जाते है। चेतन एवं अचेतन दोनों ही अवस्थाओं में ध्वनि तरंगों का आभास होता है। संगीत में भाव एक व्यापक शब्द है, संगीतज्ञ अपनी अभ्यास, तपस्या के बल पर कविता के शब्द और संगीत के स्वर-ताल दोनों का समन्वय बना कर अपनी गायकी श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। कविता के आधार पर स्वर-चमत्कार, स्वर सौन्दर्य तथा स्वर-मर्यादा भाव संगीत में अधिक होती है। संगीत कला से मनुष्य और जन्तु तो मुग्ध होते ही है। पेड़, पौधें तथा लताओं में भी हरियाली छा जाती है।

आधुनिक वैज्ञानिकों का कहना है कि संगीत के द्वारा पौधों का विकास होता है। संगीत-कला अनेक रोगों की निवृत्ति का एकमात्र साधन है, जो स्वास्थ्य लाभ प्राणायाम आसान तथा अन्यान्य व्यायामों से असंभव है वह संगीत से सम्भव है। संगीत एक ओर मनोरंजन का साधन है, तो दूसरी ओर आत्मसाक्षात्कार के माध्यम से ईश्वर का दर्शन प्राप्त कराने में श्रेयस्कर मार्ग है।

संगीत मानव का चिरसंगी है। इसके भाषा का प्रयोग आदिकाल से अनंत काल तक होता रहेगा। संगीत ने अनेक उतार-चढ़ाव सहे है। प्रत्येक काल में संगीत पर काफी प्रभाव पड़ा है। इसलिए अब 'मार्गी-संगीत' का नाम मात्र रह गया है, जाति गायन समाप्त हो गई, ध्रुपद शैली तथा उसकी वाणियाँ लुप्त हो गई और अब साधारण जनता का संगीत और एक विशिष्ट वर्ग का संगीत शेष रह

गया है। प्रथम प्रकार के संगीत में, लोकगीत, भाव संगीत तथा फिल्म संगीत और दूसरे प्रकार में शास्त्रीय अथवा अर्धशास्त्रीय संगीत आते हैं। शास्त्रीय संगीत में भावों की अभिव्यक्ति है। स्वर, लय, ताल तथा शब्द के माध्यम से रस तथा भावों को प्रकट किया जाता है। प्रत्येक गायक, वादक और नर्त्तक को शास्त्र के नियमों का पालन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य होता है। शास्त्रीय संगीत गायन राग प्रधान है। राग के कुछ निश्चित स्वर होते हैं जिनका स्थान निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त 'स्वरों की चलन, वादी-सम्वादी, उत्तरांग-पूर्वांग इत्यादि सभी कुछ परम्परागत हैं। इन्हें पालन करते हुये रचना करना शास्त्रीय संगीतज्ञ का कर्त्तव्य है। दूसरी ओर भाव तथा रस के बिना शास्त्रीय संगीत में केवल सुरीलेपन से काम नहीं चलता। इसके लिए किसी अच्छे गुरु से शिक्षा लेना, नित्य प्रति घण्टों अभ्यास करना तथा धैर्य के साथ समय की प्रतीक्षा करना आवश्यक है। संगीत के लिए शिक्षा संगीत की ही होनी चाहिए, अन्य विषय की नहीं, केवल कुछ ही लोग संगीत की शिक्षा प्राप्त करते है। इसलिए शास्त्रीय संगीत के श्रोता भी सीमित होते हैं। शास्त्रीय संगीत में गीत की स्वर-रचना को बहुत अधिक महत्व हमारे प्रिय संगीतज्ञों ने दिया है। गीत की अच्छी बंदिशें एकत्रित की जाती है तथा संगीतज्ञों द्वारा रची जाती है और गायक उन्हें बड़ी श्रद्धा के साथ अपनी गायकी में संजोये रहता है। गीत की मौलिकता बनाये रखना प्रत्येक गायक अपना कर्त्तव्य समझता है और संगीत-जगत में गीत की मौलिकता को मान्यता मिलती है। इसमें गायन की अवधि दीर्घ होती है और प्रभाव भी अपेक्षाकृत स्थायी होता है। शास्त्रीय संगीत का आनन्द एक ऐसा प्रभाव छोड़ता है जो मानव-स्वास्थय के लिए परम हितकारी है।

आज से कुछ समय पूर्व जब शास्त्रीय संगीत सुनने के इतने साधन सुलभ नहीं थे न रेडियो था, न संगीत संस्थायें थीं और न इतने संगीत-सम्मेलन ही होते थें, उस समय लोगों में शास्त्रीय संगीत सुनने की आज से कहीं अधिक ललक थी। उस समय कोई भी संगीत का कार्यक्रम होता तो अपार भीड़ उमड़ पड़ती और सारी रात मंत्र मुग्ध हो गायन-वादन का रसास्वादन करती, कोई भी संगीत कार्यक्रम रात्रि को शुरू होता और प्रातः 5-6 बजे राग भैरवी से समाप्त होता है, किन्तु आज की स्थिति पहले की अपेक्षा से बहुत भिन्न है। कुछ समय पहले कलाकार-गायक, वादक तथा नृत्यकार जहाँ कहीं कोई संगीतज्ञ मिलता है उससे भाव विनिमय करते और जो कुछ ज्ञान उनसे मिल जाता है, ग्रहण करते है तथा अपने क्रमिक अभ्यास के द्वारा उसे सफल प्रदर्शित करते हैं। संगीत अभ्यास के द्वारा ही कलाकार अच्छे गायक, वादक अथवा नृत्यकार होते है, अभ्यास करते-करते उन्हें संगीत की अच्छी समझ हो जाती है और वे पारखी के अन्तर्गत आते हैं। वे संगीत सभा में ज्ञानार्जन करते हैं। तथा तीनों प्रकार के कलाकारों-गायक, वादक, नर्त्तक के कार्यक्रम को अच्छी प्रकार से देखते तथा सुनते हैं। राग-रचना जिनसे राग का स्वर और भाव रूप तैयार होता है अमूर्त्त भावों को स्वर अभ्यास द्वार मूर्त्त करना प्रत्येक स्वर-मूर्त्ति का स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रस्तुत करना, यह कोई सामान्य बात नहीं है। यह कलाकार की आजीवन अभ्यास, साधना और तपस्या पर निर्भर है। भिन्न-भिन्न रागों की रंजकता को प्रस्तुत करने में कलाकार को कितनी सफलता मिलती है यह उसके प्रस्तुतीकरण पर ही आधारित है। आजकल के उच्च श्रेणी के कुशल कलाकार के अभ्यास स्पर्श से 'लोकगीत' भी शास्त्रीय संगीत में परिवर्तित हो जाता है। हमारे प्रिय संगीतज्ञों ने अपनी 'संगीत सेवा कार्य' से पूरे विश्व में अपने देश का नाम रौशन किया है। उन्होंने अपना पूरा जीवन संगीत जगत को समर्पित कर दिया है।

गुरु द्वारा दी गयी पारम्परिक स्वर ज्ञान शिक्षा-विहीन व्यक्ति को वह प्रतिष्ठा नहीं मिलती है जो पारम्परिक शिक्षार्थियों को मिलती है। गुरु तथा आचार्यों को स्वंय वक्ता एवं प्रयोवता दोनों होना चाहिए क्योंकि संगीत प्रयोग मूलक कला एवं विद्या है। शिष्यों के चयन के लिए सुपात्रता अनिवार्य है। शिष्यों की प्रवृत्ति के अनुसार कला का चयन होना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य की अपनी स्वभाविक प्राकृतिक प्रवृत्तियां होती हैं।

संगीत के इतिहास में ऐसे अनेक मौन साधक हो चुके है जिनका ध्येय मात्र संगीत-साधना तथा अभ्यास थी। वे नित्य संगीत-सेवा में रत रहते और दो समय केवल सूखी रोटी पर संतुष्ट हो जाते थे। उन्होंने संगीत जगत को ऐसी-ऐसी सुन्दर रचनायें अर्पित की है, जिसकी जितनी भी प्रशंसा की जाए बहुत कम है। अपनी अप्रतिम योगदान के लिए उन्होंने समाज से कुछ अपेक्षा नहीं की। ''उन्होंने अपनी रचनाओं में अपनी पहचान तक नहीं रखा ऐसी अनेकों बंदिशे जो हम रोज गाते-बजाते है, किन्तु कभी यह नहीं सोचते कि उनके रचयिता कौन है? सौन्दर्य संगीत जैसी रचनाओं को हम सभी बड़े आदर, प्रेम, चाव से गाते और रिझाते है। ऐसे अज्ञात रचनाकारों को हम सादर श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हैं। आज की अमूल्य रचनाये हमारे पास इतनी सुलभता से नहीं पहुँच जाती अगर आदणीय पं. विष्णु नारायण भातखण्डे जी ने संगीत जगत को सजाया न होता।''[5]

राग की शुद्धता व लय के चामत्कारिक प्रदर्शन के लिए ध्रुवपद, ख्याल, ठुमरी, धम्मार, टपा, दादरा, सबकी अपनी-अपनी विशेषता है उन्हीं विशेषताओं के कारण गायकी का अलग अस्तित्व व महत्व को ध्यान में रखते हुए जो महान संगीतज्ञों ने अपना सर्वस्व जीवन संगीत की साधना में अर्पण कर दिया उन्हें हम भुला नहीं सकते। उन्होंने ख्याल की मधुरता भावयुक्त आलाप, सपाटेदार तान व श्रोताओं को आकर्षित करने के स्वाभाविक गुण के कारण गुणियों व संगीत-प्रेमियों के हृदय में सदैव के लिए अपना स्थान बना लिया है। गायक, वादक, नर्त्तक एवं शास्त्रकार ऐसे महान एवं बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार जो शास्त्र और क्रिया-पक्ष दोनों ही में समान रूप से अधिकार रखने वाले संगीत के प्रत्येक क्षेत्र में प्राचीन शास्त्रीय मान्यताओं को मानते हुए उन्होंने अपने अभ्यास द्वारा नवीन प्रयोगों को सिद्ध किया।

उनके नाम है-

गायक-

पं. ओमकार नाथ ठाकुर, अमीर खुसरो, अल्लादिया खा, अमीर खा, अब्दुल करीम खा, ए. कानन, कुमार गन्धर्व, कृण राव शंकर पंडित, केसर बाई केरकर, गोपाल नायक, गंगू बाई हंगल, गिरिजा देवी, पं. जसराज, डी. वी. पलुस्कर, तानसेन, निसार हुसेन खाँ, नारायण राव व्यास, नसीर मोइनुद्दीन डागर, फैयाज खाँ, बैजू बावरा, वी. आर. देवधर, बड़े राम दास, बड़े गुलाम अली खाँ, बेगम अख्तर, भीमसेन जोशी, सियाराम तिवारी, भास्कर बुआ बखले, भोला नाथ भट्ट मुश्ताक हुसेन खाँ, माणिक वर्मा, राजा भैया 'पूछँवाले', रसुलन बाई, राम चतुर मल्लिक, लक्ष्मी शंकर, विनायक राव पटवर्धन, विलायत हुसैन खाँ, वी. ए. कशालकर, विष्णु दिगम्बर पलुस्कर, विष्णु नारायण भारतखण्डे, वासवराज राजगुरु, वामन नारायण ठकार, स्वामी हरिदास, सलामतअली-नजाकत अली, शंकर राव पंडित, श्रीकृष्ण नारायण रातनजनकर, सवाई गंधर्व, सिद्धेवरी देवी, हीराबाई बड़ौदेकर, हस्सू-हद्दू खाँ।

वादक सरोदिये :-

अलाउद्दीन खा, अली अकबर खा, करामत उल्ला खा, राधिका मोहन मोइत्र, वजीर खा, हाफिज अली खा, शरण रानी बाकलीवाल।

सितारिये :-

अब्दुल हलीम जाफर, आशिक अली खा, इनायत खा, इमदाद खा, निखिल बनर्जी, पंडित रवि शंकर, उस्ताद विलायत खा।

बेला-वादक :-

गजानन राव जोशी, गोपाल कृष्णनन अय्यर, गगन चन्द्र चटर्जी (गगन बाबू), जोई श्रीवास्तव, वी. जी. जोग, डी. के दातार, शिशिर कणाधर चौधरी, श्रीधर पार्सेकर, जी. एन. गोस्वामी, एन. राजम।

शहनाई-वादक :-

नन्द लाल, बिसमिल्लाह खाँ।

बाँसुरी-वादक :-

पन्ना लाल घोष, हरि प्रसाद चौरसिया।

सारंगी-वादक :-

गोपाल मिश्र, राम नारायण, बुन्दू खाँ।

तबला अथवा मृदंग-वादक :-

अनोखे लाल मिश्र, अहमद जान 'थिरकआ', अल्ला रक्खा खा, अम्बादास पन्त आगले, कण्ठे महाराज, किशन महाराज, करामत हुसेन खा, कुदऊ सिंह, चतुर लाल, पर्वत सिंह, बाचा मिश्र, बीरू मिश्र, भैरव सहाय, राम सहाय, लाल जी श्रीवास्तव, शेख दाउद, सखा राम, सामता प्रसाद, हबीबुद्दीन

नर्तक :-

अच्छन महाराज, उदय शंकर, कालिका प्रसाद, गोपी कृष्ण, जय लाल, दमयन्ती जोशी, बिन्दादीन महाराज, बिरजू महाराज, वैजन्ती माला, मृणालिनी साराभाई, यामिनी कृष्णमूर्ति, रुक्मिणी अरून्डेल, राम गोपाल, रोशन कुमारी, लच्छू महाराज, किरन नम्बूदरीपाद, शम्भु महाराज, सितारा देवी,

शास्त्रकार :-

अहोबल, ई. क्लेमेन्टस, इब्राहिम आदिशाह (द्वितीय), कृष्णानंद व्यास, कैलाश चन्द्र देव बृहस्पति, जयदेव, ठाकुर जयदेव सिंह, नारायण मोरेश्वर खरे, प्रम लता शर्मा, फिरोज फ्रामजी, भरत, मानसिंह तोमर, राजा नवाब अली, मतंग, रामामात्य, हृदय नारायण देव, व्यंकटमखी, श्री निवास, शारंगदेव, सौरेन्द्र मोहन टैगौर, सदारंग अदारंग, सवाई प्रताप सिंह, विलियम जोन्स।

कर्नाटक संगीत :-

एम.एस. सुब्बलक्ष्मी, पी. साम्बमूर्ति, पुरन्दरदास, मथुस्वामी दीक्षितर, त्यागराज, यामा शास्त्री।

संदर्भ-

1. संगीत शास्त्र चिंतन - डॉ. लिपिकादास गुप्ता
2. पं. लोचन कृत राग तरंगिनी- डॉ. रीना सहाय
3. पाश्चात्य स्वरलिपि पद्धति एवं भारतीय संगीत- डॉ. स्वतंत्र शर्मा
4. प्रभाकर प्रश्नोत्तर- प्रो. हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव

शास्त्रीय संगीत शिक्षा पद्धति का स्वरूप

किरण कुमारी

संगीत क्या है?

बोलचाल की भाषा में संगीत से केवल गायन समझा जाता है, किन्तु संगीत जगत में गायन, वादन और नृत्य के सम्मिलित रूप को संगीत कहते है। संगीत वह ललित कला है जिसमें स्वर और लय के द्वारा हम अपने भावों को प्रकट करते हैं। भारतवर्ष में दो तरह के संगीत प्रचलित हैं- उत्तरी संगीत पद्धति या हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति और दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति।

उत्तरी संगीत पद्धति का प्रचार उत्तर भारत में जैसे- बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा महाराष्ट में है।

दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति दक्षिण भारत जैसे तमिलनाडू, मैसूर, आंध्रप्रदेश, आदि दक्षिणी प्रदेशों में प्रचलित है।

ये दोनों पद्धतिया थोड़ी अलग जरूर है पर दोनों में काफी रामानताए भी हैं।

प्रत्येक कला के दो पक्ष होते हैं - क्रिया और शास्त्र। संगीत के भी दो पक्ष हैं- क्रियात्मक पक्ष और शास्त्रीय पक्ष। संगीत का क्रियात्मक पक्ष वह है जिसे हम कानों से सुनते हैं या आखों से देखते हैं। जैसे कि गायन और वादन हम सुनते हैं और नृत्य को देखते हैं। गायन, वादन और नृत्य की त्रिवेणी ही संगीत है।

शास्त्र पक्ष में हम संगीत संबंधी विषयों का अध्ययन करते हैं। शास्त्र पक्ष भी दो प्रकार के है - क्रियात्मक शास्त्र और शुद्ध शास्त्र।

क्रियात्मक शास्त्र वह है जिसमें हम रागों का परिचय, गीत की स्वर लिपि लिखना, तान-आलाप, मिलते-जुलते रागों की तुलना इत्यादि का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

शुद्ध शास्त्र के अंतर्गत संगीत, नाद, जाति, आरोह-अवरोह, स्वर, लय, मात्र, ताली-खाली इत्यादि की परिभाषा, संगीत का इतिहास आदि का अध्ययन आता है।

भारतीय संगीत के दो प्रकार हैं- शास्त्रीय संगीत और भाव संगीत।

शास्त्रीय संगीत उसे कहते हैं जिसका एक नियमित शास्त्र होता है, जिसमें कुछ विशेष नियमों का पालन करना अनिवार्य है जैसे गायन में राग के अनुकूल स्वरों को लगाना, आलाप तान, बोलतान, सरगम इत्यादि को सफाई और तैयारी के साथ सुंदर ढ़ंग से पेश करना, गाने-बजाने का निश्चित क्रम होना, स्वर-लय तालबद्ध होना, उच्चारण सही होना इत्यादि-इत्यादि। इन्हें आत्मसात करते हुए 'आनंद की सृटि' करना ही हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत का मूल स्वरूप और उद्येश्य है।

भाव संगीत में शास्त्रीय संगीत के समान न कोई नियमों का बंधन होता है न कोई शास्त्र। इसका एकमात्र उद्देश्य है कानों को अच्छा लगना। इसमें अधिकतर दादरा और कहरवा तालों का प्रयोग होता है। इसकी रचना भावानुकूल और आकर्षक होती है। विभिन्न वाद्यों का प्रयोग, श्रृंगार रस के हृदय-स्पर्शी शब्द और सुरीले कंठ साधारण जनता को स्वतः ही आकर्षित कर लेते हैं और उन्हें झूमने पर मजबूर कर देते हैं।

तो क्या शास्त्रीय संगीत में आम जनता को आकृष्ट करने की क्षमता नहीं हैं? हम पहले ही बता

शोध छात्रा विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

चुके हैं कि नियमों के दायरे में रहते हुए 'आनन्द की सृष्टि करना ही हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत का मूल स्वरूप और उद्येश्य है। चाहे वह शास्त्रीय गायन हो, शास्त्रीय वादन हो या शास्त्रीय नृत्य।

हम गायन की चर्चा करें तो अधिकांश संगीत छात्रों के साथ होता यह है कि शास्त्रीय संगीत के नियमों को सीखते-सीखते वे उसके मूल उद्येश्य से भटक जाते हैं। वे शास्त्रीय संगीत के शास्त्र यानि व्याकरण के चक्कर में इतना फस जाते है कि संगीत की रंजकता को ही भूल जाते हैं और वास्तविक उद्येश्य के बदले वही उनका मूल उद्येश्य बन जाता है। उनमें केवल रसहीन गलाबाजी दिखाई पड़ने लगती है और आमश्रोता उनसे और शास्त्रीय संगीत के दूर होते चले जाते हैं।

शास्त्रीय संगीत शिक्षा पद्धति का स्वरूप यह होना चाहिए कि शास्त्रीय नियमों के साथ इसकी सुंदरता और रंजकता कम न हो बल्कि और निखर कर सामने आये। शास्त्रीय संगीत भले ही नियमबद्ध है पर इन नियमों के अन्दर ही इतना वृहद संसार है कि उसका पार पाना कठिन है। इन नियमों के दायरे में भी हम जितना भी काम कर लें वह समुद्र से पानी निकालने जैसी ही होगा। बस हम जो काम करें संगीत के भावात्मक और मनोरंजक पक्ष को कायम रखते हुए करें। शास्त्रीय संगीत स्वर प्रधान होता है। गायक अपनी कल्पना शक्ति के आधार पर, लय-ताल की सीमा में रहते हुए नये-नये स्वर समूहों की रचना करते हैं और उसे प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुति सुंदर और मनोरंजक होगी तो वह किसी को भी आकर्षित कर सकती है, चाहे वह संगीत का ज्ञाता हो या नहीं। गायकी का अर्थ ही है सौंदर्य भरना। शास्त्रीय नियमों द्वारा प्रदत्त स्वर, वादी-संवादी, न्यास-विन्यास द्वारा किसी राग को सुंदरता से सजाना यही गायकी है। गायकी से ही घरानों का निर्माण हुआ। एक गायक ने कुछ शिष्य तैयार किए। उनके शिष्यों ने फिर कुछ शिष्य तैयार किये। इस तरह शिष्यों की पीढ़ी आगे बढ़ती गयी जिसे घराना कहा गया। कह सकते हैं कि गुरू-शिष्य परम्परा से घरानों का निर्माण हुआ। इसकी शुरूआत तानसेन के समय से उनके वंशजों द्वारा हुई ऐसा माना जाता है। तानसेन के पुत्र के वंशज सैनिए कहलाए और पुत्रों के वंशज बानिए। मध्यकाल में देशी रियासतों में नये-नये घरानों का जन्म और विकास हुआ। प्रत्येक रियासत में कुछ गायक-वादक होते थे जिन्हें अपने गायन-वादन से राजा को खुश करना पड़ता था। उन्हें राजा का पूर्ण आश्रय प्राप्त था। उनके पास राज्य की सारी सुख-सुविधाए थी और वे बड़े आराम से जिंदगी गुजारते थे। भरण-पोषण की चिंता से मुक्त रहने के कारण वे बाहरी शिष्यों को संगीत शिक्षा देने के कतराते थे पर अपने पुत्रों को सिखाने में कोई कसर न छोड़ते थे, जी-जान से सिखाते थे। उस वक्त संगीत शिक्षा पद्धति का ये हाल था कि संगीत में रूचि रखने वाले बाहरी व्यक्तियों के लिए वह बड़ी दूर की चीज थी। अगर कोई गुरू या उस्ताद से सीखना भी चाहता तो उसे कड़ी मशक्कत करनी पड़ती थी। दिन रात गुरू की सेवा में लगे रहकर थोड़ा-बहुत सीख पाते थे। शिष्य पर उस्ताद की कड़ी निगरानी रहती थी। न तो उसे किसी अन्य गायक को सुनने की आज्ञा रहती और न उस्ताद की आज्ञा के बिना वह कहीं गा सकता था। इस नियंत्रण का प्रभाव अच्छा भी था और बुरा भी। अच्छा यह कि शिष्य पर बाह्य प्रभाव नहीं पड़ने से उसके भटकने की गुंजाइश नहीं थी। बुरा यह कि कभी-कभी अयोग्य गुरू के चक्कर में पड़कर शिष्य का पूरा जीवन ही बर्बाद हो जाता था। कह सकते है कि घरानों का निर्माण गायक की संकुचित दृष्टिकोण का परिणाम है। घरानों को संगीत को पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ाने का श्रेय तो जरूर जाता है पर सिर्फ उनके वंशजों के माध्यम से। संगीत एक निश्चित शिक्षा प्रणाली के अभाव में सर्व साधारण को सुलभ नहीं था। संगीत को सर्वसुलभ करने और आधुनिक शास्त्रीय संगीत शिक्षा का स्वरूप तैयार करने का पूरा श्रेय जाता है इन दो महान विभूतियों को- स्व. पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर और स्व. श्री विष्णु नारायण भातखन्डे जी को। आज का संगीत जगत इन्हें शत्-शत् नमन् करता है। इन्होंने अनेक कठिनाईयों को सहते हुए अपना पूरा जीवन संगीत साधना और सर्वसाधारण के लिए संगीत को अधिक से अधिक सुलभ कराने में लगा दिया।

ग्वालियर घराने के प्रसिद्ध संगीतज्ञ स्व. पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर का जन्म 18 अगस्त, 1872

को श्रावण पूर्णिमा के दिन कुरून्दवाड़ रियासत के बेलगांव नामक स्थान में हुआ था। बचपन में दीपावली के दिन आतिशबाजी में आखें गवा चुके पलुस्कर जी ने संगीत की शिक्षा मिरज के पंडित बालकृष्ण बुआ इचलकरंजीकर जी से ली। वहीं मिरज रियासत के तत्कालीन महाराज ने उन्हें राजाश्रय दिया और उनकी सुख-सुविधा का सारा प्रबंध करा दिया। सन् 1896 में वे सभी सुख-सुविधाओं को छोड़कर देशाटन के लिए निकल पड़े। वे जहा भी गये वहीं उनका भव्य स्वागत हुआ। उन्होंने भारत के अनेक स्थानों का भ्रमण किया जिनमें प्रमुख है - सतारा, बड़ौदा, ग्वालियर, दिल्ली, लाहौर, श्रीनगर, इलाहाबाद, भरतपुर, इत्यादि। उन्होंने हर जगह संगीतश्रोताओं को मुग्ध किया और संगीत को प्रतिष्ठा बढ़ाई।

संगीत का प्रचार-प्रसार करने व बालक-बालिकाओं के संगीत शिक्षा के लिए उन्होंने 5 मई, 1901 को लाहौर में प्रथम संगीत विद्यालय- गांधर्व महाविद्यालय की स्थापना की। उनके अधिकांश शिष्य उनके साथ रहते थे जिनके खाने-पीने, रहने तथा शिक्षा की व्यवस्था वे निःशुल्क करते थे। उनके शिष्यों में स्व. बी.ए. कशालकर, स्व. पंडित ओंकार नाथ ठाकुर, बी.आर. देवधर, स्व. बी.एन. ठकार, स्व. वी.एन. पटवर्धन आदि नाम विशेष उल्लेखनीय है। उस समय तक गीत को लिखने के लिए कोई स्वर-लिपि पद्धति नहीं थी। इसलिए उन्होंने एक नवीन स्वरलिपि पद्धति की रचना की जिसे विष्णु दिगम्बर स्वर लिपि पद्धति कहते है। उन्होंने कुल मिलाकर पचास पुस्तकें लिखी जिनमें संगीत बाल प्रकाश, बीस भागों में राग प्रवेश, संगीत शिक्षा, महिला संगीत आदि प्रमुख है। जनता में संगीत के प्रचार-प्रसार के लिए वे कुछ समय तक 'संगीतामृत प्रवाह' नामक मासिक पत्रिका भी निकालते रहे। सन् 1930 में वे लकवाग्रस्त हो गये और 1931 में उनका देहांत हो गया।

श्रीविष्णु नारायण भातखन्डे जी का जन्म 10 अगस्त, 1860 को मुम्बई के बालकेश्वर नामक स्थान में कृष्णाष्टमी के दिन हुआ था। स्कूली शिक्षा के साथ-साथ वे संगीत शिक्षा भी प्राप्त करते रहे। उन्होंने सितार, गायन और बासुरी की शिक्षा प्राप्त की थी और इनका अच्छा अभ्यास किया था। उन्होंने सेठ बल्लभ दास जी से सितार और गुरू राव बुआ बेलवाथकर, जयपुर के मुहम्मद अली खां, ग्वालियर के पं. एकनाथ, रामपुर से, कस्बेअली खां आदि व्यक्तियों से गायन की शिक्षा ली। उन्होंने बी.ए. और एल.एल.बी. की परीक्षाऐं भी उत्तीर्ण की। कुछ दिन वकालत की पर उनका मन वकालत में नहीं लगा और वे वकालती छोड़ संगीत सेवा में लग गये। संगीत के शास्त्रीय पक्ष की ओर संगीतज्ञों का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय उन्हीं हो जाता है। उनके समय में संगीतज्ञ संगीत शास्त्र पर बिल्कुल ध्यान नहीं देते थे जिसके कारण उनके गायन वादन में बड़ी विषमतायें आ गयी थी। अतः उन्होंने देश के विभिन्न भागों का भ्रमण किया और संगीत के प्राचीन ग्रंथों की खोज की। यात्रा में जहा भी उन्हें संगीत का विद्वान मिला उससे सहर्ष मिलते गये। उनसे भावों का विनिमय किया और जो कुछ भी ज्ञान धन देकर, सेवा कर अथवा शिष्य बनकर भी जो कुछ भी प्राप्त हुआ उसे निःसंकोच प्राप्त किया। विभिन्न रागों के बहुत से गीत एकत्रित किये और उनकी स्वरलिपि 'भातखन्डे क्रमिक पुस्तक' छः भागों में संग्रहित कर संगीत प्रेमियों के लिए अथाह भण्डार का द्वार खोल दिया। इन क्रमिक पुस्तकों से संगीत के छात्रों को बहुत लाभ हुआ।

क्रियात्मक संगीत को लिपिबद्ध करने के लिए भातखन्डे जी ने एक बेहद सरल और नवीन स्वरलिपि पद्धति की रचना की जो 'भातखन्डे स्वरलिपि पद्धति' कहलाती है। आज के हिन्दुस्तानी संगीत में यही स्वरलिपि पद्धति प्रचलित है।

नवीन थाट-राग वर्गीकरण भी श्री भातखन्डे जी की ही देन है। उस वक्त रेडियो, टेलीविजन का दौर नहीं था तो संगीत के प्रचार प्रसार के लिए उन्होंने संगीत-सम्मेलन की कल्पना की और 1916 में बड़ौदा नरेश के सहयोग से प्रथम संगीत-सम्मेलन का सफलतापूर्वक आयोजन किया। 1925 तक उन्होंने पाच वृहद् संगीत-सम्मेलन आयोजित किये। उनके प्रयत्नों से कई संगीत महाविद्यालय की स्थापना हुई जिनमें मेरिस म्यूजिक कॉलेज, लखनऊ, माधव संगीत विद्यालय, ग्वालियर तथा म्यूजिक कॉलेज, बड़ौदा आदि उल्लेखनीय है। उन्होंने संगीत पर कई पुस्तकें लिखी जो इस प्रकार है - हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति

(क्रमिक पुस्तक मालिका-छः भागों में), भातखन्डे संगीत शास्त्र- चार भागों में, अभिनव राग मंजरी, लक्ष्य संगीत, स्वर मालिका आदि।

जीवन भर संगीत की सेवा करते हुए इस महान संगीतज्ञ का निधन 16 सितम्बर 1936 को हो गया।

वास्तव में पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर और पंडित विष्णु नारायण भातखंडे एक दूसरे के पूरक थे। एक ने जनता के समक्ष संगीत का भव्य रूप रखा तो दूसरे ने उन्हें देखने के लिए ज्ञान-चक्षु प्रदान किये। आज का संगीत जगत इन दो महान विभूतियों का ऋणी है जिन्होंने संगीत को सर्वसाधारण के लिए पूरी तरह से सुलभ कराया। वर्त्तमान शास्त्रीय संगीत शिक्षा का स्वरूप इन्हीं दो महान विभूतियों द्वारा तैयार ढ़ाचे पर खड़ा है।

आज का समय पूरी तरह बदल चुका है। संगीत-सम्मेलन, रेडियो, टेलीविजन, कम्प्यूटर पर इंटरनेट - यू ट्यूब, गूगल जैसे कई आधुनिक इलेक्ट्रानिक साधन हो गये हैं जिन्होंने संगीत को सबके लिए अति से अति सुलभ कर दिया है। प्रश्न है कि नेट पर भी कितने लोग शास्त्रीय संगीत को सर्च करते हैं। रिमोट से चैनल बदलने वाले आधुनिक युग में दूरदर्शन पर प्रसारित होने वाले शास्त्रीय कार्यक्रम के कितने दर्शक और श्रोता हैं?

यह खुशी की बात है कि संगीत शिक्षा को उच्च विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय शिक्षा से जोड़ा गया है जिससे संगीत में रूचि रखने वाले छात्रों को आसानी हो गयो है। उन्हें इसके लिए भटकना नहीं पड़ता। एक तरह से उनकी मुह मांगी मुराद पूरी हुई है। इसके अलावा कई संगीत संस्थान भी हैं जो शास्त्रीय संगीत की शिक्षा देते हैं। विद्यालयीय शिक्षा से जुड़ने से रोजगार के अवसर भी बढ़े है। विभिन्न चैनलों ने चमक-दमक भरी संगीत प्रतियोगिता का आयोजन कर संगीत की तरफ लोगों का रूझान बढ़ाया है, संगीत सीखने की ललक बढ़ाई है। पर यहा भी शास्त्रीय संगीत को पर्याप्त जगह नहीं मिली है। शास्त्रीय संगीत को लोकप्रिय बनाने के लिए यह जरूरी है कि हम उसके मूल उद्देश्य 'आनंद की सृष्टि' को ध्यान में रखते हुए नियमों के अन्दर स्वर का काम करें। उदाहरणार्थ किसी राग की विलम्बित बंदिश गाते हुए इतना विलम्ब न कर दें कि आम श्रोता ऊबने लगे। स्वतंत्र आलाप, लंबा और उबाऊ न हो। बंदिश को उस राग के अनुकूल स्वरों के साथ इस तरह भरना चाहिए कि रोचकता बनी रहे और उसका भावात्मक पक्ष कमजोर न हो। तभी आम दर्शक और श्रोता इससे जुड़ पायेंगे और इसका आनंद उठा पायेंगे।

सबसे बड़ी बात यह है कि शास्त्रीय संगीत को समझने और उसकी सही प्रशंसा करने के लिए संगीत का थोड़ा बहुत ज्ञान सबको होना जरूरी है। संगीत की बारीकिया सभी को भले समझ न आये, कम से कम इतना तो समझ में आये कि आलाप तान क्या है, सरगम क्या चीज है? इसके लिए हमें जनता को थोड़ा बहुत संगीत शिक्षित करना होगा। यह तब संभव होगा जब संगीत शिक्षा को प्राइमरी शिक्षा से जोड़ा जायेगा। हम प्राथमिक कक्षा से ही राष्ट्रभाषा हिन्दी के अलावा विदेशी भाषा अंग्रेजी को जगह दे सकते हैं तो संगीत की भाषा क्यों नहीं? जबकि भारतीय जीवन के पग-पग में संगीत है। जन्म से लेकर मृत्यु तक विभिन्न संस्कारों में संगीत अभिन्न रूप से है। तब संगीत की शिक्षा, शिक्षा के शुरूआती दौड़ से ही क्यू न शुरू हो? हम नहीं कहते कि इससे शास्त्रीय संगीत कलाकारों की बड़ी खेप तैयार हो जाएगी या तानसेनों की फौज खड़ी हो जाएगी पर अच्छे कानसेन जरूर तैयार हो जाएंगे और यही शास्त्रीय संगीत शिक्षा का सही स्वरूप होगा।

स्वर साधना की चुनौतियाँ

आहना शर्मा

संस्कृत में नाद शब्द का सामान्य अर्थ अव्यक्त ध्वनि माना जाता है। नाद को ब्रह्म का रूप माना गया है। 'नाद ब्रह्म' यह शब्द सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। सृष्टि का वह आदि कारण है ऐसा भी कहा गया है। अकारादि और ककारादि अक्षर, पद, वाक्य इत्यादि इसी अव्यक्त ध्वनि के व्यक्त रूप हैं। वह 'न' और 'ए' के संयोग से उत्पन्न होता है। शास्त्रों में 'न' प्राणाबीज है और 'द' अग्निबीज है। प्राण और अग्नि के संयोग से नाद की उत्पत्ति होती है।

संगीत में जो नाद उपयोग में आता है वह आहत होता है। यों तो बादल की गड़गड़ाहट, कारखानों की खटाखट, हवा की सरसराहट, पानी की कलकलाहट इत्यादि सभी ध्वनियाँ आहत नाद के प्रकार हैं। किन्तु संगीतोपयोगी आहत नाद वही है जिसमें झंकार हो, अनुरणन हो, और जो रंजक होकर कान और मन को आनन्द प्रदान करने वाला हो। संगीत में जो आहत नाद बरता जाता है, उसे हम शास्त्रीय भाषा में श्रुति और स्वर के नाम से पहचानते हैं।

श्रवणाच्छुतयो मताः।
श्रूयन्त इति श्रुतयः।

(संगीत रत्नाकर)

श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वात् ध्वनिरेव श्रुतिर्भवित्।।

(विश्वासु)

अर्थात् जो सुनाई दे, वह श्रुति है। किन्तु संगीत-शास्त्र में इतना व्यापक अर्थ लेने से काम नहीं चल सकता, क्योंकि कान से सुनाई देनेवाली तो ऐसी अनेकों ध्वनियाँ हैं, जो कि संगीत में काम नहीं आतीं। इसलिए उपरोक्त सस्कृत व्याख्याओं का जरा संकुचित अर्थ लेकर यह कहना होगा कि जो ध्वनि कान से सुनाई दे, जो रंजक होकर कान, मन और आत्मा को सुख दे, आनन्द दे, वही श्रुति है। रंजकता की शर्त तो संगीतापयोगी सभी नाद के लिए रहेगी ही।

भरतमुनि ने इन 22 श्रुतियों का प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा सिद्ध करने के लिए चतुःसारणा की विधि बताई है। उन 22 श्रुतिया के सर्वसम्मत नाम निम्नाक्त हैं-

1. तीव्रा, 2. कुमुद्वती, 3. मन्दा, 4. छन्दावती, 5. दयावती, 6. रंजनी, 7. रक्तिका, 8. रौद्रा, 9. क्रोधा, 10. क्षिती, 11. रक्ता, 12. सन्दीपनी, 13. आलापिनी, 14. वज्रिका, 15. प्रसारिणी, 16. प्रीति, 17. मार्जनी, 18. मदन्ती, 19. रोहिणी, 20. रम्या, 21. उग्रा, 22. क्षोभिणी।

स्वर की व्याख्या 'संगीत-रत्नाकर' में इस प्रकार दी गयी है :-

श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणानात्मकः।
स्वतो रंजयति श्रोत चित्तं स स्वर उच्यते।।

(सं. रं. 1।3।24-25)

अर्थात् जो ध्वनि श्रुति के 'अनन्तर' उत्पन्न होती हो, जो स्निग्ध हो यानी रूखी न हो, जो अनुरणानात्मक हो (जिसमें झंकार हो), और जो स्वयमेव यानी अपने आप बिना किसी अन्य सहायता के सुननेवाला के चित का रंजन करती हो, वह ध्वनि स्वर है।

श्रुतिः-जो स्वरो की शुद्ध और अशुद्ध अथवा अविकृत और विकृत अवस्था का कारण हो, जो स्वरो के ऊँचे नीचे अन्तर को नापने का मापदण्ड हो, जो स्पष्ट रूप से प्रयोग में आने पर स्वर कहलाती हो, और प्रयोग में न आने की अवस्था में जो श्रुति कहलाती हो, जो स्वर से भिन्न होकर भी अभिन्न हो, एवं गमकादि प्रयोगों में छिपी हुई रहकर जो रस की

शोध छात्रा, संगीत एवं मंच कला संकाय, बी.एच.यू., वाराणसी

अभिव्यक्ति का कारण हो, ऐसी अनुरणानात्मक और अनुरंजक ध्वनि को श्रुति कहते हैं।

स्वर-वह अनुरणानात्मक नाद जो किसी प्रकार के आघात से उत्पन्न होता हो, जो रंजक हो, जो श्रोता चित्त को सुख देनेवाला हो, जो निश्चित श्रुति-स्थान पर रहते हुए भी अपनी जगह से ऊपर या नीचे हटने पर विकृत होता हो और आत्मा के सुखदःआदि संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने में जो सहायक हो, उसे स्वर कहते हैं।

संगीत में हम मुख्य रूप से दो विशेषताएँ समझते हैं-एक तो ध्वनि की मधुरता या कर्णप्रियता और दूसरे काल की नियमित गति। ध्वनि यदि कानों को सुनने में रंजक न लगे तो उसे हम संगीत के उपयुक्त नहीं मानते।

इस तरह यदि कोई नियमित गति न हो तो भी संगीत नहीं बन सकता है। इन्हीं दोनों बातों को संगीत की भाषा में स्वर और लय कहते हैं और संगीत के यही दो मुख्य तत्त्व हैं। अब हम स्वर और लय सम्बन्धी विषयों को अलग-अलग समझ लें।

संगीत के प्राचीन ग्रन्थों में स्वर को समझाने से पहले नाद की ही व्याख्या की गई है। आज भी हम पहले नाद को समझ कर ही स्वर की बात करते हैं क्योंकि स्वर का आधार नाद ही है और इस प्रकार वही संगीत का भी आधार है। मनुष्य, पशु-पक्षी-वाद्य की आवाज, बर्तन की झनझनाहट, खटपट, झरने की कलकल ध्वनि आदि इस जगत् में सुनाई देने वाली प्रत्येक ध्वनि आहत नाद के अन्तर्गत जाती है। नाद के अन्तर्गत गाने या वाद्य की ध्वनि और रव में अन्य सभी ध्वनियाँ जैसे शोरगुल, खट-खट, पट-पट आदि रहतीं हैं। नाद और रव दोनों ही आहत नाद के अन्तर्गत आ जाते हैं।

स्वर दो प्रकार के होते हैं-एक शुद्ध और दूसरे विकृत। जो स्वर प्राकृत हों, सहज हों, शिक्षा में सुलभ हों, उन्हें शुद्ध कहते हैं। हमारे यहाँ बिलावल थाट और कर्णाटक पद्धति में शंकराभरण मेल के नाम से जो स्वर समूह प्रचलित है, पश्चिम में जिसे नेचुरल स्केल कहते हैं, वे ही शुद्ध स्वर हैं, और ये स्वर ही हमारे यहाँ सर्वप्रथम सिखाये जाते हैं। यही स्वर जब अपने नियत स्थान से ऊपर उठते हैं या नीचे उतरते हैं तो वे उस बदले हुए रूप में विकृत स्वर कहलाते हैं। शुद्ध स्वर जब अपने नियत स्थान से नीचे उतरते हैं, तब कोमल कहलाते हैं और जब ऊपर चढ़ते हैं तब तीव्र नाम पाते हैं। 'रि ग ध' और 'नि' ये चार स्वर नीचे उतर कर कोमल बनते हैं, और 'म' अपने स्थान से ऊपर चढ़कर तीव्र 'म' कहलाता है।

सात स्वरों में से 'सा' और 'प' ये दो स्वर कभी भी अपने स्थान से नहीं हटते, इसलिए इन्हें अचल स्वर कहा जाता है। शेष पाँचों स्वर 'रि ग म ध नि' विकृत बनते हैं, इसलिए इन्हें चल स्वर कहते हैं।

स्वर-संवाद-कुछ स्वर जोड़ियाँ ऐसी होती हैं जिनका मेल कानों को मधुर मालूम पड़ता है जब किन्हीं दो स्वरों का एक ही समय पर साथ प्रयोग करने से दोनों का सम्बन्ध प्रिय मालूम दे, मधुर लगे, तो ऐसा कहा जाता है कि दोनों में परस्पर संवाद है। संगीत की प्रचलित भाषा में यों भी कहा जाता है कि अमुक दो स्वर आपस में मिल जाते हैं। यह 'मिल जाना' या स्वरों का आपसी मधुर सम्बन्ध ही ''स्वर-संवाद'' कहलाता है। संवाद को प्रत्यक्ष देखने-सुनने के लिए यों कह सकते हैं कि तानपूरे पर 'सा' और 'प' के तार को एक के बाद एक तुरन्त छेड़ें। इस प्रकार पहले तार की गूँज दूसरे तार के बजने तक बनी रहती है, और दोनों तारों की ध्वनि आपस में कैसी मिलती है यह सुनकर समझा जा सकता है। हारमोनियम पर 'सा' 'प' के पर्दों पर दो अँगुलियाँ रखकर इन्हीं दो स्वरों की ध्वनि, एक साथ भी सुनी जा सकती है और इन परस्पर संवाद को जाँचा जा सकता है।

संसार भर के संगीत में मुख्य स्वर-संवाद दो ही माने गये हैं-एक 'सा-प' और दूसरा 'सा-म'। यानी ये दो स्वर-जोड़ियाँ मुख्य रूप से संवाद-सम्बन्ध से युक्त हैं।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में स्वरों का विशेष महत्व है। स्वरों की उत्पत्ति के विषय में कहा जाता है कि सामवेद में तीन स्वरों का प्रयोग मान्य था जिन्हे क्रमशः उदात्त अनुदात स्वरित कहा जाता है।

उदात्ते निषादगांधारी अनुदात्त ऋषभधैवती।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपंचमा।

ऋग्वेद में मृदंग के थाप में भी स्वराच्चारित होता है। वीणा में सभी स्वर समाहित है। वैसे स्वराच्चारित का सबसे मधुर वाद्य यन्त्र माना गया है। सामवेद में स्वरा के तीन रूपों का वर्णन है।

उदात् नी ग
उनुदानू रे ध
स्वरित सा म प

ये स्वरें क्रम में न होकर अव्यविस्थत थ जिनके द्वारा ऋग्वेद की ऋच्चओ का गान होता था। आगे चलकर यहां स्वरों सप्तस्वरो में परिवर्तित हुए जिन्हें क्रमशः क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद, अतिस्वार्य नाम से स्वरो की संज्ञा सामवेद में दी गई। इन सभो स्वरो की साधना विशेष प्रकार के पुरूष या स्त्रिओ द्वारा होता था। जिन्हें सामगायक या गायिका कहा जाता था, वर्षो तपस्या के पश्चात् स्वरो पर नियन्त्रण होने के बाद ही किसी भो ऋच्चाओ का गायन किया जाता था। चूकिं सात ही स्वर महत्वपूर्ण थ इस कारण शुद्ध स्वरो की प्रबलता था व विकृत स्वरो की उत्पत्ति अमान्य था। आगे चलकर यही स्वर षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम पंचम, धवत, निषाद आदि नामो से प्रचलित हुए स्वर की महत्ता साधना पर निभर करती है, प्रत्येक मनुष्य के शरीर के अनुसार अलग-अलग ढंग से शारीरिक रचनाए होती है जिससे कंठ संस्कार भो अलग-अलग होते है। इसी आधार पर किसी का स्वर यन्त्र मोटा व किसी का पतला होता है, परन्तु स्वरो का प्रभाव सभो मनुष्यो में एक समान होता है। यदि सा स्वर की आन्दोलन संख्या 240 मान्य है तो सभो मनुष्यो को जो संगीत से जुड़े हैं उन्हें सा का उच्चारण आन्दोलन संख्या के नियमानुसार करना पड़ेगा। इसी प्रकार स्वरो का अभ्यास करते समय प्रत्येक स्वरो का ध्यान स्मरण भक्ति-शक्ति तथा उनके स्वरूप का वर्णन को जानना अनिवार्य है, यहा तक की ऋषि मुनियो ने संगीत ग्रन्थो में प्रत्येक स्वरो की जाति, गुण, रंग, नाड़ी, देवता आदि का वर्णन किया है। जिससे ज्ञात होता है कि प्रत्येक स्वर का अपने में एक महत्वपूर्ण स्थान है।

स्वरो के दो रूप पूर्ववत् दिया गया है-शुद्ध व विकृत जो आधुनिक युग में पूर्णतया सर्वत्र विद्यमान है पहले की अपेक्षा संगीत के क्षत्र में कई परिवर्तन हुए हैं जिनमें मुख्य वाद्य यन्त्र में हारमानियम अत्यधिक प्रचलन में है। संगीत स्वर साधना के लिए ऐसा कोई भो वाद्य यन्त्र उचित नहो है जो सहारा देता है परन्तु हारमोनियम पर ही अत्यधिक अभ्यास करने से स्वर बिगड़ जाते हैं, जिससे संगीत साधना करने वालों को श्रुति दोष हो जाता है।

स्वरों की साधना तानपूरे पर ही मान्य होता है। तानपूरे के चार तार में बारहों स्वर निवास करते है जो पूर्णतया श्रुतियों को छान कर स्वरों में परिवर्तित कर स्वयंभू के रूप में मनुष्यों के अन्तआत्मा में समाहित होते हैं तथा नाद ब्रह्म की उत्पत्ति में सहायक होते है।

आधुनिक वातावरण में अत्यधिक ध्वनि प्रदूषण है। ध्वनिओं का तेज उच्चारण, ध्वनि सामग्रियाँ जैसे टेपरिर्काडर, कम्प्यूटर, लैपटॉप, मोबाइल फोन आदि सामग्रियाँ ऐसे हैं जो ध्वनि प्रदूषण में अत्यधिक सहायक हैं। यदि छात्र या छात्राएं किसी संस्थान में अथवा घरानों में संगीत शिक्षा अर्जित करने जा रहे हैं तो उन्हें तानपूरा पर बल देना चाहिए, परन्तु आधुनिक प्रभाव से वे तानपूरा खरीदने के पक्ष में न होकर मोबाइल अथवा इलेक्ट्रॉनिक रागिनी (तानपूरा) का प्रयोग करते है। यह नवयुग का प्रभाव है।

स्वर साधना हेतु मात्र तानपुरे का प्रयोग होना चाहिए तथा तानपूरे के स्वरों का सही जगह मिलाकर स्वरों की साधना करनी चाहिए। प्रत्येक स्वरों का घंटो अभ्यास तानपुरे पर करने से गला सुरीला बनता है, परन्तु आज के दौर में ऐसा नहीं है। किसी को साधना करने का समय नहीं है, अपनी जीवन शैली को पूर्णतया बनावटी बना लेने के कारण लोग स्वरों की साधना नहीं करते। अतः प्रतिभाशाली होते हुए भी उत्तम गायक नहीं बन पाते। कहा जाता है कि तानसेन जी ने राग दीपक गाकर आग लगाया था। ऐसा अभी के लोग नहीं कर सकते। कारण यह है कि तानसेन जी के समय में ध्वनि प्रदूषण नहीं था। एकान्तवास में बैठकर उन्होंने स्वर-साधना से सिद्धि प्राप्त की। उसके पश्चात् उन्होंने कई रागों का निर्माण किया। वैज्ञानिक उपकरणों के बढ़ जाने के कारण आधुनिक संगीत की पहचान कुछ अलग है। इस नये दौर में घंटों बैठकर स्वरों की साधना करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य ह।

संदर्भ सूची-

1. संगीताञ्जलि : चतुर्थ भाग स्व. पं. आमृकारनाथ ठाकुर पृ. सं. 1,2,3
2. संगीताञ्जलि : प्रथम भाग पृ. सं. 2-3

संगीत में शिक्षा के बढ़ते प्रतिमान

डॉ. बीनू डोगरा

संगीत मानव जाति के लिए कुदरत का एक अनुपम उपहार संगीत से न केवल ओत-प्रोत है अपितु सृष्टि का स्फुरण भी संगीत से ही अभिव्यक्त होता है। चिड़ी के उड़ान का उनके कलरव से भान होता है, नदी की कल-कल से उसके बहाव का, झरने के झर-झर से पानी की बहुलता एवं उसके उत्थान का आभास होता है। गाय के रंभाने में भी एक ग्वाले को सांगीतिक अनुभूति अभिव्यक्त होता है। वाणी तथा अन्य साधनों जो इतना स्वाभाविक व प्राकृतिक है, उसे औपचारिक शिक्षा में कैसे बाँधा जाए। जब अन्य क्षेत्रों में शिक्षा आजीविका, जीवन-यापन और पेशे से जुड़ी है तो संगीत के क्षेत्र में संगीत केवल संगीत के लिए ही क्यों?

इसमें भी औपचारिक सनद तथा पेशेवर शिक्षा का संगीत में कैरियर से जुड़ा होना चाहिए।

बीसवीं शताब्दी का आरंभ केवल भारत के स्वातंत्र्य युग का ही क्रान्ति काल नहीं है, अपितु संगीत शिक्षण की दृष्टि से भी एक अनोखी क्रान्ति का युग माना है। इससे पहले अनौपचारिक तौर पर ही गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा ही संगीत शिक्षा के अवसर थे। परन्तु आज शिक्षण का क्षेत्र विस्तृत हो गया है, अधिक लोग संगीत को सुनते, समझते एवं सीखते हैं, जिसके फलस्वरूप संगीत की शिक्षा सबके लिए सुलभ हो गई है। किसी ने ठीक ही कहा है कि यदि किसी देश के आकार, देशवासियों के रहन सहन एवं संस्कृति का सार देखना चाहो तो उस देश के संगीत के सार को देख लो।

आज किसी विद्यार्थी को संगीत सीखने हेतु गुरू के घर रह कर उनकी सेवा करना अनिवार्य नहीं, उसे अलग-अलग घराने की विद्या एक ही मंच से सुनने को मिल जाती है। इसके अतिरिक्त विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्व-विद्यालय द्वारा शिक्षा का प्रावधान होने से एक तो संगीत शिक्षण में एकरूपता आई है और परिणाम के अवसर बढ़े हैं। संगीत के क्षेत्र में शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार से कलाकारों को अपने जुनून को कायम रखने के साथ ही साथ उनके अजीविका के साधन भी बढ़े है। inter-disciplinary अन्य विषय में प्रवेश का प्रयोग बढ़ रहा है वैसा ही संगीत के क्षेत्र में भी वांछनीय है सीमित शिक्षा केवल मानवीय संकाय तक ही सीमित न रख कर विज्ञान, वाणिज्य तथा प्रबंध संकाय में भी प्रसारित होनी चाहिए। जिस प्रकार स्वास्थ देखभाल (Health-Care) क्रय-विक्रय, कोश एवं खेल कूद में विशेष प्रकार की M.B.A का प्रावधान है, उसी प्रकार संगीत में भी प्रबंध की डिग्री होनी चाहिए। संगीत से जुड़ी संस्थाओं, प्रोग्राम आदि में उनके लिए रोजगार के अवसर खुलेंगें। इसी प्रकार संगीत के विभिन्न क्षेत्रों में क्रियात्मक प्रदर्शन की औपचारिक शिक्षा का विधान होना चाहिए जिससे कलाकार अपनी प्रस्तुति को और अधिक निखार कर धन अर्जित करने की क्षमता को बता सकेगा।

जन संचार (Electronic Media) अपने आप में बहुत बड़े उद्योग के रूप में विकसित हुआ है। फिल्म उद्योग के रूप में विकसित हुआ है। फिल्म

प्रवक्ता एवं अध्यक्ष, संगीत विभाग, पी.जी.जी.सी.जी. कॉलेज, चंडीगढ़

उद्योग तथा दूरदर्शन दोनों आपस में जुड़े हैं, संगीत का इन क्षेत्रों के विकास में बहुत बड़ा योगदान है। आज कई जानी मानी फिल्म उद्योग तथा कला क्षेत्र की हस्तियाँ अपने ज्ञान व अनुभव को सांझा करने तथा अगली पीढ़ियों को उसमें प्रशिक्षित करने के लिए आगे आई हैं नए-नए शिक्षण संस्थान खोले जा रहे है तथा उनमें विधिवत संगीत की शिक्षा के आयाम बढ़े हैं। प्रतिभा की पहचान तथा उसके विद्रोहन में ये संस्थाएं सशक्त भूमिका निभा रही है।

निस्संदेह कलाकार अपनी कला से परिपक्व होता है, कला की अभिव्यक्ति तथा उसके संवर्धन में, माध्यमों तथा मंच योगदान होता है। संगीत के क्षेत्र में तथा शिक्षा में इन माध्यमों तथा मंचों का बड़ी तेजी से विकास हो रहा है। आज ये संस्थाएँ, गोष्ठियां कार्यशालाएँ, सेमिनार आदि को आयोजित कर संगीत शिक्षण के प्रचार-प्रसार में रचनात्मक भूमिका निभा रही हैं। अनुसंधान की भी इस क्षेत्र में काफी गुंजाइश है। आने वाले समय में संगीत की शिक्षा पठन-पाठन, समीक्षा, अनुसंधान की रूपरेखा बदलने वाली है। समय के साथ इसे बदला जाता है तो अच्छा है, नहीं तो वक्त के आगे सबको झुकना पड़ता है।

यह तो नितांत सत्य है कि आज का संगीत विद्यार्थी अधिक चतुर और बुद्धिमान है। यह शिक्षित होने के कारण प्रत्येक बात को वैज्ञानिक कसौटी पर कस कर ही ग्रहण करता है। आज के समय में वह संगत शिक्षक, पार्श्व गायन, वादक, मंच कलाकार, गीतकार, धुनकार, लेखक, प्रकाशक, वाद्य निर्माता आदि के रूप में हमारे समाज में अर्थोपार्जन नहीं कर रहा है, अपितु चिकित्सा के व्यवसाय में भी संभावनाएं विकासोन्मुख है।

संगीत जितना अध्यात्मिकता से जुड़ा हुआ है उतना ही आज उस सार से, जिसे हम भौतिक संसार कहते हैं। भूमण्डलीयकरण तथा वैश्वीकरण ने संगीत को शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार को परिवर्तित कर दिया है। आज संगीत समय तथा स्थान की सीमाएं लाँघ कर अनन्त फैले क्षितिज को छूने को बेकरार है। You-tube, Whatsapps, Internet तथा आधुनिक मंचों ने नए माध्यम तथा नई विद्याएँ ईजाद की हैं। सूचना क्रांति (T.T.) ने संगीत के क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन कर डाले हैं। अतः हम कह सकते है कि पिछले कुछ वर्षो में विभिन्न संस्थाओं, सजग व्यक्तियों, पत्र-पत्रिकाओं, जनसंचार तथा इंटरनेट द्वारा शिक्षण परम्परा को सचेत करने के प्रयत्न हो रहे हैं और यह अत्यंत स्वागत योग्य है।

संगीत और मानव की अंतःध्वनि का संबंध

राकेशचन्द्र आर्च

संगीत मानव के भीतर उपस्थित समस्त तत्वों को गति देने के साथ-साथ तारतम्य भी प्रदान करता है। संगीत से विचारों व चिन्तन की धाराओं को प्रभावित किया जा सकता है। शरीर में उपस्थित करोड़ों कोशिकाओं एवं नाड़ी तंत्र की तरंगीय अनुभूति और फिर गति देने में संगीत महत्वपूर्ण है। संगीत या ध्वनि को ही मानव ने सर्वप्रथम अपने शरीर के बाह्य एवं भीतरी तंत्रिका तंत्र में भोगा, इसके पश्चात् उसने कभी स्वतः तो कभी विचार के पश्चात् प्रतिक्रिया प्रकट की। मनुष्य में भाव को (जो एक निश्चित रासायनिक क्रिया का प्रतिफल है) संगीत या ध्वनि के माध्यम से प्रभावित एवं तरंगित किया जा सकता है। संगीत मनोविज्ञान को जन्म भले ही न दे किन्तु उसे नव काया एवं नव रूप अवश्य दे सकता है। इस प्रकार मनोविज्ञान भी संगीत का उपयोग करने के पश्चात् संगीत को जन्म न देते हुए भी नए-नए रूप एवं भाव अवश्य दे सकता है। अतीत से लेकर वर्तमान तक, संगीत एवं मनोविज्ञान यूँ ही एक दूसरे के सहायक एवं कभी-कभी पूरक भी बनते रहे हैं।

स्वध्वनि की व्याख्या करते समय हमें नाद को सर्वोपरि रखना चाहिए। योग, साधना एवं मोक्ष की क्रिया के लिए भी हमें वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी एवं आकाश के तत्वों का शरीर के भीतर विद्यमान होना और उन्हें मन एवं मस्तिष्क के संतुलन के चरम तक ले जाना आवश्यक है। बाह्य स्वर, ध्वनि अथवा ज्ञान की अपेक्षा स्वध्वनि एवं स्वज्ञान को सदैव ही सकारात्मक दृष्टि से देखा गया है। "अलेन डेनीलू" ने योग एवं साधना की विधि पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "yoga the method of Re:integration में लिखा है -

An outward perception is not real knowing, but only way for us to know a thing completely; outwardly and inwardly, is to identify ourselves with it, only when we are one with it we can know it in itself and not merely as it appears to be from and external point of view.

अर्थात् बाहरी ज्ञान को जान लेना ही सच्चा ज्ञान नहीं है, इसके लिए भीतर के ज्ञान (स्वर) को सुनना आवश्यक है। दोनों में तारतम्य स्थापित कर लेने पर ही हम स्वयं को अर्थात् ज्ञान को पा सकेंगें।

यहाँ उसी ज्ञान को स्पष्ट करने की कोशिश की जा रही है। जो एक नाद (अनाहत) के रूप में मानव में विद्यमान है। साधारण व्यक्ति के द्वारा सत्कर्म के लिए "आत्मा की आवाज" जैसे शब्दों का प्रयोग उसी के अन्दर के मनोविज्ञान (अप्रकट) ज्ञान के साथ स्वयं में विद्यमान सत्य अर्थात् नाद की ध्वनि को सुनना ही है।

स्वध्वनि मनुष्य को समाधि की ओर ले जाती है। ध्वनि के द्वारा ही नवीन रागों ध्वनियों, रसों एवं भावों का जन्म संभव है। एक संगीत साधक जब आराधना एवं साधना में पूर्णतः लीन हो जाता है तब उसका मस्तिष्क संगीत की उर्जा से ही अपनी गति को सर्वाधिक प्रेषित करता है। कई संगीतज्ञों के स्वप्न में निर्मित होनें या कंठस्थ होने वाले

शोध छात्र, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

राग-रागनिया इसी स्वध्वनि एवं मनोविज्ञान का परिणाम है।

योग सूत्रों में समाधि अर्थात् अंतःकरण की स्वध्वनि से पूर्ण चेतना की विवेचना करते हुए 'पतंजलि' ने लिखा है -

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपून्यमिव समाधिः।"

इसमें पतंजलि द्वारा मनोविचार के प्रथम अंश से लेकर पूर्ण ज्ञान की प्रक्रिया को समाधि कहा गया है। समाधि अथवा संपूर्ण चेतना के लिए स्वध्वनि अर्थात् देह के भीतर के स्वर को सुनना अति आवश्यक है। इसी से विचार (धारणा) ध्यान (एकाग्रता) एवं समाधि (पूर्णज्ञान) की प्राप्ति संभव मानी जाती है।

नाद को संगीत का मुख्य स्रोत माना गया है। इसमें आहत एवं अनाहत नाद आते हैं। आहत नाद को बाह्य एवं कृत्रिम ध्वनि से जोड़ा जाता है। अनाहत नाद (अनहद्) स्वयं के विचारों के (ज्ञान) पराकाष्ठा का परिणाम होता है। पुराने समय में ऋषि-मुनि इसी अनाहत नाद के माध्यम से स्वयं के अंतःकरण को प्रशिक्षित, परिरक्षित एवं परिपक्व करते थे। विचारों को एकाग्र एवं संयमित करने हेतु, स्वयं की देह में उपस्थित ध्वनि को सुनना एवं उसके कंपन से समस्त स्नायु तंत्र व ज्ञानेन्द्रियों को संगठित करना तथा अपनी उर्जा को वश में कर लेना अति आवश्यक है। यदि हम अपने नाक, मुँह एवं कान बंद कर लें तब भी हमें एक ध्वनि का आभास स्वयं के भीतर होता है। स्वर या आहत तक आने के लिए हमें श्वास को बाहर छोड़ना पड़ता है। बाहर उपस्थित कणों में संघर्ष एवं दवाब, ध्वनि अथवा स्वर को जन्म देते हैं किन्तु इसको दूर रखकर स्वयं के भीतर भी ध्वनि के संचार को सुना जा सकता है। पंडित शारंगदेव द्वारा रचित ग्रंथ "संगीत रत्नाकर" में नाद की परिभाषा इस प्रकार दी गई है -

नकारं प्राणनामनं दकारमनलंविदुः।
जातः प्राणग्नि संयोगा तेन नाद्रोभिधियते।।

अर्थात् नाद शब्द 'न' एवं 'द' दो अक्षरों के मेल से बना है। 'न' से नकार यानि प्राण और 'द' से दकार यानि 'अग्नि'। इसी अग्नि तथा वायु के संयोग से नाद की उत्पत्ति होती है।

यहाँ नाद को देह के भीतर उपस्थित वायु एवं उर्जा के सतत घर्षण के रूप में देखा जाना चाहिए। जैसे-जैसे मानव का मस्तिष्क स्वयं को एक स्थिर विचार अर्थात् स्वयं की गति के निकट ले जाता है वैसे-वैसे उसके विचारों का ऊथल-पुथल में भी ठहराव आता जाता है। इसी कारण उसकी समस्त ज्ञानेन्द्रियों एवं कोशिकाओं सहित शरीर में उर्जा के दसों वायु को उचित आहार मिलता रहता है। इस क्रिया के निरंतर चलने से मनुष्य में उपस्थित उसकी उर्जा, जो विचारों एवं चिन्तन के असमंजस के कारण बिखरी हुई होती है, वह एकत्र हो जाती है। इसी उर्जा के संगठन से मानव एवं शुद्ध जीव की भाँति सत्य, असत्य, शुभ-अशुभ के ज्ञान को जान पाता है। इसी ऊर्जा एवं स्वध्वनि के संगठन से वह प्रकृति के अन्य तत्वों से नाता जोड़कर दूरदर्शिता, पूर्वाभास एवं आत्मबोध को जान पाता है।

डॉ. उमर मोहम्मद ने अपनी पुस्तक "भारतीय संस्कृति पर मुसलमानों का प्रभाव" में अनाहत नाद को बड़े ही रोचक एवं ज्ञानपूर्ण ढ़ंग से प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार सूफी लोग इस अनाहत ध्वनि को 'आवाज-ए-मुतलक' और सुलतान-ए-अजकार' कहते हैं वह भी इसे शाश्वत मानते हैं। वह इसे महाकाश की अनुभूति का माध्यम मानते हैं; यह नाद एक साधारण व्यक्ति नहीं सुन सकता किन्तु साधक इससे अवश्य ही परिचित होते हैं। आहत नाद से पैदा ध्वनि को "इस्में आजम" कहते हैं हिन्दू इसे 'वेदमुख' कहते हैं। इसे ऊँ (प्रणव) का उच्चारण माना गया है। "इस्मे-आजम' को तकलीफ, दफा व फना जैसे तीन गुणों से युक्त माना गया है। फतह, जम्मा और कसरा को वेद में अकार उकार और मकार कहा गया है। हिन्दू इस नाद का ऊँ के रूप में स्मरण करते हैं जो 'इस्में-आजम' से मिलता जुलता माना गया है।

यहाँ भी अनुभूति, तकलीफ, दफा या फना जैसे शब्दों का अर्थ सीधे-सीधे मानव के मनोविज्ञान से है। मानव द्वारा स्वयं के भीतर उपस्थित वायु, अग्

एवं अग्नि के वेग को साधना एवं स्वयं की चेतनाओं को जागृत करना ही स्वध्वनि को जीवन में सम्मिलित करना है। जीवन, शरीर की क्रिया तंत्र-प्रणाली की गति है और स्वध्वनि उसके व्यवहार एवं व्यक्तित्व की मूल-प्रणाली है। व्यक्तित्व को भारतीय दर्शन, मनोविज्ञान का ही एक सूत्र मानता है।

संगीत में स्वध्वनि का अत्यंत ही प्रभावकारी स्थान हैं। संगीत को कंठ में सँजोने से पहले मस्तिष्क एवं विचारों का पटल उसे सुनता है और उस सुने या विचारे हुए शब्दों अथवा ध्वनि को 'स्मृति' जीवंत करती है। सभ्यता, संस्कृति एवं अन्य संसाधनों के कारण जन्म लेने वाले शब्द, व ध्वनि को स्वयं में समाहित कर मानव के भावों को समाहित करते हैं।

संगीत के छात्रों द्वारा संगीताभ्यास के समय, सही स्वर को टटोलने के लिए, स्वयं के एक कान पर हथेली रखकर तान अथवा स्वर लगाना, भीतर के स्वर को बाहर के स्वर से मिलाना ही है। मानव शरीर में मस्तिष्क का एक भाग स्मृतियों एवं ध्वनियों के पक्ष को संजोता है। किसी भी सुने या कंठस्थ किए गए स्वर; राग एवं गीत को पुनः गाने के लिए उसे स्वयं के भीतर उपस्थित स्मृति पक्ष के माध्यम से इसी स्वर को सुनना होता है। देह के भीतर की ध्वनि को ही शुद्ध ध्वनि माना गया है। एक कान बंद करके भीतर के स्वर को सुनने के पश्चात् उसे उच्चारित हो रहे स्वर से मिलाकर विद्यार्थी अपने स्वर में हो रहे त्रुटि का ज्ञान कर सकता है।

कई बार बाह्य ज्ञानेन्द्रियों से टकराती किसी ध्वनि, गीत अथवा संगीत को भलें ही हम कानों से न सुन पायें किन्तु हमारा स्नायु तंत्र उस ध्वनि को मस्तिष्क तक भेज रहा होता है। इसी कारण हम स्वतः ही उस गीत को गाने लगते हैं (जिसे हमारे कान नहीं सुन पा रहे हैं) अंततः कुछ दूरी तय करने के पश्चात् हम उसी गीत या स्वर को किसी के यंत्र पर बजते हुए सुनते हैं। यहाँ भी स्नायुतंत्र द्वारा भेजी गई संवेदना, हमारे मस्तिष्क द्वारा, देह में उपस्थित स्वध्वनि (स्मृति तंत्र) को जागृत कर हमें उस गीत एवं संगीत का पूर्वाभ्यास करा रही होती है।

मनुष्य ने सर्वप्रथम स्वध्वनि से ही समस्त ध्वनि, सुर (tone) एवं स्वर (Note) के संसार को खोजने की इच्छा एवं व्याकुलता को पाया होगा। यहीं स्वध्वनि हमारे जीवन के समस्त भावों को सँजोती एवं संप्रेषित करती है। स्वध्वनि मनुष्य की सबसे निजी एवं मूल्यवान धरोहर हैं। यहीं स्वध्वनि न्यास से लेकर मोक्ष तक के सभी गुणों का अवलोकन भी करती है।

भारतीय मनोविज्ञान में 'मन' को क्रियाशील माना गया है। इसी की सक्रियता के आधार पर ही आन्तरिक एवं बाह्य इन्द्रियों में गतिशीलता को माना गया है। पाश्चात्य विद्वानों के मत में, शरीर की क्रियाशीलता से ही मन का गतिमान होना संभव है। भारतीय मनोविज्ञान में मन को यंत्र के रूप में माना गया है पाश्चात्य विज्ञान में भी मस्तिष्क को शरीर को गति देने वाला एवं शरीर से गति लेने वाला एक महत्वपूर्ण यंत्र (अंग) माना गया है। मन की तीनों (चेतन, अवचेतन एवं अचेतन) अवस्थाओं को मानव-जीवन की सबसे घनिष्ट एवं बहिर्मुखी कुंजी माना गया है। स्वप्न एवं आशाओं के ज्वार भाटा को शरीर की यर्थार्थ क्रियाओं से हटाकर, शुद्ध रूप से मानसिक भावों में पड़े हुए अविकसित एवं अपूर्ण विचारों का प्रतिपादन माना गया है।

"Geerge Hurtman" का विचार है, "The body not only breaths, reends digests but it also loves to drawn and create history" मन में होने वाले प्रत्येक उद्वेलन का प्रभाव शरीर की क्रियाओं पर पड़ता है। शरीर की इन्हीं क्रियाओं से मन की क्रिया जन्म लेती है अर्थात् शरीर एवं मन एक दूसरे के पूरक हैं। मन शरीर के बाह्य बाधों को आन्तरिक प्रक्रिया से जोड़ता है। यह आन्तरिक प्रक्रिया भावों को जन्म देती है तथा अंततः प्रेरणा के लिए विशेष मनोस्थिति का निर्माण करती है।

संगीत का शरीर के बाह्य एवं भीतरी अंगों से सीधा संबंध है। संगीत में वायु एवं ऊर्जा का शुद्ध रूप से प्रयोग होता है। कंठ संगीत में स्वर को उच्चारित करने के लिए शरीर के भीतर की वायु एवं प्राण की आवश्यकता पड़ती है। इरा कार्य के लिए

मस्तिष्क सबसे अधिक क्रियाशील होता है। उसी के भावों के अनुरूप शेष शरीर तंत्र भी क्रियात्मक व्यवहार करते हैं एवं स्वर के जन्म को संभव बनाते हैं। शरीर या मन के एक भी अंश (तरंग) में त्रुटि या असंगति होने पर संगीत (स्वर) से जुड़ी इन्द्रियों में व्यवधान होता है एवं कण्ठ स्वर में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है।

संगीत के लिए मन के साथ उसकी स्थिति अर्थात् मनोस्थिति का भी विशेष महत्व है। इसके बिना एक अभ्यस्त संगीतज्ञ स्वर को तो जन्म दे सकता है किन्तु संतोष, संवेदना एवं संवेग की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का पोषण नहीं कर सकता। संगीत के लिए उचित एवं अनुकूल मनोस्थिति का होना भी अति आवश्यक है। जब तक संगीतकार या किसी भी अन्य कलाकार का चित्त संयत नहीं होगा या बाह्य कारणों से व्यवधान होगा अथवा आन्तरिक द्वंद या कलेश लेश मात्र भी रहेगा तो उसकी एकाग्रता भंग हो जायगी एवं प्रस्तुति में प्रभाव की कमी दिखाई पडेगी।

संगीत मन के भावों एवं उसकी क्रिया को एकाग्र करने का कार्य करता है। संगीत मन में स्फूर्ति एवं उत्साह का भी संचार करता है। घटनाक्रम की स्थिति के अनुरूप निर्मित किए गए राग एवं रागनियाँ मन की अवस्था को एकाग्र करने और उसे संबंधित दशा में ले जाने एवं फिर वहाँ से निकलने का कार्य करती है क्योंकि संतुष्टि या संतोष सदैव ही नव-निर्माण एवं नव कर्म को उत्साहित करते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति भी अलग-अलग मनुष्य में अलग-अलग प्रकट होती है।

प्रत्येक कला स्वयं में अनूठी एवं अति प्रभावकारी होती है। मन अपनी रूचि या इच्छा के अनुरूप उस ओर झुकाव प्रदर्शित करता है और उस काल के सुख एवं मर्म का भोग करता है। मन जीवन के समस्त भावों जैसे - रचना, कल्पना, चयन, स्वप्न, आनंद, गर्व शौर्य इत्यादि को उन्ही के अनुरूप अभिव्यक्ति प्रदान करता है। शब्दों के मर्म को समझने एवं उसे प्रस्तुत करने में 'मन' ही संगीत का सबसे निकटतम सहयोगी होता है। शब्द के मर्म एवं आघात को सर्वप्रथम मन ही भोगता है। तत्पचात् वह श्रोता तक पहुँचता है। मन मानव के समस्त अनुभवों का स्वामी कहलाता है। मनोस्थिति का जनक एवं उसके निराकरण का श्रोत भी मन नही होता है।

'मन' जो व्यक्तित्व का केन्द्र बिन्दु है स्वयं में जीवन के चार स्तर लेकर चलता है।

1. शारीरिक, 2. बौद्धिक, 3. मानसिक एवं 4. अध्यात्मिक

'मन' इन चारों अवस्थाओं एवं श्रोतों की संवेदनाओं एवं शक्ति का योग करता है। तत्पश्चात् इन्हीं अवस्थाओं को पुनर्जीवित करता हे। इसी के कारण मनुष्य स्मरण एवं विश्लेषण की शक्ति से परिपूर्ण रहता है। अलग-अलग मनुष्यों में ये चारों स्तर अलग-अलग तरह के होते हैं।

संगीत मानव को मर्म से लेकर मोक्ष का ज्ञान एवं प्रकाश देता है। भक्ति एवं मोक्ष की सीमाओं को छूने में भी मन का सर्वाधिक प्रिय साधन संगीत है। संगीत को ईश्वर के सबसे निकट माना गया है। और मन में ईश्वर के वास को स्वीकार्यता मिली है।

निष्कर्षः यह कहा जा सकता है कि संगीत मनुष्य के जन्म के साथ ही उससे जुड़ गया था। मानव अपनी प्रारंभिक कठिनाइयों एवं जिज्ञासाओं को इसी माध्यम से हल किया था। संगीत एक ऐसा माध्यम है जो पूर्णतः प्राकृतिक एवं शुद्ध है। केवल संगीत ही बिना किसी सहायक यंत्र या कारक के अपने माधुर्य, अर्थ एवं अपनी सार्थकता को बनाए रख सकता है। संगीत की विभिन्न ध्वनियाँ किसी भी मानसिक रोगी के मानस-पटल को उद्दीपक का कार्य प्रदान करती है। इसके उपचार स्वरूप रोगी के आवेगों में स्पष्ट परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। संगीत कभी भी देह या वातावरण के एक पक्ष को संतुष्ट नहीं करता, इसमें सर्वांग का गुण निहित है। संगीत जब भी प्रस्फुटित होता है तो वह सभी अंगों, कारकों एवं प्रवृत्तियों को संतुष्ट करता है। संगीत में युद्ध करूणा, व्यथा, क्रोध, काम, तृष्णा, मृत्यु, आघात, विरह इत्यादि पक्षों में भी स्वयं की सुंदरता एवं प्रभाव बनाए रखने की क्षमता है। अलग-अलग

मनुष्यों में अलग-अलग रीति एवं ढ़ंग से संगीत प्रभावी हैं। संगीत संपूर्ण जगह के सुन्दर एवं सजीव पक्ष को गतिशील बनाने का गुण रखता है। "विलियम ब्राउन" ने भी सुंदर एवं सजीव प्रकृति के इस पक्ष को उद्धृत करते हुए कहा है -

Clearly, it should be the universe as a perfected system, as the full realization of the Good, Beautiful and the Truth"

संगीत भी सर्वत्र सुन्दर, सत्य, एवं पूर्णता के इसी लक्ष्य की पूर्ति करता है। एक क्षेत्र के संगीत में दूसरे क्षेत्र के संगीत अथवा स्वर विधि को सम्मिलित करने पर भी, स्वयं संगीत की सार्थकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संगीत एवं स्वरों का प्रत्येक अंश (पक्ष) हमारे शरीर के अंगों के साथ सामंजस्य बैठाए हुए हैं। किसी-किसी व्यक्ति में ये काफी परख या तीक्ष्ण होते हैं तो किसी-किसी व्यक्ति में "भैंस के आगे बीन बजाने "जैसी स्थिति भी होती है। शरीर में क्रिया करते अंगों-प्रत्यंगों के सहयोग एवं माध्यम से ही ध्वनि, स्वर (Note) एवं सुर (Tone) में परिवर्तित होकर संगीत को जन्म देती है। प्रायः यह संगीत सभी मनुष्यों क लिए कमोवेश अहलादकारी सिद्ध होता है।

संदर्भ :-

1. Danielou A lain, Yoga the method of reintegration.
2. पतंजलि योगसूत्र
3. उमर डॉ. मुहम्मद, भारतीय संस्कृति पर मुसलमानों का प्रभाव
4. तिवारी डॉ. किरण, संगीत एवं मनोविज्ञान

संगीत में गुरू-शिष्य परंपरा

डॉ. लालति कुमारी

गुरू-शिष्य परंपरा शास्त्र तथा कला दोनों के लिए आवश्यक मानी जाती है। घराना अथवा संप्रदाय गुरू तथा शिष्य के संयोग से बनता है। शास्त्र अथवा कला के सूक्ष्म अंगों का ग्रहण तब तक संभव नहीं है जब तक की योग्य गुरू से इनकी शिक्षा न ली जाए। विद्या वही सफल होती है जो सही रूप से सीखी जाती है। किसी भी विद्या या कला की सफलता में जितना योगदान योग्य शिष्य का है, उतना ही योग्य आचार्य का भी। भरताचार्य ने आचार्य के अनेक गुणों में एक गुण शिष्य निष्पादन बताया है। अच्छे शिष्य ही गुरू-परंपरा को वास्तविक रूप से सुरक्षित रखने में समर्थ होते हैं और ऐसे शिष्य को तैयार करने की क्षमता अच्छे आचार्य ही रखते हैं। विद्यादान करने वाले गुरू और प्रतिभाशाली शिष्य के होने पर ही 'संप्रदाय' या 'घराने' का जन्म होता है।[1]

घराना शब्द का शाब्दिक अर्थ शब्दकोष में वंश या कुल लिखा है। सांगीतिक परिभाषा में भी इसी अर्थ का प्रयोग हुआ है। घराना शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। घर आना अर्थात् घराना। दक्षिण भारत में घराना को संप्रदाय कहते है। कुछ संगीतज्ञ घराना शब्द का अर्थ शिष्य परम्परा (गुरू-शिष्य) स्वीकार करते है।2

प्राचीन भारतीय गायकों में कुछ ऐसे प्रसिद्ध गायक हुए है, जिन्होंने अपनी प्रतिभा से एक विशेष प्रकार की गायन शैली को जन्म देकर उसे अपने पुत्रों तथा शिष्यों को सिखाकर प्रचलित किया। उनकी उस शैली का अनुकरण उनके शिष्यगण तथा कुटुम्बी अब तक करते चले आ रहे हैं उन गायन शैलियों को घराने का नाम दिया जाता हैं। अनेक घरानों के राग स्वर तो प्रायः एक ही होते हैं उनके गाने का या स्वरों को प्रयुक्त करने का ढंग अलग-अलग होने के कारण कहा जाता है कि ये अमुक घराने की गायकी है।3

ये घराने की प्रथा संगीत के सभी प्रकारों में पाई जाती है। जिस प्रकार गायन में घराने होते है उसी प्रकार वाद्य तथा नृत्य के भी घराने देखे जाते हैं। गायन के अंतर्गत भी ध्रुपद ख्याल तथा ठुमरी जैसी शैलियों में भी गायकों के विभिन्न घराने देखे जाते है। घरानों का प्रचलन उत्तर तथा दक्षिण दोनों में बराबर पाया जाता है। उत्तर में जिसे घराना कहते हैं, दक्षिण में वही संप्रदाय कहलाता है। संप्रदाय शब्द हमारे संस्कृति के लिए कोई नया नहीं है। कला तथा साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न संप्रदाय पाये जाते हैं। इन्हें पाश्चात्य देश में स्कूल कहा जाता है। हमारे यहाँ यही मत या वाद के नाम से जाना जाता है। प्राचीन काल में संगीत में शिवमत, ब्रहममत तथा भरतमत जैसे विभिन्न सम्प्रदाय थे। ये वे घराने थे जिनकी संगीत तथा नाट्य के संबंध में विशिष्ट एवं स्वतंत्र मान्यताएँ थी। दत्तिल, कोहल, मतंग तथा अभिनवगुप्त भरत सम्प्रदाय के अनुयायी थे।4

घराना रीति या शैली का ही दूसरा नाम है। किसी अधिकारी गुरू में कला-प्रदर्शन के अंतर्गत कोई विशिष्ट गुण हुआ करते हैं। कला अनंत और अपार है। सौन्दर्य इसकी आत्मा है। इस सौन्दर्य के अनेक पहलू होते हैं। इनमें से किसी एक पहलू पर किसी घराने का अधिकार हो जाता है। कोई बड़ा कलाकार इसी अंग को ऐसे अधिकार में कर लेता है कि अन्य अंगों की अपेक्षा वह उसकी कला में चमकता रहता है। वही गुण वह अपनी शिष्यों को सिखलाते हैं, शिष्य अपने गुरू की परंपरा को आगे

पी.डी.एफ., विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

बढ़ाता है तथा शाखा प्रशाखाओं में उस विद्या का विस्तार करता है। घराना एक विशिष्ट गायन शैली वादन शैली एवं नृत्य शैली का सूचक होता है। यह शैली या रीति-रिवाज जिस कलाकार के द्वारा प्रवर्तित होता है वही उसके संस्थापक माने जाते हैं और उन्हीं के नाम से अथवा निवास स्थान से गायन के घराने का नामकरण होता है। घराने का सूत्रपात तब होता है जब घराने की शैली में कोई विलक्षणता हो या कोई अनोखा तत्व हो शैली का अनोखापन घराने का विशिष्ट लक्षण होता है।[5]

यह घराना स्थिर तब होता है जब इस शैली के अनुसरण करनेवाला शिष्ट समुदाय हो। घराना तब तक सुरक्षित रहता है जब तक घराने की रीति-नीति के साथ ईमानदारी की भावना शिष्य के मन में रहती है। यदि किसी प्रतिभाशाली कलाकार की शैली अभूतपूर्व हो परन्तु वह उसी तक सीमित हो, तो उसे किसी घराने का प्रवर्तक नहीं माना जाता। घराने के सुरक्षित चलते रहने में अनुकरण की प्रवृत्ति बड़े महत्त्व की होती है। जहाँ अनुकरण के स्थान पर स्वतंत्र प्रतिभा या कल्पना का उपयोग किया जाता है, वहीं घराने का अंत हो जाता है। घराना शुरू होने के लिए वैयाक्तिकता या निजीपन होना जरूरी है परन्तु घराना सुरक्षित रूप से चलने के लिए शिष्यों की वैयक्तिकता बाधक हो सकती है।

संगीत का जो सामूहिक तथा बड़े पैमाने पर अध्यापन आज किया जा रहा है वह 20वीं शताब्दी की देन है। इसके पहले यह प्रणाली नहीं थी। गुरू शिष्य को सीना-ब-सीना तालीम देता था और शिष्य भी बड़ी श्रद्धा से कला की खूबियों को बटोरता रहता था। उस्ताद की सारी विशेषताएँ शागिर्द के कंठ अथवा हाथ में आ जाती थी और यह आना जरूरी भी माना जाता था। उस्ताद का यह प्रयत्न होता था कि उसके शिष्य किसी दूसरे का गायकी नहीं गाए।

संगीत जगत् में घराने का बड़ा ही महत्व है। घराने से मतलब किसी विशिष्ट गुरू-परम्परा से होता है। घराने की प्रथा संगीत के सभी प्रकारों में पाई जाती है। जिस प्रकार गायन में घराने होते हैं, वैसे ही वाद्य तथा नृत्य के भी घराने देखे जाते हैं। गायन के अंतर्गत भी ध्रुपद, ख्याल तथा ठुमरी जैसी शैलियों में भी गायकों के विभिन्न घराने देखे जा सकते है। घरानों का प्रचलन उत्तर तथा दक्षिण दोनों पद्धति में बराबर होता है। उत्तर में जिसे घराना कहते है दक्षिण में वही सम्प्रदाय कहलाता है।

संप्रदाय शब्द हमारी संस्कृति के लिए नया नहीं है। इन्हें पाश्चात्य देश में स्कूल्स कहा जाता है। हमारे यहाँ यही मत या वाद के नाम से जाने जाते हैं। प्राचीन काल में संगीत में शिवमत, ब्रह्ममत, तथा भरतमत जैसे विभिन्न सम्प्रदाय थे। ये वे घराने थे जिनकी संगीत तथा नाट्य के संबंध में विशिष्ट एवं स्वतंत्र मान्यताएँ थी। दत्तिल, कोहल, मतंग तथा अभिनवगुप्त भरत सम्प्रदाय के अनुयायी थे।[6]

यह गुरू शिष्य परंपरा शास्त्र तथा कला दोनों के लिए आवश्यक माना गया है। शास्त्र अथवा कला के सूक्ष्म अंगों का ग्रहण तब तक संभव नहीं है जब तक योग्य आचार्य से शिक्षा न ली जाए विद्या वही सफल होती है जो सही रूप से सीखी जाती है।

हम सभी जानते है कि हमारे संगीत क्षेत्र में गुरू का अनन्य महत्त्व सदियों से चला आ रहा है। यहाँ तक कि संगीत में बिना गुरू के संगीत विद्या हासिल नहीं की जा सकती। ऐसी हमलोगों की धारणा हो गई हैं। हमारी कई दंतकथाएँ ईश्वर के समान गुण बखानती है।7

हमारी गुरू परंपरा कितनी पुरानी है यह बताना मुश्किल है। क्योंकि वह केवल संगीत ही नहीं है। हमारे जीवन के सभी अंगों में वह भरी हुई है। गुरूजनों के प्रति श्रद्धा हमारी संस्कृति का चिरस्थायी पहलू है। हमारी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था का हव एक व्यावहारिक तत्व है। इस तत्व का जब आविर्भाव विद्या के क्षेत्र में हुआ तब गुरू की महत्ता और भी बढ़ गयी। माता-पिता केवल जन्म देते हैं और गुरू ही व्यक्ति को धर्म पुत्र सार्थक जीवन बिताने के लिए समर्थ बनाता है इसलिए, गुरू को और कार्य अन्य रिश्तों से बढ़कर गाना गया है।

हर एक गुरूकुल की अपनी-अपनी विशेषता होती है जैसी आजकल किसी विद्यालय की या विद्यापीठ की होती है। गुरूकुल की यह विशेषता शिष्य परंपरा से पीढ़ी में सुरक्षित रखी जाती थी, जैसे संगीत में एक-एक घराने की विशेषता शिष्य परंपरा से चलती है। यह गुरूकुल की शिक्षा पद्धति आज के दौर में संगीत शिक्षा को गुरूकुल पद्धति के स्थान पर संस्था के माध्यम स देने के मुख्य प्रयोजन है। (1) अन्य विषयों के समकक्ष करना। (2)

अनियमितता और मनमौजीपन को दूर करना (3) यथा संभव अधिक सुलभ बनाना (4) समाज में संगीतज्ञ को पुनः सम्मान दिलाना। वास्तव में गुरूकुल पद्धति की कमियों को दूर करना ही संस्थागत संगीत शिक्षक या विश्व विद्यालय शिक्षण के जन्म का मूल कारण रहा है।

मध्ययुग में मुद्रण या अन्य तांत्रिक साधन न होने के कारण सभी विद्याएँ मौखिक रूप से सिखाई जाती थी। संगीत तो उसकी प्रकृति से ही मौखिक कला है। अतः उसके लिए गुरू शिष्य पद्धति अनिवार्य थी। वैदिक काल में यज्ञानुष्ठान में वेद मंत्र विशिष्ट शैली में गाये जाते हो तथा और भी गायन संकीर्त्तन होते थे। यह गायन-वादन की शिक्षा ही संगीत में गुरू-शिष्य परंपरा का आरंभ हो सकता है। आगे चलकर संगीत एक स्वतंत्र लौकिक कला के रूप में विकसित हुआ। उसकी शास्त्र शुद्ध शिक्षा के लिए गुरू की आवश्यकता बन गई।

संगीत में गुरू-शिष्य परंपरा का महत्व बढ़ाने का और भी एक विशेष कारण है, जो हमारे प्राचीन जीवन दर्शन का मूर्धन्य तत्व है और संगीत के रूप में जोड़ा गया है, वह है हमारा आध्यात्मिक विचार आध्यात्मिकता भारतीय दर्शन की विशेषता है।

"गुरू ब्रहमा गुरू विष्णुः गुरूदेवो महेश्वरः
गुरू साक्षात् परब्रहमा तस्मई श्री गुरूवेनमः[8]

यह मंत्र हम प्राचीन काल से आध्यात्मिक साधना में जपते आये हैं। हम संगीत को ऐसी कला मानते हैं जो ईश्वर प्राप्ति का मुख्य साधन है। संगीत का आनन्द हम ब्रहमानन्द सहोदर समझते हैं। इस आध्यात्मिक प्रभाव के कारण संगीत में गुरू के साथ वही संदर्भ और संकेत जुड़ गये जो आध्यात्मिक गुरू है और संगीत का गुरू का गुरू आध्यात्मिक गुरू के समान श्रद्धास्थान बन गया।

मध्ययुग के अंत काल में हमारी जीवन पद्धति बदलने लगी। परिस्थिति का दबाव और मन की उनसे चिपके रहने की प्रवृत्ति इस संघर्ष में कुछ संकीर्णता और विकृति आ गई। इस संकीर्णता और विकृति का आरंभ ग्यारहवीं शताब्दी से प्रारंभ हुआ मुसलमानी सत्ता जैसे-जैसे देश में फैलती गई वैसे हमारे प्राचीन सांस्कृतिक जीवन अस्त व्यस्त होने लगा। कई परंपरायें मिट गई और कई अपने तथ्य को भूलाकर चौखटे मात रह गई। संगीत जन जीवन में अपना स्थान छोड़कर सुलतान, नवाबों के दरबार में चला गया वहाँ उसकी कलात्मक प्रगति हुई किन्तु सांस्कृतिक संदर्भ छूट गया। वह एक विलासी कला बन गया सामाजिक जीवन में संगीत का स्थान गिर गया वह निचले स्तर के लोगों में प्रचलित हुआ। दूसरी तरफ दरबारी कलाकारों का एक नया वर्ग पैदा हुआ और राज्याश्रय के कारण उसे प्रतिष्ठा मिली, चूँकि संगीत का लक्ष्य दरबारों की ओर था। इन मान्यता प्राप्त दरबारी कलाकारों को गुरू का स्थान दिया जाने लगा। इनमें मुसलमानों की बड़ी तादाद होना भी स्वाभाविक ही था।10

वास्तविकता यह है कि गुरू-शिष्य में सच्चरित्रता ईमानदारी, अनुशासन, कल्पना शक्ति शुद्ध उच्चारण आदि संगीत की सामान्य शिक्षा के लिए किसी विशेष प्रकार के संस्कार की आवश्यकता नहीं किन्तु विशेष शिक्षा के लिए स्वर और लय की पकड़ मौलिक योग्यता है। इसके अभाव में संगीत की शिक्षा देने का अर्थ संगीत की आत्मा का हनन तथा समय और शक्ति का अपव्यय है।

गुरूकुल पद्धति में यद्यपि पाठयक्रम पाठ्य सामग्री और मूल्यांकन के लिए कोई निर्धारित क्रम व धन अथवा नियम नहीं रहता फिर भी गुरू और शिष्य की व्यक्तिगत शक्ति, योग्यता और रूचि के भेद के अनुसार इन तीनों का समावेश किसी न किसी रूप में होता था।

संदर्भ सूची-

1. संगीत मैनुअल, डॉ. मृत्युजय शर्मा तथा रामनारायण त्रिपाठी एच. जी. प्रकाशन, नई दिल्ली पृ.- 264
2. संगीत स्वरित, डॉ. रमाकांत द्विवेदी, साहित्य रत्नालय, कानपुर - 208001, पृ. - 199
3. संगीत विशारद, ले. वसंत, सं. - डॉ. लक्ष्मीनारायण गर्ग संगीत कार्यालय, हाथरस (उ. प्र.) पृ.-80
4. संगीत मैनुकल, डॉ. मृत्युजय शर्मा तथा रामनारायण त्रिपाठी, एच. जी. प्रकाशन, नई दिल्ली पृ. - 264
5. तथैव
6. तथैव
7. संगीत स्वरित डॉ. रमाकांत द्विवेदी, साहित्य रत्नालय कानपुर 208001, पृ. 308
8. संगीत स्वरित डॉ. रमाकांत द्विवेदी, साहित्य रत्नालय कानपुर 208001, पृ. 309
9. तथैव
10. तथैव, पृ.- 310

मराठी संगीत नाटक की परंपरा

डॉ. मेघना अष्टपुत्रे

मराठी संगीत नाटकों की परंपरा बहुत पुरानी है। मराठी नाटक का काल संत ज्ञानेश्वर काल से चला आ रहा है ऐसा प्रसिद्ध इतिहासकार श्री राजवाडे जी का कहना है। कै.वि. का राजवाडे जी को तंजवार में एक रामदासी मठ में बहुत पुरानी 'श्री लक्ष्मी नारायण कल्याण' इस नाटक की हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई, उस हस्तलिखित से श्री राजवाडे जी ने यह दावा किया की, मराठी नाटक की परंपरा संत ज्ञानेश्वर काल से चली आ रही है।

'श्री लक्ष्मी नारायण कल्याण' इस नाटक का रंगभूमि पर पहला प्रयोग कै. विष्णुदास भावे जी ने इ.स. 1843 मे. सांगली शहर में आयोजित कर मराठी रंगभूमि की प्राण प्रतिष्ठा की। उसके पश्चात भावे जी का 'सीता स्वयंवर' इस नाटक का प्रयोग मुंबई में हुआ, बादमें पुणे नगर आदि शहरों में प्रयोग होने लगे और नाटक लोकप्रिय होने लगा। भावेजी ने बहुत सारे पदो की रचना की जो नाटको में गायन योग्य थे।

इ.स. 1943 से 1995 तक पौराणिक नाटकों की परंपरा चली और उसमें श्री भावेजी रचित पदों का उपयोग किया गया। इस पदों का गायन रंगभूमि पर केवल जो सूत्रधार होता था उसके द्वारा होता था। तत्पश्चात बाबाजी दातार, नाना सोहनी, सरनाईक गोविन्ददास आदि नाटक मंडली द्वारा बहुत कुछ पदों की रचना की गयी।

इस तरह पौराणिक नाटकों का सिलसिला महाराष्ट्र में शुरू था तो अचानक एक महान संगीत नाटक कार आन्नासाहेब किर्लोस्करजी का उदय हुआ और मराठी संगीत नाटक को एक नयी दिशा प्राप्त हुई। आन्ना साहेब जब पूना में आए तब उन्होंने काफी पारसी नाटकों को देखा और ऐसे ही 'संगीत शांकुतल' नाटक का जन्म हुआ। 31 अक्टूबर इ.स. 1990 में संगीत नाटक का प्रथम दिन। समस्त कलाकारों द्वारा उत्साहपूर्ण वातावरण में रंगभूमि पर विराजमान होकर नादि शुरू हुई। (जिसको मंगलाचरण भी कहते है।)

पंचतंड नररूंड मालधर पार्वतीश आधी नमितो

'संगीत शाकुंतल' के इस प्रथम प्रस्तुति से मराठी रंगमंच पर संगीत नाटकों का युग शुरू हुआ। तत्पश्चात 1990 1992 में 'संगीत सौभद्र' नाटक का प्रयोग प्रस्तुत कर आन्नासाहेब ने 'मराठी संगीत नाटक के जनक' के नाम से मराठी रंगमंच के इतिहास में जगह बनायी। 1982 से 90 यह आठ साल आन्नासाहेब किर्लोस्करजी का कालखंड जाना जाता है। किर्लोस्करजी ने, नाटको में जिन पदों की रचना की वह नाटक का विषय कथा के अनुसार थी। आपने अपने पदो में साकी, दिंडी, कामदा आदि जिन वृत्तियों का उपयोग किया। उनके पद लोकप्रिय हो गए। नच सुंदरी, पांड नृपति जैसे पदों की स्वर रचना सरस, प्रासंगिक और सुबोध होने की वजह से तथा उसके ताजगी भरे संगीत से वह पद दर्शकों में लोकप्रिय हो गए और घर घर में जाकर पहुंच गए। यमन, भूप, जोगीया, ललत, पिलु, आसावरी, भैरवी जैसे रागों का प्रयोग उनके पदों में दिखायी देता है। तत्पश्चात 'संगीत सौभद्र' और उसके यश के दावेदार है भाऊराव कोल्हटकर, स्त्रीवेश भूषा परिधान किए हुऐ कोल्हटकर सुभद्रा की भूमिका

प्राध्यापिका, संगीत एवं प्रदर्शन कला संकाय, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा

में अजरामर हो गए। चढ़ी, पल्लेदार, सुरैल आवाज लिए संगीत रंगभूमि पर एक पश्चात एक वीररस, करूणरस युक्त पदगायन सुनकर दर्शको के तालियों के गड़गडाहट से सारा वातावरण गूंज उठता था।

1891 से 1911 तक के कालमें महाराष्ट्र में अनेक संगीत नाटक मंडलियों का उदय हुआ। वह वाईकर संगीत मंडली जिसमें पदों में शास्त्रीय स्वर रचनाओं का विशेषकर प्रयोग किया गया। पाटणकर नाटक मंडली में 'विक्रम शशिकला' जैसे नाटक में गुजराती और पारसी नाटकों की स्वररचना प्रयोग में ली गयी।

श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकरजी ने उसी ढाचे में बंधा हुआ नाट्यगीत परंपरा तोड़कर एक अलग पद्धति अपनाई जिसमें सभी रसों का समिश्र भाव प्रतीत होता है।

अन्ना साहेब किर्लोस्करजी की परंपरा यशस्वी रित्या चलाने वाले महान नाटककार की दृष्टि से मराठी रंगमंच के इतिहास में नाट्याचार्य देवलजी का नाम अवश्य लिया जाता है। देवलजी के कालखंड में शारदा, मृच्छकटिक जैसे नाटकों में रसपूर्ण, सुबोध, भावपरिपूर्ण ऐसे पदों की रचना कर आपने मराठी दिलों को जीत लिया था। 'संगीत शारदा' के कार्य पुरूष जलले बाई, कधी करिसी लग्न माझे, मूर्तिमंत भिती उभी आदि अर्थ सुलभ, पदों की रचना देवलजी ने की। महातारा इतुका, श्रीमंत पतीची राणी, आदि पदों से तो वह काल लोकप्रियता का उच्चांक प्राप्त काल कहा गया। देवलजी के नाट्य प्रतिभा का एक और आविष्कार अर्थात 'संगीत संशयकल्लोक'। गंधर्व नाटक मंडली के द्वारा रंगमंच पर लाया गया यह नाटक अभी भी उतना ही बहारदार कहलाएगा। 'कर का करी', संशय का मनी आला, मानिली आपुली, मृग नयना आदि पद देवलजी के काल में लोकप्रिय हो गये। तत्पश्चात इसी काल में दत्तोपंत हल्यालकर, चिंतोबा गुरव, जनुमाऊ निमकर, केशवराव भोंसले, रामभाऊ कुंदगोलकर, पुरूषोत्तम वामन शुक्ल आदि गायक-नट लोकप्रिय थे।

सन् 1905 में किर्लोस्कर नाटक मंडली में एक तेजस्वी हीरा चमकने लगा, वह था नारायण श्रीपाद राजहंस उर्फ बाल गंधर्व। 1905 से 1955 तक अपने रसिक दर्शकों के मन पर आधिराज्य चलाया। उनकी जवारीदार सूरेल आवाज, चपल गला, भक्कम लय-ताल, लटकापन आदि लीलाओं ने रसिक दर्शकों को पागल बना दिया था। संगीत सौभद्र, सं. मानापमान आदि नाटकों के साथ गंधर्व नाटक मंडली ने जन्म लिया और संगीत नाटक के एक नये युग का उदय हुआ। बाल गंधर्व जैसे लोकोत्तर नट सम्राट और गोविंदराव टेबे जैसे बुद्धिमान निर्देशन में निर्मित संगीत मानपमान, अर्थात एक अद्वितीय नाट्यकृती। जोगलेकर और बाल गंधर्वजी की जुगलबंदी अर्थात् एक अद्भुत अनुभूति। जोगलेकर के चंद्रीका ही जणु, या नव नवल, देहांता इन पदो ने दर्शकों को जितना मुग्ध किए उतना ही बालगंधर्वजी के नयने लाजवित, खरा तो प्रेमा, मला मदन भासे आदि पदो ने रसिको की 'वाहवा' मिलाइ थी।

गंधर्व नाटक मंडली में संगीत स्वयंवर खाडिलकर, सं. एकच प्याला आदि, तत्पश्चात विनायक बुवा पटवर्धनजी की 'विश्वामित्र' की भूमिका, गणपतराव बोडसेजी का स्वयंवर का कृष्ण, सं. एकच प्याला का सुधाकर, वामनराव सडोलीकर, नाना साहेब चाफेकर, गोविंदराव माशेलकर आदि नटवर्यों ने दर्शकों को आकर्षित किया था।

संगीत नाट्य युग अर्थात् संगीत का स्वर्ण युग। इसी कालमें धीरे धीरे अनेकानेक नाटक मंडलियों का उदय हो रहा था। उसमें से चिंतामणराव कोल्हटकर और मा. दिनानाथजी की बलवंत नाटक मंडली, गडकरीजी का भावबंधन, रणदुंदभी, उग्र मंगल नाटक बहुत लोकप्रिय हुऐ। तत्पश्चात बापुराव पेंदारकर के ललितकला दर्शन नाटक मंडली में 'सचेत गुलाम' नाटक में 'सदाकलहाविना' , 'शठमति सजला', सुखाने रमाया आदि पद रसिकों के मन में छा गये।

संगीत नाटक रंगमंच के विकास में अनेकानेक नटवर्यों का योगदान रहा जिनमें निवृत्तीबुवा सर नाईक, शंकरराव सरनाईक इनका नाम लेना आवश्यक है। नूतन संगीत मंडली से हीराबाई बड़ौदेकरजी ने संगीत रंगमंच लोकप्रिय किया तबसे महिला कलाकारों का रंगमंच पर आना प्रारंभ हुआ। उनका वद जाऊ

कुणाला, बलसागर, किती सांगु तूला आदि पदें लोकप्रिय हुई।

मास्टर कृष्णराव बखलेजी के शिष्य रहे जिन्होंने अपना बहुमूल्य योगदान दिया। सन् 1930 के पश्चात से द्रौपदी, नंदकुमार, मेनका, विधिलिखित संत कान्होपात्रा, आशा निराशा, अमृतासिद्धि आदि नाटकों को संगीत दिया कृष्णरावजी ने।

मध्यकाल अर्थात् 1934 से 1943 तक मराठी रंगमंच मृतावस्था में था। संगीत नाटकों के दिन समाप्त हुए है ऐसा सबका विचार होने लगा। चित्रपट की तरह सामान्य दर्शक आकर्षित होने लगा था। उस समय भाव गीतों का भी उदय हुआ था। उस पृष्ठभूमि पर केशवराव भोले जी ने नाटकों में भावगीतों का प्रयोग करना शुरू किया था, गायिका थी जोत्सना भोले।

उस समय कुलवधू नाटक आया।

मास्टर कृष्णरावजी ने इस नवनाट्य संगीत की परंपरा 25 साल संभाली।

1943 रोज नाट्य शताब्दी समारोह बड़ी धुमधाम से मनाया गया और फिर से मराठी रंगभूमि को चैतन्य मिला। उस वक्त बाल गंधर्व की उम्र साठ के आसपास थी फिर भी 'नखर कृष्णा समान' जैसे पदों को वन्समोर मिलता था। उन्हीं की प्रेरणा लेकर और उन्हीं को आदर्श मानकर शिलेदार मंडली, अनंत दामले उर्फ नूतन पेंढारकार, विमल कर्नाटकी, शांता मोडक, प्रमिला जाधव, गोहरबाई, शांता आपटे आदि कलाकारो ने अभिनय किया।

जयमाला शिलोदार उनकी कन्या किर्ती शिलोदार, भालचन्द्र पेंदारकर आदि कलाकार आगे आये और 1956 में विद्याधर गोखलेजी का 'पंडितराज जगन्नाथ' जय जय गौरी शंकर आदि नाटक रंगभूमि पर आए। गोखलेजी की पदरचना रसाल, प्रासादिक और अर्थपूर्ण होती थी। संस्कृत काव्य और शायरी दोनों का संगम उनके काव्य में दिखाई देता है। गोखले जी के नाटकों में छोटा गंधर्व, राम मराठे वसंत देसाई आदि संगीत दिग्दर्शकों का योगदान रहा। इस तरह आधुनिक संगीत नाटकों में जयराम शिलेदार, श्रीपाद नेवरेकर, मिनाक्षी, कान्होपात्रा, कुसुम शेडे, शांता मोडक, रामदास कामत, फैयाज, रंजनी जोशी, निलाक्षी जोशी, सुहासिनी मुलगांवकर ,प्रकाश धांगेकर आदि नये नये कलाकारों ने संगीत नाटक रंगभूमि को सुशोभित किया।

आधुनिक संगीत नाटकों के दिग्दर्शन में पं. जितेन्द्र अभिषेकी जी का उल्लेख अनिवार्य है। सं. मत्स्यगंधा, सं. कटयार कालजात घुसली नाटकों में नये संगीत दिग्दर्शकों ने पुरानी चौकट तोड़कर नये रागों में पदरचना की।

अतिआधुनिक काल में संगीत रंगभूमि का भविष्य कैसा होगा? इस चमचमाती, रंगविरंगी ग्लैमरस दुनिया में पारंपारिक संगीत रंगभूमि कितनी टिकेगी यह प्रश्न सबको हुआ था, परंतु भले ही बाल गंधर्वजी को देखने वाली पीढ़ी अस्त हुई हो अभी भी नये-नये संगीत नाटकों को उतनी ही भीड देखने को मिलती है क्योंकि की आजकल का रसिक श्रोता/दर्शक बुद्धीमान विचारवंत है और पुरानी परंपरागत संगीत कला को भली भाँति जानता है और उसका महत्व भी समझता है, यह बहुत खुशी की बात कह सकते है। इसलिए आज गंध नाटककार भी संगीत नाटक की तरह गए और 'लेकुरे उदंड जाहली' का उदय हुआ।

आज के दिन तक संगीत रंगभूमि का अस्तित्व कायम रखने के लिए अनेकानेक नये पुराने कलाकार, गायक, दिग्दर्शकों ने अथक परिश्रम किये। बहुमूल्य योगदान दिया फिर भी ऐसा लगता है भविष्य में बालगंधर्वजी, गडकरी, खाडीलकरजी आदि नाटककार फिर से इस मराठी रंगभूमि पर जन्म ले और उसको उज्जवल करे तो कितनी सौभाग्य की बात होगी।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. मराठी नाटक संगीत, बाल सामंत, पृष्ठ संख्या-5,8,10. 24
2. मराठी नाटक अभिनेत्री कीर्ति शिलेदार के साक्षात्कार से प्राप्त जानकारी के अनुसार,
3. मराठी नाटक संगीताची वाटचाल-प्रवचन के कुछ अंश

Karaikudiveena Gharana

Dr. Shanti Mahesh

Goddess Saraswati visualized in Hinduism always has a Veena with Her, expressing perhaps that music could also be a great mode to spiritual bliss. The Yajnavalkya Smriti mentions vînâvâdana tattvajñan œrutijtiviœradan tlajñaœcpraysena moksamrgam niyacchati ("The one who is well versed in Veena, one who has the knowledge of srutis and one who is adept in tala, attains salvation without doubt").

It is so celestial. The human voice has been referred to as 'gaatra Veena' in ancient times. It is our National Instrument. Karaikudi Veena Gharana has been surviving for eleven generations. Let us just glimpse through the doyens who made this Tradition. We are aware of the names only from its Fifth Generation and their names are given in this Paper.

Malayappa Ayyar- 1750 & Venkatesa Ayyar (1750)

Subbaraya Ayyar (1810)- given a shower (abhisheka) of gold coins by the Pudukkottai king.

They are the Vidvans who belonged respectively to the V and VI Generation. The vidvans of the names as per the history available to us are given below.

7th GENERATION

Subbarama Ayyar (1883-1936) & Sambasiva Ayyar (1888-1958)

The Karaikudi Tradition of Veena has the heritage at Thirukkokaranam, which continued at Karaikudi where the Chettiars offered spontaneous patronage for their reverberating melodic music.

Details regarding the above are available in the Ph.D., Thesis "South Indian Vina-Tradition and Individual style" by K.S. Subramanian submitted to Weslyan University, Middle Town, Connecticut in 1974.

Ref. Xerographic reproduction: Ann Arbour, Michigan: University Microfilms International 1981. The Paper below mentions those from this generation with flair for music, also aims to depict how the seed of melody is perpetual.

8th GENERATION

Subbarama Iyer had a son plus five daughters. The son named Subramanian was the eldest child. He was a scintillating Veena artiste who had performed at Travancore too. He lived only till his age of eighteen. One day afternoon, he was rendering 'Magudi', the snake charmer's music on the

Department of Music, Queen Mary's college, Chennai

Veena. A snake came then which made him aghast with horror. He developed severe hyperthermia and died after a week.

The daughters were: 1. Subbalakshmi 2. Sundarambal 3. Lakshmi 4. Sankari 5. Meenakshi

Their abode was pulsating perennially with music. In our history, women were not trained to learn and get established classical music performers till the period of N.C. Vasanthakokilam, Vina Dhanammal, D.K. Pattammal, M.S. Subbalakshmi, M.L. Vasanthakumari etc., Only three of his daughters viz. Lakshmi, Sankari and Meenakshi were taught music, till they attained their teen age.

1. FAMILY OF SUBBALAKSHMI

Her son Krishnamoorthy- the eminent internationally renowned mrdangist is a disciple of sri. Murugabhoopathy. He was teaching Mrdangam at Kalakshetra, Chennai and then has been teaching at London for more than three decades.

GRAND CHILDREN OF SUBBALAKSHMI

The children of her eldest son Late. Kameswaran who was residing at Karaikudi are quite in the music scenario.

Her grand-daughter Smt. Sugantha Sreedhar learnt Veena&Vocal from Smt.Lakshmi Ammal at Madurai, also enriched her Vocal potential from the genius Ramanathapuram. Sankarasivam, a renowned disciple of Harikesanallur Muthaiah Bhagavatar. She is teaching Veena and Vocal for more than two decades at Chennai.

Three of her grandsons were initiated by their uncle Krishnamoorthy (of the ninth generation) in mrdangam and have established themselves as performers, the eldest Sivakumar is a renowned Mrdangist at Delhi and the younger Sriram is a performer of Mrdangam at Chennai. Both of them provide excellent rhythmic support for many Bharatanatyam recitals. The youngest Subbaraman learnt Mrdangam and was always a Prize-Winner in many competitions like the Tamil Isai sangam, Karaikudi. He is an IT at the USA since more than a decade and half.

2. FAMILY OF SUNDARAMBAL

Sundarambal's children learnt music for some time. Music ever vibrates with them.

Her son 80 year Mr. Ganesan now retired Post Master is at Chennai having a flair for composing Devotioanal songs and poems in Tamil. His granddaughter Sweta Balasubramanian has been learning Vocal music since her age of five. It might be specially mentioned that she won the Best Vocalist Award from Shanmukhananda Sabha, Mumbai. Sangeetha Sri from Rasika Ranjana Sabha Tiruchirappali.

Sundarambal's daughter Bhuvaneswari learnt Veena for a few years from Lakshmi Amma. Jayalakshmi and Rajeswari, the other two daughters of Sundarambal learnt Vocal music. Sundarambal's son Chellappa expired a few years before and he had also surrendered himself to listening to classical music and was a retired employee Tamilnadu Government Office.

3. LAKSHMI AMMAL (1916- 1985)

She was a music teacher established at Madurai and was performing in the All India Radio just for very few years till 1950. Two of her children established are internationally reputed Vina artistes of the Karaikudi Parampara.

FAMILY OF LAKSHMI AMMAL

Lakshmi Ammal gave birth to a daughter in 1939., she was named Rajeswari, being born during the Navaratri Dussehra period. Lakshmi Ammal determined to make her daughter a Veena artist and sent her as a child to Karaikudi. Sambasiva Ayyar. Rajeswari started performing with Sambasiva Ayyar from 1949. She is the universally known Veena artist Rajeswari Padmanabhan.

The next is Venkataraman who learnt Veena initially, but did not take up music as his career, He was happy to see his wife who in addition to teaching English at a College in Madurai also learnt some music from his mother. The couple have been the chief keys to create the urge in their daughter Shanti succeed as a musician and Musicologist- making the tree of the Parampara yield ever sweet and fresh melody.

Lakshmi Ammal's son Subramanian, born in 1944, was adopted by Sambasiva Ayyar who coached him for some time. Dr. K. S. Subramanian is an internationally reputed Veena artiste with Ph.D., in music from the Weslyan University, USA. He is Professor. Emeritus, Department of Music, University of Madras. He is the Founder, Director of Brhaddhvani. BRHADDHVANI (meaning "Big or Universal Sound") is a non-profit organization based in Chennai, a research and training centre for musics of the world, founded in 1989 at Chennai. He is training students in music, producing reverberating, magnificent melody all over, all through.

Chandrasekar, the next son of Lakshmi Ammal (1951-2013) learnt Veena and was an enchanting vocalist too. He established himself in IT and retired as Special Director at Ashok Leyland, Chennai-having worked at various places before, hence only the family is aware of his potntial to sing- his music and voice very similar to Madurai Mani Ayyar. His wife is also very addicted to good music. Their son Dr. Srutisagar holding Ph.D., in Computer Science, is settled at London as an IT cum Management Professional had also learnt music for some time. Dr. Swaramya, their daughter doing MD at JIPMER Pondicherry now was always the prize-winner in singing competitions during her School and College. She has the goal to provide medical aid with her melodic heritage.

Sasikala, the younger daughter of Lakshmi Ammal who died in her forties was very good at Veena and Vocal music. She had bagged the Central Government Scholarship for learning music soon after her teens. Her son (who is a 31 year old IT professional at the USA has the potence to render flute- without having learnt from anyone. Her daughter, an Environment Engineer also settled at the USA learnt music till her age of 18.

Chandramouli, the youngest is also very versatile in rendering Veena, but a Computer Software Engineer by profession.

4. SANKARI AMMAL

Sankari Ammal (1920-1994) taught Veena at Kumbakonam for about five decades. She also performed with Lakshmi Ammal in the All India Radio.

FAMILY OF SANKARI AMMAL

Kamala Pasupati,- regular performer at the All India Radio for more than four decades. Although all her daughters have imbibed music, one Ms. Namagiri is presently doing Ph.D., as well as teaching Veena at Kalaikkaveri, Tiruchirapalli.

Daughters of her son Gopalan -Madhu, Vidya and Durga render Veena well.

Vasantha SivaramaKrishnan has taught Veena initially at the Thiruvaiyaru Govt. Music College, then for decades at Salem and presently at Kumbakonam in Tamil Nadu. Her daughter Uthra Suresh also renders Veena

Jaya Sukumar, Performer and Teacher of Veena at Singapore.

Nagalakshmi established herself as a Veena teacher at Tiruchirappalli, teaching students at Seetha Lakshmi Ramaswami College for decades and is presently teaching at Bangalore. Her daughter Harini also has learnt Veena.

Lakshmi Chandrasekar settled at Bangalore for more than three decades and has been training many students to render Veena. Her son Ganesh, a Computer professional at the USA has also learnt Veena. Her daughter Pallavi, presently also at the USA is a good singer in both Karnatik and Hindustani classical as well as semi-classical music.

Children of Meenakshi Ammal:

Meenakshi Ammal's daughter Rajalakshmi who passed away nearly before a decade and half learnt Veena. She was a singer too. She was teaching music at Madurai to students at her house. Although all her daughters learnt music from her and their grand-mother Meenakshi Ammal. One of Rajalakshmi's children, Lakshmi Prabha is settled at Mumbai and is teaching music there. The other children have learnt music, but have established themselves as Engineer etc.,

Meenakshi Ammal's finds himself involved in music, but is retired employee in the insurance Sector.

10th and 11th GENERATIONS

SreeVidya, daughter of Smt. Rajeswari Padmanabhan renders Veena melliflously. She is also a gold Medalist in her Post Graduation in Music. She is wedded to her uncle Chandramouli, the youngest son of Smt. Lakshmi Ammal. Sree Vidya Chandramouli is the Director of running 'DHVANI' a Music School at PORTLAND, USA. She is teaching her two sons Kapila and Sushruta who represent the eleventh generation in this heritage.

Dr. Shanti Mahesh- daughter of the eldest son of Smt. Lakshmi Ammal is 'A' graded artist of the All India Radio since 1992, and holds Ph.D., in Music from the Maharaja Sayaji Rao University, Baroda for Thesis "An Exploration of the Concept of Raga in Karnatak Music". She was employed as Lecturer in the Department of Music at the Mother Teresa Women's University, Kodaikanal from 1999 to 2007, and presently at the Queen Mary's College(Autonomous), Chennai. She was brought back to life from Koma in March 1996. medically, but had her re-birth because of music, perhaps it was the ever ringing tone of Veena that made her a normal person, full-fledged musician again after heavy physical injury. She was not fortunate to teach her- away him (being employed elsewhere, leaving him under the care of her parents) from his age of three. He has learnt to render Mrdangam and has bagged Prizes in places like Rasikaranjana Sabha-Tiruchirapalli(Sub-Junior), Tamil Isai Sangam- Karaikudi(Junior) and Sri Sathguru Sangeetha Samajam-Madurai(Junior). He is presently in the Final Year of Engineering and has determined to take-up music as serious part of his twin-pursuit, Engineering cum music.

Dr. K. S. Srikumar, son of Dr. K. S. Subramanian is a graduate from IIT Madras (B.Tech. ECE '92-'96) and of National University of Singapore (M.Sc. in 1999 and

Ph.D. Representing and Manipulating Musical Rhythm: A Pulse-Form Approach in 2013). He's done advanced work in Javascript with the goal of bringing new technologies in the service of Carnatic music. He's the author of the "steller" library for high precision coordination of interactive audio and visuals using the new HTML5 Web Audio API. Steller has been referenced in MIT Press's "Computer Music Journal" and he can be seen occasionally on the w3c group's public-audio list..He's the author of "cspjs", a macro library for easing client and server-side asynchronous Javascript program-ming. He's the solo creator of "patantara.com", a site for creating, editing and sharing high quality Carnatic music notation on the web. His Paper "The Structure and Logic of Gamakas: A Computer Synthesis Approach" presented on the 26th December 2013 at The Music Academy, Chennai was selected for was selected for the Award of Best Presentation.

Hamsa. K. S., daughter of Dr. K. S. Subramanian, a graduate in Music is a good singer coached in the Parampara and also keyed to music by Lalgudi. G. Jayaraman from her childhood. She has performed both classical and semi-classical singing programmes and now Hamsa Raghuvir, a home-maker settled at Portland teaches Vocal music there.

CONCLUSION

The unceasing, never-ending, perpetual music of a Gharana in Karnatik Music is visible to the universe chiefly through those established in the field. The ever-lasting melody of the Karaikudi Veena Gharana till date has been supplied. There are more children in the Gharana to blossom as musicians and not all the names of those in the family have been given.

Music – The Best Mode to Spirituality

D. Padma

From time immemorial it is the unbounded love of God that inspired man to express himself in poetry, song and dance. He paid homage to the omnipotent through the medium of literature, songs, beautiful paintings and sculptures, all depicting his glory and manifestation. Since the source of inspiration is Divine such literature and works of art continue to have a profound appeal for humanity.

Ritualistic music and dance of the temples occupy a dignified place in the history of a country's music. The role of music, dance and drama in the annual festivals of the temple is precious and testifies to the religious significance of the arts and the status of artists of those times.

There are many paths to reach God. But music is the easiest and the most pleasant path to reach Him. India's repertoire in the realm of sacred music constitutes a world record. Thousands of sacred songs have been composed in Sanskrit and the provincial languages.

In South India alone there are atleast 5000 songs belonging to the realm of sacred music and these are sung in temples. Many forms pertaining to sacred music like Tevaram, Thiruvacakam, Divya Prabandham, Ashtapadhis, Tarangas have been composed.

With the exception of the Vedic hymns the Tevaram constitutes the earliest examples of the music of the ancient period. Just as the vaidihas have preserved faithfully the vedic must of the past, the Oduvars have preserved for us faithfully the music of Tevaram. The Oduvars were employed in temples to recite the Tevaram hymns on the occasion of temple rituals. They attached great importance to the recital of the hymns in the manner in which they were originally composed. Tevaram is the collective name given to the sacred hymns of the great saints Thirugnana Sambandhar, Appar and Sundaramurthi Nayanar.

Greatness of Thevaram hymns

The Tevaram hymns constitute the cream of sacred music in Tamil. They show to us the type of music that was in existence 1200 years ago. The Tevaram stands as the finest and the earliest example of Desi Sangita. Desi Sangita is the name given to the music that naturally developed in the different provinces of India.

The hymns of the Tevaram are the outpourings of the divinely inspired souls. They breathe the fragrance of Bhakthi. It was not that the poem was first conceived and later set to a tune. The Tevaram hymns emerged from mouth of the composer as a song. The story of Thirugnana Sambandhar

Research Scholar, Department of Music, Queen Mary's college, Chennai

providentially getting a pair of golden cymbals from the Lord to keep rhythm to the hymns flowing from out of his mouth conforms this.

The Tevaram hymns proclaim the beauty of the second letter rhyme. Tevaram concerts and Tevara bhajans were regular features of festivals of the Medieval.

The hymns of the Tevaram were composed at a time when the division of songs into the following sections had not emerged

Pallavi: the equivalent of a refrain in Western music

Anupallavi: the second verse

Charana: the final verse

The stanzas of the Tevarams are in couplets or quatrains. The Pans or the ragas of the Tevaram are historically old ragas. Highly ornate languages are noticed in some of the hymns of the Tevaram. Sambandar's hymns abound in them the name of the shrine, in the praise of deity.

The Pan murai method is a musical arrangement and has the effect of ensuring that a hymn in one raga cannot be sung in some other raga. The total number of pans figuring in the Tevaram is 21. According to the gaanakaala or the time of singing they were classified into Pagal pan (i.e.) to be sung during day time and Iravuppan(i.e.) to be sung during night time . Poduppan was the pan that can be sung at all times. The last class of Pans corresponds to the sarva kaalika ragas. Saranga Deva refers to the pans of the Tevaram.

Thirugnana Sambandhar the most prolific author of the Tevaram hymns is the youngest composer in the history of world music. As a boy of three, he sang his first hymn "Thodudaiya seviyan " in the Pan Nattapaadai corresponding to the raga Gambiranaatai for which the notation is given below. Thirunavukkarasar of Appar as popularly known is a contemporary of Thirugnanasambandar. The notation of his song is also given below.

Ragam : Gambeeranaattai

Pan : Nattapaadai

Talam: Roopakam

Composer: Thirugnanasambandar

G , , m – p , p , - , , p m ‖ p , , , - , , , , - p m g s ‖

To..du - dai .ya. - ...sevi ‖ yan.. .....‖

G , , m – p , p , - , p m , ‖ p , , m - p , g m - , g s , ‖

To..du – dai.ya - .sevi. ‖ yan vi - dai ye. - ri yor ‖

N s g m - , , p p - , g m , ‖ p , , , - , , , , - , , , ‖

To venn- .. madi- ,su, ‖ di... - ..... - ..... ‖

P n p m - g m p , - , s n , ‖ s , , g – s , n s - , n p , ‖

Ka.du.. – dai ya - su da‖ lai po – di pu - si yen ‖

P n n s - , n p , - m , , , ‖ g m p n - s n p m - p m g s ‖

Nullam..- .kavar- kal... ‖ van.....‖

The following passage should be sung to the above music notation:

Edudaiya malaraan munai natpanindheta arul seyda

Beedudaiya pira maa purameviya pemmaan nivananre

Aru neriya marai valla muniyagan poygai alarmeya

Peru neriya birama purameviya pemmanivananrannai

Oru neriya manam vaithunar jnanasambandannurai seyda

Thiru neriya thamizh vallavar tholvinai theerdalelidame

Ragam: Kedaara Gowlai

Pan : Gandara panchamam
Talam: Aadhi
Composer: Thirunavukkarasar

...s–ssn,- rsnd- p,p,|,,mp-,d p.|dpmg–r,r,‖
Sor-runai- ve .....-diyan |....so - di....| va..... navan‖

...r-,pmg–rmgr–s,s,|,,r,-m, p,|mpns–ndp,‖
Po- trunai - thirun – dadi |ppo- runda.|kkaith - thozha‖

...p-,,sndp–pns,-r,r,|, ,gr–g rgr|rmgr–s,s,‖
Kar- runai ...-ppoot.- ti. Yor|...kka- da lil |paych - chinum‖

...p-,rs,-rsnd–p,p,|,,ppp-,n m,|p,n,-s,,,‖
Na- rinai- ya.....- vadu ..| nama- si....|vaaya – ve...‖

Poovinuk karumagalam pongu tamarai
Aavinuk karungalam aran anjadudal
Kovinuk karungalam kotta miladu
Naavinuk karungalam namach Chivayave
Maappinai ththazhuviya mador bagathan
Poopinai ththirundadi porunda kkaithozha
Naapinai thazhuviya namach chivaya pathu
Ettha vallar thamakku idukkan illaiye

Western Notes in Karnatik Music

R. Surya Prakash

In Karnatik music, the name "nottuswara" is used to refer to compositions based on Western notes.

Muthuswami Dikshitar (18th century), who was one of the three early composers celebrated as the Trinity of Carnatic music has composed a set of 39 nottuswara or nottu swaras compositions.

Eg. Shakti sahita ganapatim in Tisra Eka Tala, Shyamale minakshi in Chatusra Eka Tala,
Guruguhapada pankajamati in Tisra Eka Tala, Guruguha sarasija in Chatusra Eka Tala etc.,

It is very notable as an interaction between the East and the West during Company rule, being based on Western sources, mostly simple melodies inspired by Scots and Irish tunes. They are all composed with Sanskrit lyrics in the Western C major scale, whose pitch intervals correspond to that of the Shankarabharana raga in Carnatic music, or the Bilaval that of Hindustani music. Technically, the compositions are not in Shankarabharana proper, being based on simple melodies and devoid of the ornamentation (gamaka) that is characteristic of Carnatic music. On the other hand, the lyrics (sahitya) of these compositions are entirely Indian and consistent with the rest of the stotra-literature, or other songs addressed to similar deities.

In the aroma of Karnatik music, the Western note composed by Harikesanallur Muthiah Bhaagavatar, tuned to Shankarabharana raga and set to Adi Tala is very well known to have been sung very initially by the doyen Madurai. Sri. Mani Ayyar and many more artistes from his as well as various traditions is available to the universe- the notation also in web. The available Western notes has reverberating music with svaras alone.

Karaikudi Sri.Subbarama Ayyar and Sri.Sambasiva Iyer were duo belonging to the seventh generation to carry the high unbroken Veena tradition of the lineage from Tirugokarnam and then carried the tradition patronised at Karaikudi. The two brothers played together as "Karaikudi brothers" and enjoyed an unbroken career from their debut in their teens. This is to have in records that western notes composed by them also exist. As gathered from that tradition, below are given in notation. The notes rendered in that tradition also has svaras only.

The initial western note corresponds to Shankarabharana scale the equivalent of which is Bilaval in Hindustani music and Major Diatonic scale in Western music.
Key to the notation supplied below:

Research Scholar, Department of Music, Queen Mary's college, Chennai

S.No	SVARASTHANA	INDICATED AS
1.	SHADJA	S
2.	SHUDDHA RISHABHA	
3.	CHATUSRUI RISHABHA	R
4.	SADHARANA GANDHARA	g
5.	ANTARA GANDHARA	G
6.	SUDDHA MADHYAMA	m
7.	PRATI MADHYAMA	M
8.	KAISIKI NISHADHA	n
9.	KAKALI NISHADHA	N

Svaras with dot above the symbol supplied indicate the Tara Sthayi and dot below, the Mandra sthayi, two dots below Anumandra Sthayi and with no dot denote the madhya sthayi, two dots below indicate Three have been given below and a few more are also known to exist in their tradition.

TALA IN KARNATIK MUSIC

Strokes in tla

The Suladi Saptha Tla system of Karnatik music uses three of six possible angas in different arrangements;

1. Anudhrutam, a single beat, notated 'U', a downward clap of the open hand with the palm facing down.

2. Dhrutam, a pattern of 2 beats, notated 'O', a downward clap with the palm facing down followed by a second downward clap with the palm facing up.

3. Laghu, a pattern with a variable number of beats, 3, 4, 5, 7 or 9, depending on the jati. It is notated 'I' and consists of a downward clap with the palm facing down followed by counting from little finger to thumb and back, depending on the jati. Adi Tala is Chatusra Jati, i.e. the beat in laghu is followed by three finger counts, making 4 units, hence Chatusra Jati.

Gati denotes the tempo in one unit of the Tala. The five Gatis are given below.

S.No	GATI	PULSE IN THE UNIT
1.	TISRA	3
2.	CHATUSRA	4
3.	KHANDA	5
4.	MISRA	7
5.	SANKIRNA	9

i) The first two western correspond to Tisra Gati beats and the third to Tisra Gati Adi Tala. Adi Tala is indicated as

Q% Laghu % Drutam % Drutam Q%

in the notation supplied for the third western note.

ii) "_____" indicates the next higher speed in _____ over four Svaras indicates that the unit is 2 for four svaras- meaning the next higher corresponding speed.

It might be noted that the compositions depict the potential of the instrument Veena to the best. In ancient times, Vocal music was also referred to as Gaatra Veena. Rendering these would definitely make any instrumentalist and singer have total command over the instrument and vocal calibre.

The first string in Karnatik Veena is mainly used. For the gap indicated in the western notes and at many instances, the corresponding sthana in the remaining three strings on the finger board are produced and beat in Tala is given by sounding the three Tala strings on the side bridge of the Karnatik Veena.

The Parampara is attributed to soulful music on the Sarasvati Veena with Gaayaki

Bhaava to the maximum possible extent. Many details regarding the Karnatik Veena and all existing melliflous styles and artists are available to us. Below is supplied the Notation of Three of the Western Notes of the Karaikudi Veena Gharana which were available to me.

1. TISRA GATHI

% S,,SND % D,P,P, % G,,DPm% m,G,G, % S,S,S, % N,G,R, % R,,GmR % SNDPDN % S,S,S, %

% PNRNRN % PSGSGS % PRmRmR % PSGSGS % R,RSRG % S,,Gm %P, G,SD % P,,,GP%

% m,R,N, % S,,SND % D,P,P, % G,,DPm% m,G,G, % S,S,S, % N,G,R, % R,,GmR % SNDPDN % S,P,S, %

%m,,,,, % ,,,,,,, % ,,,,,, % ,,,,,, %

2. TISRA GATHI

%S,S,P, % S,S,P, % S,S,R, % G,,,RG % P,P,G, % P,P,GR % R,GR,P %

%S,S,P, % S,S,P, % S,S,R, % G,,,RG % P,P,G, % P,P,GR % R,G S, %

% Srg,g, % grS,S, % Srg,g, % grS,NS % R,R,RS % N,N,NS % R,R,RS % N,N,P, % S,S,NS % R,R,SR % g,R,N, % S,,,,, %

% GPGPGP % GPGPGP % MDMDMD % MDMDMD % S,,,,, % P,,,P, %

%S,S,P, % S,S,P, % S,S,R, % G,,,RG % P,P,G, % P,P,GR % R,GR,S %

%,,,,,RG % P,P,G, % P,P,GR % R,GR,S %

%,,,,,RG % P,P,G, % P,P,GR % R,GR,S %

%,,,,,RG % P,P,G, % P,P,GR % R,G,S,%

% P,,,G, % ,,P,,, % S,,,,, %

3. TISRA GATI ADI TALA

The note starts in the last beat of Adi Tala which may be eqated to Athita Eduppu. Each Unit of the Tala is denoted as having the pulse of 6.

Q%,,,,,,, ,,,,,,, ,,,,,,, ,,,,,,, % ,,,,,,, ,,,,,,, % ,,,,,, G,P,,S Q%

Q% n,,,,,, ,,,,,,, ,,,,,,, ,,,,d, %n,,,,G m,,,,d %n,,G,, G,P,S Q%

Q% n,,,,,, ,,,,,,, ,,,,,,, ,,,,,,, % ,,,,,,, ,,,,,,, % ,,,,,, ,,,,,,, Q%

Q% PGPSGP SGPSGSP GPDGPD GPDGPD % GPGP,,S n,,,,,, % ,,,,,, ,,,,,, Q%

Q% G,,G,, R,Gm,G, R,SR,S N,SND, % P,,,, M,D,D, % P,,,,, M,D,D, Q%

Q% P,,,,, M,D,D, P,,,,, P,S,N, % D,,,,, P,S,N, % D,,,,, D,NS,N Q%

Q% S,,,RR M,D,P, mgR,G, M,P,DN % S,ND PmGR S,,,,, % ,,,,,, ,,,,,, Q%

Q% S,,m,P D,,,,, S,,S,, n,D,P, % P,,M,P D,,n,, % DnDPDP m,,,,, Q%

Q% S,,m,P D,,,,, S,,S,, n,D,P, % R,,R,, P,DS,D % m,,DP m,,DP Q%

Q% m,,,,, ,,,,,, S,,S,, N,S,R, % S,,,,, ,,,,,, % n,,,,, ,,,,,, Q%

Q% D,,,,, P,DS,,, n,,,,, D,,,,, % Pdn,n, n,SNDP %MGRSSS % G,P,,S Q%

Q% n,,,,, ,,,,,, ,,,,,, ,,,,,, % m,,,,, n,,,,, % m,,,,, ,,,,,, Q%

Note:

P,,,, is sounded on the Veena as P,RPS, or any possible melodic musically mesmerising possibilities are rendered on Veena if the above Gharana is observed.

Bibliography

1. Nottuswara - Wikipedia, the free encyclopedia
2. Dikshitar: Western Notes- www.medieval.org/music/world/carnatic/lyrics/nottu.html
3. www.carnatica.net/cgi-bin rasikaforum

Role of Multimedia Technology in Teaching of Music

Anshumati
Prof.Gurpreet Kaur

Introduction

In the recent times, many advances have been made in the realm of science and technology. A revolutionary change has occurred in many professional and industrial areas due to the new and fast evolving technology. Education is also one such area which is growing very fast in adapting new technology and trends. This tremendous technology advancement all around us has greatly influenced the process of teaching and learning. A large number of teaching aids have been adopted in educational institutions. However, in the field of music, one notices that hardly any such aid is used.

Music Education

In ancient times, music education and training was sincerely imparted through the teacher taught tradition (Guru Shishya prampara). Since the beginning, we have the evidence of traditional "Seena –ba Seena" teaching method or "Ghrana" System. Later with the efforts of Pt. Vishnu Digambar Paluskar and Pt. Vishnu Narayan Bhatkhande, collective class-room teaching in music was introduced. This method got tremendous popularity as music came out of the clutches of Ghranedars Ustads, who were reluctant to teach this art to a common man and became accessible to all.

This has been a very significant achievement of teaching and learning method during pre independence era, still continuing in the Post-Independence period. Due to the advances in science and development of new teaching methods, a new teaching technique has entered the world of education which is now a day's commonly kwon as multimedia technique. This is becoming very popular and is highly effective as a teaching tool.

Relevance of Multimedia

Usually we take the media word when we talk about newspapers, magazines, radio, TV, audio-video programmes, computers etc. There are many prefixes which are commonly used with the word media such as Multimedia, Electronic media, Interactive media etc. But the most common word which is used in education is multimedia. Multimedia is a combination of text, audio, video, graphics, and animations into a single medium.

This technology comprises of different types of interactional forms such as print, radio, television, animation, photographs etc.

*PhD Research Fellow, Guru Nanak Dev University,Amritsar
**Dean faculty of visual and performing arts Guru Nanak Dev University,Amritsar

Integration of different media multiplies the impact of a message.

Multimedia is media and content that uses a combination of different content forms. The term can be used as a noun (a medium with multiple content forms) or as an adjective describing a medium as having multiple content forms. The term is used in contrast to media, which only use traditional forms of printed or hand-produced material. Multimedia includes a combination of text, audio, still images, animation, video, and interactivity content forms.

Multimedia is the exciting combination of computer hardware and software that allows you to integrate video, animation, audio, graphics and test resources to develop effective presentations on an affordable desktop computer.

Multimedia is extensively used for education and training in schools, business, and the home multimedia education allows you to proceed at your own pace. It brings presentation alive with sounds, movies, animations, and interactivity.Multimedia tools have following benefits:

- Provide students with opportunities to represent and express their prior knowledge.
- Allow students to function as designers, using tools for analyzing the world, accessing and interpreting information, organizing their personal knowledge, and representing what they know to others.
- Multimedia applications engage students and provide valuable learning opportunities.
- Empower students to create and design rather than "absorbing representations created by others.
- Create personally meaningful learning opportunities.

Scientific research shows that the process of remembering done in the human brain is faster when people receive many impressions in various forms in a short period of time. The concepts of interactivity in multimedia help the human brain to improve the process of learning. In addition, different approaches of multimedia make lessons very entertaining besides giving information more effectively and faster.

Development of Multimedia

There are various steps while creating a multimedia package. As we mention earlier that multimedia is comprises of different media like text, audio, animation and video. To create a perfect and attractive multimedia the basics of developing multimedia should be known to a creator.

- Text in Multimedia

Text is the most common medium of presenting information. It is also used to communicate a concept and idea. It should effectively complement the other media. Factors that influence the textual communication are typeface, font and style, kerning, ant aliasing, animation, special effects, special characters and hypertext. While dealing with text in multimedia it is very important to note that, it is not only means of communication. In multimedia, text is most often used for title, headlines, menus, navigation and content. Overcrowding of the text on a single page should be avoided. It is recommended that text should be presented in combination with graphics. Some important concepts in text are discussed in details below:

- Audio in Multimedia

Audio is another vital medium in a multimedia presentation. Audio is available in different file formats and the appropriate file format is chosen to its performance. Sound editors play an important role for converting file formats and also for enhancing the quality of sound. In most

cases sound files are imported and edited for a multimedia application. Some important sound file formats are WAV, AIFF, AU, MP3, QT, SWA etc.The choice of the right format to use depends upon the file size, the nature of application and the operating system.

- Video in Multimedia

Video in multimedia is an extremely useful communication tool for presentation. It illustrates ideas and concepts besides capturing real world events. Video files occupy enormous space and so there are two choices to recommend:

- Use very short video clips (not exceeding a minute or two)
- Use highly compressed video files like MPEG or AVI files that can be transformed to MPEG files.Some important video file formats are AVI,MOV, MOOV, and QT,MPEG, MPG: MPGE .Colour Depth in digital video set at 24-bit are recommended for windows.

- Graphics in Multimedia

Graphics is the most commonly used element of multimedia. The richness of multimedia and the effective communication are through graphic presentation. The attributes of color, texture, pattern and animation enrich a multimedia presentation. Some important Graphic formats are GIF,JPEG,PNG

- Animation in Multimedia

A very popular and a chief element of multimedia is animation. Animation is designed as a simulation of movement created by displaying a series of pictures or frames. Animation strictly is a visual illusion. It builds dynamism, energy and motion to inanimate objects. It also adds the dimension of time to graphics. Computer animation is relevant to multimedia as all the presentations are developed on the computer. The file formats for animation depends on the nature of software used. Based on this, one can have .dir (for Director), .fla (for flash), .max (for 3D Studio max), .dcr (for shockwave animation file), etc.

Utility of Multimedia

Various researches have been done in this field. "The use of multimedia technology has offered an alternative way of delivering instruction. Interactive multimedia learning is a process, rather than a technology, that places new learning potential into the hands of users.

The 10 main advantages of multimedia are as under:

- **Fast** — learning speed accelerates.
- **Cheap** — the program never asks for a raise; the more you use it, the less it costs per use.
- **Consistent** — no mood swings, yawns, or lapses.
- **Private** — ask what you want; no one will laugh, no one will scold.
- **Safe** — experience nuclear meltdowns without fallout; experience drunk driving accidents or electrocution without blackouts or death.
- **Personal** — it never tires of praising and motivating through positive feedback, any time, day or night.
- **A strong foundation** — on which to build mastery.
- **A tool to make remembering longer, easier** — many parts of the brain are stimulated.
- **More information faster** — on things a school couldn't afford to teach: like space-shuttle repair, brain surgery, black hole sailing.
- **Fun** —like a game: yes, like Nintendo, which, with a joystick

and a screen, has already captured the brains and fingers of an entire generation.

Multimedia in Music Education

Music education has two parts, theory and practical. Though music is predominantly a practical subject, still the theory aspect cannot be underestimated in schools and colleges. Theory is usually taught by lecture method, which is not a very interesting and effective method of theory teaching. Fortunately, due to the advances in information technology, more effective techniques of teaching various subjects and contents are available to the teachers. Techniques like programmed learning, Team Teaching and Multimedia Packages are available which are very effective and potent in delivering the goods.Multimedia Self-learning Packages have been developed in many contents areas and have been found to be very effective in helping the students learn the content at their own pace. Such packages are badly needed in teaching of Music so that on the one hand the pressure on the music teachers is reduced and on the other, the students of Music are able to learn various concepts of theory of music at their own pace.

Conclusion

Multimedia technology has now became increasingly popular in the field of education. Interactive multimedia courseware in particular, developed on a CD is adding a new and interesting dimension to both teaching and learning. This new approach can effectively complement the conventional methods of teaching and learning. The multi-sensory input of this media provides possibilities for higher performance rating and higher retention. With effective feedback, this method makes teaching and learning more effective. Students with different learning abilities can work at their own place, time and pace and with interactive and self –assessment, it can make learning a highly personalized, independent and a rewarding experience.

References

- Indrani Chakarvarti, Music Its Methods and Techniques of teaching in higher education, 1994, Mittal Publications, New Delhi.
- V. Prem Kumari, Experiments in music teaching, 1995, Radha Publications, New Delhi. Page no.
- Dr. Lovely Sharma, Exploration in Indian Music – an overview.
- Dr. Manorama Sharma, Music Education: New Horizons,1995 Nirmal Publications, Delhi·
  Dr. Paramjeet, Factors Affecting Music Learning and Achievement at college level, 1997, Nirmal Publications, Delhi.
- Dr. (Mrs.) Manjushree Chaudhury, Indian Music in professional and academic institutions, 1999, Sanjay Prakashan, Delhi.
- PC World magazine (October 1993) "Ten Reasons to Use Multimedia in Education.
- Prof. R. C. Mehta, Music Education and other essays, 2008, Sanjay Prakashan, Delhi.
- Luann K. Stemler, Journal of Educational Multimedia and Hypermedia Volume 6 Issue 3-4, 1997
- A Survey of the Application of multimedia in the process of teaching and learning in Kuittho, Malaysia page-56
- Information Technology, Dennis P. Curtin, Kim Foley, Kunal Sen, Cathleen Morin
- Fmrich, 1997, practical guidelines for creating instructional multimedia applications
- Villamil, John. and Louis Molina, Casanova.1998. Multimedia (an Introduction), Prentice Hall of India Private Limited .
- Ivers, Kerens. and Barron, Anne. Multimedia Projects in Education (Designing, Producing and Assessing) Second edition. Library of Congress Cataloging In Publication Data.
- Cheng, Iren. and Vient Safant, Uuis. 2010. Multimedia In Education Adapting Learning and Testing. World Scientific Publishing.
- Koumi, Jack. 2006. Designing Video and Multimedia For Open and Flexible Learning. Routledge Taylor and Francis Group,
- Garrett, H. E.: Statistics in psychology and education. India: Vakil, Feffer and Simson Pvt. LTD., 1966.
- Dennis P.Curtin, 1999, Information Technology

A Passionate Percussion Teacher

B. Guru Raghavendran

Music in our country is never regarded as just a pastime for the listener and a mere business to the musician himself. It is primarily regarded as the medium to connect to the Divine. India has witnessed great Sages like Kabir, Meera, Purandara Dasa, Annamacharya and Thyagaraja attaining Spirituality through their Divine Music. Purandara Dasa is hailed as the 'Sangita Pitamaha' of Karnatik Music, as he gave to the world the very basic lessons of Karnatic Music – the *Sarali Varisai, Janta, Alankara* and *Geetham*. He was also a task master when it came to teaching. Sri Thyagaraja and Sri Muthuswami Dikshithar were also the supreme teachers of Karnatik Music and their lineage (Sishya Parampara) is amongst the foremost of South India. The disciples learnt the art of music from such exalted *Gurus* through *Gurukula (Gurukul)* system. It is because of the contribution of such Gurus and Sishyas that the Art of Music is alive today sustaining its rich cultural and spiritual heritage.

Similarly the art of percussion teaching is also praiseworthy and believed to have been bestowed to the world by the Heavenly Gods. It is believed that *Lord Mahavishnu* is the first player and teacher of Percussion Instrument – the *Mridangam*. He gave the Mridangam to Sage *Narada* who in turn gave it to *Nandi*. Nandi gave it to *Indra* who gave it to *Banasura*. Nandi, the celestial drummer to Lord Shiva's cosmic dance, brought the Mridangam to the Earth. The Solfa (Bol / sollu) lessons eg. Tha, Thi, Thom, Num, Jum, Kina etc., are said to have been originated from *Lord Shiva* himself. It is clearly understandable that the art of percussion teaching is divinely nurtured and given to the humans. The Earth has seen many legendary practitioners and illustrious teachers of Rhythm so far. Glorious teachers of percussion of Karnatik Music include Manpoondia Pillai, Pudukkottai Dakshinamurthy Pillai, Thanjavur Vaidyanatha Iyer, Thinniyam Venkatarama Iyer, Kumbakonam Rajappa Iyer, Harihara Sharma, Trichy Sri Tayumanavan, Guru Kaaraikkudi Mani and many others.

It is worth mentioning that many maestros of rhythm chose teaching as their prime duty though they are wonderful performers. One such maestro who took to teaching percussive instruments like Mridangam and Kanjira with total dedication and commitment is SRIMUSHNAM K. RANGARAJAN.

An unassuming and affable Krishnamurthy Rangarajan was born in a music family as a second son to Palayamkottai Sri.Krishnamurthy Rao and Smt.Tulasi Bai in 1959. When he was at

Research Scholar, Department of Music, Queen Mary's college, Chennai

the age of 16, Rangarajan was introduced to the world of rhythm by his paternal uncle Palayamkottai. Venkataramana Rao, an eminent Harikatha and Mridangam Vidwan. Later he continued his Mridangam lessons for a brief period from notable Mridangam Vidwans like Trichy S.Radhakrishnan, Kaanadukathan Ramamurthy, Embar Lakshminarasimhan. His association with maestros such as Srimushnam Sri Rajarao and Sri B. Harikumar led him to hone is Mridangam skills to a highest degree. He is very proficient in forming Solkattu (solfa or bol) and creating rhythmic compositions like Korvai, Kuraippu, etc. and also equally adept in teaching them to the aspirants as well.

Upholding strong religious and traditional values, Rangarajan is now living a simple family life in Srirangam, the renowned temple town of the Lord Ranganathaswamy, teaching several students both Mridangam and Kanjira. Also as a performer, he has accompanied on Mridangam and Kanjira many senior and upcoming musicians across South India. His is a melodious and soft approach with sweet tone for accompanying songs and instrumental music. His Solo performances in popular *Talas* for the Radio were very well received by the listeners. Appreciation came from musicians as well regarding the rhythmic patterns that he had adopted for the solos. His rhythmic excellence exhibiting the galaxy of melody is being featured in many programmes of the All India Radio, Tiruchirapalli, Tamilnadu, for more than two decades. He is the glittering maestro portraying the proverbs:-

"The mathematics of rhythm are universal. They don't belong to any particular culture."

– John McLaughlin

"Rhythm is a Universal Language- Everyone has it, everyone speaks it. We can see it, feel it, and hear it. We can even read and write about it." - John Scalici

Passionate Teacher

"Teaching is a noble profession", acknowledges Rangarajan who took to teaching Rhythm since 1980. Dedication and commitment to teaching are the hallmark qualities in him, as observed by many of his disciples and other musicians. Groomed in the Mridangam playing style of "Thinniyam Venkatarama Iyer", Rangarajan always teaches the rhythmic lessons with appropriate theoretical explanations that make the students grasp the technicalities properly. For example, while teaching a "Sollu" (solfa or bol), he would insist on playing it in 6 speeds like Ati Vilamba, Vilamba (Vilambit/slow), Madhyama (Madhya/medium) and Dhurita (Dhrut/fast) in addition to two speeds in Thisra Gatis (Madhya & Dhrut) to get good control over the tempo. He would first demonstrate by himself the Solfa passages (sollukattus) with Tala and then would make the *Vidyarthi* (student) repeat it. He would repeat the same for several times till the student gets it right. Finally he would teach the proper way to play the solfas in mridangam or kanjira. He is an affable teacher with good attitude towards teaching

and can make the students learn with clear understanding of the rhythmic concept.

For teaching the rhythm lessons for accompanying songs, he follows a successful method – by initially teaching the *Nadais* (Gathi) such as "Dhin Nadhim Dhinaka – Dhim Dhim Nadhim Dhinaka", "Nam tha thadhim, Nam tha thadhim" alongwith other suitable solkattus and then teaching them the *Aruthis* (Tihais/endings) like "Tha,dhi,thakajanu dhin,- Tha,dhi,thakajanu dhin, - Tha,dhi,thakajanu dhin". Finally he will teach the student to combine these aspects and play for songs. He would play and show them several rhythmic patterns as well.

His dedication to teach the art is worth emulating. Undaunted by family responsibilities and other issues, he would even travel by bicycle for long distances to reach the student and teach him devotedly and at times spending long hours with the deserving ones. Five of his noteworthy disciples, whom he has successfully trained and performed "Arangetrams" (Concert Debut) are Musiri. V. Mohan (an A-graded artist of All India Radio, Coimbatore), Agasthiar Girish, Gurusubramanya Sharma, Trichy Karthik and Yuvaraj, are all consistent performers in the Karnatik arena. In recognition of his contribution towards Music and its Education, he was bestowed with the title of "Asthana Vidwan of Kanchi Kamakoti Peetam" by the *Kanchi Sankaracharya Swamiji* a few years ago. Recently he was honoured by the Sadguru Sangeetha Sabha, Srirangam, Trichirapalli with a Cash Award.

Rangarajan has composed more than 500 korvais in different talas with excellent imagination and apt Sollukattus. They are known for their aesthetic beauty and technical purity. One of them is as under:

A 32-beat Adi Tala Korvai (128 aksharas or syllables)

/Tha,dhi,kinathom tha,,,ki,,,ta/,,, - Thaka tha,dhi,kinathom tha,,,// / ki,,,ta,,, Thakathiku tha,dhi, / kinathom tha,,,ki,,,ta,,, Tha//- /,dhi,kinathom-tha,dhi,kinathom-tha,dhi/,kinathom, - tha,dhi,kinathom-tha,dhi,//- /kinathom-tha,dhi,kinathom, - tha,dhi,ki/ nathom-tha,dhi,kinathom-tha,dhi,kinathom//

Calculation: Purva or Part-1 :- Tha,dhi,kinathom tha,,,ki,,,ta,,, ➔ 7+12 = 19

Thaka Tha,dhi,kinathom tha,,,ki,,,ta,,, ➔ 2+7+12 = 21

Thakathiku Tha,dhi,kinathom tha,,,ki,,,ta,,, ➔ 4+7+12 = 23

Purva's Total ➔ 19+21+23 = 63

Uthra or Part-2 :- Tha,dhi,kinathom - tha,dhi,kinathom - tha,dhi,kinathom, ➔ 7+7+7+1 = 22 which is followed by 22 and 21 only.

Uthra's total ➔ 22+22+21 = 65. Total aksharas or syllables of the Korvai ➔ 63+65 = 128 (Adi tala 32 beats).

Srirangam K. Rangarajan energetically continues to teach many aspiring students in and around Tiruchirapalli now. His melodic excellence is reachable on contacting him in 09940743472. It is by the services of such distinguished Teachers that the art of playing percussion instruments has scaled greater heights in our country. It is essential for all in the musical aroma to recognize, honour his musical genius.

Hindustani Classical Music: As A Spiritual Sadhana

Dr. Pushpam Narain

The North Indian style of Indian classical music is known as Hindustani music. Originating in the Vedic period, it is a tradition that has been evolving from the 12th century AD, in what are now northern India, Bangladesh, and Pakistan, and also Nepal and Afghanistan. It is one of the two kinds of Indian classical music, the other being Carnatic music, which represents the music of South India.

One of the unique characteristics of Hindustani music is the assignment of definite times of the day and night for performing and listening to raga (melody). It is believed that only in this period the raga appears to be at the height of its melodic beauty and majestic splendor. There are ragas and raginies which can be distinguished as root-ragas and their derivatives. Raginies are considered to be minor and graceful and abbreviated forms of ragas reflecting the character of the ragas (Sharma, 2000). The ragas and raginies derived their names from seasons, religion cults, flowers, birds, geographical area, and name of musicians and particular times of the day when they are supposed to be sung. Although the total number of ragas in Hindustani classical music was as large as 300, several of them have been lost over the centuries, About 100 ragas are known and performed these days. Some of the popular ragas are Asavari, Bharivi, Bahar, Darbari, Desh, Jai-jaiwanti, Malhar, Piloo, Todi, Yaman, etc, Raga is the sequence of selected swaras (notes) that lend appropriate mood or emotion, Depending on their nature, a rage could induce or intensify joy or sorrow, violence, or peace and it is this quality which forms the basis for musical application. Thus, a whole range of emotions and their nuances could be captured and communicated within certain rhythms and melodies. Plying, performing, and even listening to appropriate ragas can work as a medicine (Bagchi, 2003). Various ragas have since been recognized to have a definite impact on certain ailments.

Each of the shuddha (pure) swaras (viz., Sa, Re, Ga, Ma, Pa, Dha, and Ni) is associated with one of the seven chakras1 of the body. The chakras regulate the flow of vital energies into and from the body and are exercised to facilitate health, happiness, and spiritual growth. These seven chakras are: Root Chakra, Spleen Chakra, Solar Plexus Chakra, Heart Chakra, Throat Chakra, Third Eye Chakra, and Crown Chakra. The seven basic swaras of the musical octave have a one-to-one correspondence with these chakras (Seaward,2011). Just as the swaras ascend through the saptak (seven chakras), so they the mapped onto the chakras in the body in ascending order. Komal (soft) notes are associated with the left side of each chakra; the left channel, Ida Nadi, is the side of emotion and intuition. Shuddha and tivra

Head, Univ. Deptt. of Music & Dramatics, L.N.M.U.,Darbhanga

(fast) notes are associated with the right side; the right channel, Pin gala Nadi, is the side of logic. Ragas, therefore, have more or less of an effect on a given chakra depending on the notes they contain.

Music is more than entertainment; it is also blissful spiritual sadhana or practice. Guru Nanak and other spiritual gurus and seekers have expressed their devotion to God through singing songs, often to the accompaniment of musical instruments.

Music performed in places of worship, and in private or public gatherings any where could be very different in content and style. However, an accomplished musician is one who loses himself in the music, becoming one with the music. This kind of self-negation or absence of ego is believed to be the mark of the truly evolved musician for whom there is no difference between the inspiration and the music.

Good music uplifts; it is a kind of spiritual sadhana. Delving deep within, the evolved musician transports listeners to another realm, and the experience is like that of transforming prayer. Music is then an offering, a thanksgiving.

Through the ages, music has served as one of the portals of spiritual enlightenment. Joseph Addison Sail: "Music, the greatest good that mortals know, and all of heaven we have here below". According to eastern spiritual traditions, the soul separated from the supreme beloved pines for a reunion. The soul's agony has often been expressed in spontaneous poetry set to music. The original composers as well as devout seekers who sang those compositions lost themselves in they rhythmic expressions of love and devotion.

It was not only sufi 'dervishes' who danced to the rhythm of music, but also saints like Chaitanya Mahaprabhu, Sur Das and Mira Bia who sang their hearts out to win the beloved's love. At dargah like Ajmer Sharif, devout qawalls soulfully seek benediction of the Gharib Nawaz. It is often through music that a saint relates his mystical experience. It is difficult to imagine expression of devotion at hallowed places like the Golden Temple without the timeless aid of music, the universal language.

The musician Tansen, one of the navratans or nine jewels in Mughal emperor Akbar's court, was so talented and popular that there are several legends and fables about his music. When he sang the Deepak raga, earthen lamps would begin to glow with light.

Akbar one day expressed a desire to meet Tansen's gure and hear him sing. Tansen said to Akbar. "My guru, Swami Haridas, will not come to your court. He is not employed by you like I am. He lives in a hut in the jungle. He sings only when he feels like; so no one can command him to sing."

"If he will not come, we will go to meet him," said Akbar.

When Akbar and Tansen reached Swami Haridas's home, they found him sitting outside, silent, with his musical instruments beside him. Tansen requested Akabar to wait while he himself started singing. After a while, he deliberately made a mistake, at which Swami Haridas said benignly, "Don't sing like this, Tansen." Then Swami Haridas began to sing, casting a magic spell all around. Akbar was in a trance, transported to a state of spiritual bliss, broken only by the cessation of the melody. The emperor left for his palace but the song haunted him throughout the journey.

Akbar asked Tanseen: "Why don't you sing as well as Haridas does?" Tansen folded him hands and said, "Your Lordship! Between Guru Haridas and me there is a vast difference. I sing for my king while he sings for the lord of the universe. He is a musician of a much higher court." On hearing this profound truth, Akbar fell silent.